सामयिक चर्चा - 2

भारतीय गणतंत्र में हिन्दी

दशा और दिशा

नेहरू स्मारक संग्रहालय तथा पुस्तकालय
2000

P152v2'P00
152P0

© नेहरू स्मारक संग्रहालय एवं पुस्तकालय, 2000

प्रथम संस्करण : 2000

नेहरू स्मारक संग्रहालय एवं पुस्तकालय
तीन मूर्ति भवन
नई दिल्ली - 110011

491.430954
152Po

ISBN : 81-87614-01-3

सर्वाधिकार सुरक्षित। इस प्रकाशन के किसी भी अंश का प्रतिलिपिकरण, ऐसे यंत्र में भंडारण जिससे इसे पुनः प्राप्त किया जा सकता हो या स्थानान्तरण, किसी भी रूप में या किसी भी विधि से – इलेक्ट्रॉनिक, यांत्रिक, फोटो-प्रतिलिपी, रिकॉर्डिंग या किसी और ढंग से – प्रकाशक की पूर्व अनुमति के बिना नहीं किया जा सकता।

मूल्य : 350 रुपये

भारत में मुद्रित
प्रोडक्शनः न्यूज़रे, ई-38, साउथ सिटी, गुड़गाँव-122001

विषय-सूची

प्राक्कथन

1. भारतीय गणतंत्र में हिन्दी आन्दोलन — 1
   विश्वनाथ त्रिपाठी

2. हिन्दी का भूमंडलीकरण — 9
   विमलेश कांति वर्मा

3. हिन्दी में विज्ञान लेखनः दशा और दिशा — 17
   गुणाकर मुले

4. कार्यालयों में हिन्दी — 35
   महेश चन्द्र गुप्त

5. लोक सेवा परीक्षाओं में हिन्दी — 49
   बलदेव वंशी

6. हिन्दी साहित्यः दशा और दिशा — 65
   गिरधर राठी

7. प्रदर्शनकारी कलाओं में हिन्दी — 77
   नेमिचन्द्र जैन

8. विश्व हिन्दी सम्मेलनों ने हिन्दी को क्या दिया — 91
   विष्णु खरे

9. हिन्दीतर भाषियों में हिन्दी — 105
   र. शौरिराजन

10. मीडिया में हिन्दीः मार्केट, मीडिया और मध्यवर्ग की हिन्दी — 121
    सुधीश पचौरी

11. प्रकाशन के क्षेत्र में हिन्दी — 135
    पंकज बिष्ट

12. गणतंत्र में राजभाषा की स्थिति 145
रामविलास शर्मा

13. परिचर्चा 151

14. परिशिष्ट 235

प्राक्कथन

हिन्दी हमारे देश में सबसे ज्यादा लोगों द्वारा बोली जानेवाली भाषा है। जनसंचार के टेलीविजन जैसे आज के-से विकसित साधन के न होते हुए भी, आज़ादी की लड़ाई के दौर से ही हिन्दी को आम जनता तक पहुँचने का सबसे प्रभावशाली माध्यम माना गया और केशवचंद्र सेन से लेकर गांधीजी व चक्रवर्ती राजगोपालाचारी जैसे अहिन्दीभाषी नेताओं ने उसकी वकालत की। जहाँ तक आम जनता तक अपनी बात पहुँचाने का सवाल है, कमोबेश आज भी हिन्दी की उस स्थिति में कोई विशेष अंतर नहीं आया है। पर मात्र इसलिए कि किसी भाषा को बोलनेवाले लोग बड़ी संख्या में हैं, वह भाषा आधुनिक, या दूसरे अर्थों में कहें तो प्रासंगिक और उपयोगी नहीं हो जाती। किसी भाषा की जीवंतता और सार्थकता अंततः इस बात में है कि उसमें आधुनिक ज्ञान को समेटने तथा अपने को भपावह गति से हो रही विज्ञान और तकनीक की प्रगति के अनुकूल बनाने और साथ ही उत्कृष्ट साहित्य की रचना की कितनी क्षमता है। हिन्दी को राजभाषा बने 50 वर्ष होने को आए पर सवाल यह है कि एक आधुनिक भाषा के रूप में आज वह कहाँ है? सरकारी प्रश्रय और समर्थन के बावजूद हिन्दी अगर पिछड़ रही है तो क्यों? आखिर कमी कहाँ रही? सरकारी औपचारिकता में या वृहत्तर हिन्दी समाज की तटस्थता में? इसी से जुड़ा यह सवाल है कि खुद हिन्दी समाज अपनी भाषा के प्रति कितना प्रतिबद्ध है? भूमंडलीकरण के इस दौर में जब कि विश्व की अधिकतर संस्कृतियां और भाषाएं पश्चिमी सभ्यता और अंग्रेजी के दबाव में है, प्रश्न है कि अपनी भाषा और संस्कृति को बचाने के लिए किस प्रकार के प्रयत्न किए जाने चाहिए?

इन प्रश्नों के संदर्भ में नेहरू स्मारक संग्रहालय और पुस्तकालय ने 16-17 नवम्बर, 1999, नई दिल्ली में पहली बार हिन्दी पर एक दो-दिवसीय गोष्ठी का आयोजन किया, जिसमें विभिन्न क्षेत्रों में हिन्दी की स्थिति पर चर्चा की गई। हमें प्रसन्नता है कि इस गोष्ठी में हिन्दी के जानेमाने विद्वानों और लेखकों ने भाग लिया। गोष्ठी के दौरान पढ़े गये आलेखों और उन पर हुई चर्चा का यह संकलन हमें आशा है इस महान भाषा के महत्त्व को एक बार फिर से रेखांकित करने में ही नहीं बल्कि एक भाषा के रूप में हिन्दी के सामने जो चुनौतियां हैं, उन्हें भी

समझने-समझाने में सहायक सिद्ध होगा। मैं विशेषकर श्री पंकज बिष्ट का आभारी हूँ जिन्होंने अपना बहुमूल्य समय लगाकर पूरी पाण्डुलिपि को पढ़कर उसका संशोधन किया।

सितम्बर 2000 ओम प्रकाश केजरीवाल

भारतीय गणतंत्र में हिन्दी आन्दोलन

विश्वनाथ त्रिपाठी*

1965 ई. में प्रधानमंत्री, लालबहादुर शास्त्री थे। अफवाह फैल गई थी कि अब पन्द्रह वर्ष की अवधि समाप्त हो गई है। अंग्रेज़ी की सखी राजभाषा वाली स्थिति समाप्त कर दी जाएगी। दिल्ली हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने इस अवसर पर शानदार आयोजन किया था। राजभाषा वाले प्रसंग में ही किसी सभा में प्रो. सुकुमार सेन ने कलकत्ता विश्वविद्यालय के तत्कालीन हिन्दी विभागाध्यक्ष को अपने पास बुलाते हुए कहा – आशुन राजपुत्र!

आप जानते हैं कि अंग्रेज़ी की सखीभाषा वाली स्थिति समाप्त नहीं हुई। व्यवहार में अंग्रेज़ी ही भारतीय गणतंत्र की राजभाषा है। राजभाषा शब्द-संयोग का प्रयोग सरकारी कामकाज की भाषा के लिए होता है। किन्तु यह शब्द-संयोग अनर्थक भी है। अनेक हिन्दी विरोधियों ने कहा – जब राजभाषा है तब अन्य भाषायें प्रजा-भाषा होंगी।

एक अनर्थक भ्रम और पाला-पोसा गया, शायद अतिरिक्त उत्साह या अनजाने में कि हिन्दी को अंग्रेज़ी की जगह लेनी है। आशय यह रहा होगा कि अंग्रेज़ी केंद्रीय सरकार की राजकाज की भाषा के रूप में समाप्त कर दी जाएगी और उसकी जगह हिन्दी आ जाएगी। लेकिन अंग्रेज़ी साम्राज्यवादी सत्ता द्वारा केंद्रीय सरकारी भाषा के रूप में थोपी गई थी। हिन्दी को लोकतांत्रिक प्रक्रिया से उस रूप में आना है – यह अन्तर इस बात से छिप जाता है कि अंग्रेज़ी की जगह हिन्दी को लेनी है। अंग्रेज़ी सभी भारतीय भाषाओं को दबाकर आसीन है। उसने भारत में ही भारतीय भाषाओं को अधिकारहीन बना रखा है। हिन्दी को अंग्रेज़ी नहीं

---

* आलोचक और कवि

बनना है और यदि हिन्दी अंग्रेज़ी बनने का आग्रह करती है तो प्रत्येक भारतवासी का कर्तव्य है कि वह हिन्दी का विरोध करे। हिन्दी को अंग्रेज़ी की जगह लेनी है – यह उक्ति भयंकर स्वतोव्याघात से ग्रस्त है।

हिन्दी भाषा-आन्दोलन के सन्दर्भ में स्वाधीनता-आन्दोलन के वातावरण का याद आना स्वाभाविक है। हिन्दी को भारत की एकता का प्रतीक भक्ति आन्दोलन और स्वाधीनता आन्दोलन ने बनाया है। स्वाधीनता-आन्दोलन के दौरान अपनी अस्मिता के संकट का जो अनुभव हुआ उसने देश को जोड़ने वाली भाषा के रूप में हिन्दी की पहचान बनाई थी। हिन्दी की यह भूमिका इतिहास ने विशेषतः भक्ति-आन्दोलन और व्यापारिक पूंजीवाद ने बनाई थी – स्वाधीनता आन्दोलन ने सिर्फ उसे पहचाना था, जैसे देश को, जाति को, राष्ट्र को, उसी तरह भाषा को भी।

'हम कौन थे, क्या हो गए और क्या होंगे अभी' में – हिन्दी की पहचान की खोज भी थी। हिन्दी साहित्य सम्मेलन से प्रकाशित होने वाली दैनंदिनी में जो उक्तियां पृष्ठों के ऊपर तीज-त्यौहारों के साथ दी जाती हैं, उन्हें देखने से यह बात स्पष्ट हो जाती है।

जैसे कांग्रेस बहुत दिनों तक संस्था और मंच दोनों थी, वैसे हिन्दी भी। कांग्रेसी समाजवादी, नर्म, गर्म, दक्षिण-पंथी और वामपंथी सभी विचारों के लोग थे, वैसे हिन्दी आन्दोलन में भी – दयानन्द, गांधी, तिलक, मदन मोहन मालवीय, सुभाष, राजगोपालाचारी, सावरकर, गोलवलकर और नम्बूदरीपाद – सब हिन्दी प्रेमी थे। स्वातंत्र्योत्तर भारत में यह स्थिति नहीं रही। क्यों नहीं रही इस पर थोड़ी देर बाद विचार करेंगे।

जवाहरलाल नेहरू, गांधी जैसे अंग्रेज़ी विरोधी नहीं थे, न बालकृष्ण शर्मा नवीन जैसे हिन्दी प्रेमी। लेकिन वे शपथ हिन्दी में लेते थे, विदेश में भारतीय नागरिकों को हिन्दी (अपनी हिन्दी) में सम्बोधित करते थे और समाजवादी देशों में स्वागत उत्तर हिन्दी में देते थे। चूंकि सोवियत-संघ में उनका स्वागत रूसी भाषा में किया जाता था तो वहाँ वे हिन्दी में बोलते थे। यह कम लोगों को ज्ञात है कि उन्होंने एक पुस्तक हिन्दी में लिखनी शुरू की थी – सेठ गोविन्ददास के इस आरोप के उत्तर में कि आप कैसे प्रधानमंत्री हैं कि अपने देश की भाषा में आपने एक भी पुस्तक नहीं लिखी।

इन सबसे नेहरू का हिन्दी-प्रेमी रूप नहीं प्रकट होता लेकिन वह जनतांत्रिक आग्रह प्रकट होता है कि हम चाहें या न चाहें लेकिन यदि बहुमत हिन्दी चाहता है तो हमें उसे स्वीकारना चाहिए।

हिन्दी-समर्थकों में ऐसे लोग थे और हैं जो हिन्दी के विकास को भारतीय भाषाओं के विकास से नहीं जोड़ते। वस्तुतः समस्या एकता की अवधारणा की है। ऐसे लोग एकता को एकरूपता समझते हैं। मूलतः यह प्रवृत्ति पूंजीवादी-साम्राज्यवादी है। एकता और एकरूपता भिन्न, परस्पर विपरीत हैं। एकता भिन्न घटकों के बीच, भिन्नता के बरकरार और फलने-फूलने के साथ होती है। एकरूपता अन्य सभी घटकों की निजता समाप्त करके स्थापित होती है। यह अंतर जनतांत्रिक और एकाधिकारवादी या फ़ासीवादी प्रवृत्तियों का है। हिन्दी के विकास का जनतांत्रिक आशय तमिल, बंगला, पंजाबी आदि भाषाओं का नहीं बल्कि अगणित भारतीय बोलियों का भी विकास है। इस विषय में आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी ने एक बार कहा था – जैसे हम कश्मीर की या भारत के किसी प्रदेश की एक-एक इंच भूमि की रक्षा करते हैं, थोड़ी-सी भूमि की रक्षा में पूरा देश सामूहिक रूप से एकजुट होता है, वैसे ही अपने देश की कम-से-कम बोली जाने वाली भाषा या बोली की रक्षा के लिए पूरे देश का सन्नद्ध होना देशभक्ति है।

हिन्दी-प्रेम : देश-प्रेम का पर्याय है।

सभी हिन्दी-प्रेमियों पर यह बात लागू नहीं होती। भाषा-उन्माद को भाषा प्रेम नहीं कहते।

भाषा-चिन्तन करते समय ध्यान यथार्थ पर न जाए तो बहुत बातें छूट जाती हैं। अकसर भारत की भाषा समस्या को हिन्दी और अंग्रेज़ी के द्वन्द्व के रूप में देखा जाता है, अन्य भारतीय भाषाओं और अंग्रेज़ी या हिन्दी के संदर्भ में कम। मैं कुछ दिनों पूर्व धारवाड़ गया था और वहाँ से इल्कल, जो बुनकरी के लिए प्रसिद्ध है। वहाँ के महाविद्यालय में 'हिन्दी दिवस' मनाने के लिए आए हुए विद्यार्थियों से विशाल सभा कक्ष भरा था। मीरा और कबीर के भजन छात्राओं ने कन्नड़-लिपि में पढ़कर गाये। कन्नड़-भाषी निम्न मध्यवर्गीय छात्र-छात्राओं को न हिन्दी आती थी न अंग्रेज़ी। अध्यापकों की स्थिति भी वैसी ही थी। एक कपड़ा-व्यापारी का लड़का कामर्स पढ़ता था वह दिन भर मुझसे कहता रहा मैं 'इनकमटैक्स इन्स्पेक्टर' बनना चाहता हूँ। दिल्ली से मेरे लिए किताब भिजवा दीजिए।

मेरा अनुमान है कि हिन्दी की तुलना में अन्य भारतीय भाषा-भाषी सामान्य जनता पर अंग्रेज़ी का आतंक और जुल्म ज्यादा है। कभी-कभी तो यह लगता है कि निम्न वर्ग के लिए हिन्दी भी अंग्रेज़ी ही है। लेकिन उच्चवर्ग को छोड़ दें तो मध्यवर्ग और निम्न-मध्यवर्ग के लिए अंग्रेज़ी और हिन्दी के फर्क से बहुत बड़ा फर्क पड़ता है। न्यायपालिका, अखिल भारतीय प्रशासनिक सेवाओं, उच्चशिक्षा के माध्यम आदि में हिन्दी और अंग्रेज़ी का द्वन्द्व और उसका परिणाम निर्णायक है और भारत के भविष्य को दिशा देने वाला है।

इस विषय में कुछ वर्षों पूर्व प्रो. यू. आर. अनन्तमूर्ति ने काशी विश्वविद्यालय के अंग्रेज़ी विभाग में दिए एक भाषण में कहा – हम गैर हिन्दी भाषी हिन्दी पढ़ने और व्यवहार के लिए तैयार हैं, लेकिन हिन्दी भाषी लोग भी तो अंग्रेजी का त्याग करें। हम गैर हिन्दी भाषी लोग अंग्रेज़ी छोड़कर सिर्फ बेंगलूर और ज्यादा से ज्यादा दिल्ली तक रह जाएं और आप अंग्रेज़ी से लैस होकर न्यूयॉर्क तक पहुँच जाएं। यह कैसे हो सकता है। न्यूयॉर्क का मोह आप छोड़ दें तो हम भी अंग्रेज़ी छोड़ दें।

बात मार्के की है। अंग्रेज़ी के वर्चस्व का स्रोत है न्यूयॉर्क। हिन्दी वाला देशभक्ति, भाषाभक्ति का नाम लेकर हिन्दी-हिन्दी करता है (या नहीं करता है) लेकिन निगाह न्यूयॉर्क पर रखता है यानी अंग्रेज़ी के माध्यम से बहुराष्ट्रीय कम्पनियों की समृद्धि-प्रदायिका ताबेदारी पर। असल प्रतिस्पर्द्धा यहाँ है। अखिल भारतीय सेवाओं में हिन्दी करो जिससे अखिल भारतीय नौकरियों में हित सुरक्षित रहें। फिर अंग्रेज़ी पढ़ो और अखिल वैश्विक स्तर की सफलता का मार्ग प्रशस्त रहे। प्रो. अनन्तमूर्ति का कहना है कि गैर हिन्दी भाषी मध्यवर्ग, उच्चवर्ग, इतना भकुआ नहीं है। वह अंग्रेज़ी छोड़कर अखिल वैश्विक प्रतिस्पर्द्धा से अपने को वंचित नहीं करेगा।

हिन्दी की वास्तविक शक्ति हिन्दी भाषी जनता है। अंग्रेज़ी का वर्चस्व नगरों, महानगरों और सत्ता-केन्द्रों में चमकता है। दिल्ली में अंग्रेज़ी ही अंग्रेज़ी है, गाज़ियाबाद, रोहतक में उतनी नहीं है। गाज़ियाबाद से आगे नहीं दिखाई पड़ेगी। हवाईजहाज़, वातानुकूलित रेलवे डब्बों में दिखाई-सुनाई पड़ेगी। द्वितीय स्लीपर में कम, सामान्य दर्जों में नहीं। अंग्रेज़ी और हिन्दी का भेद आर्थिक स्तर पर है। यह हिन्दी की दुर्बलता भी होगी लेकिन शक्ति भी है क्योंकि गरीब इस

देश में बहुसंख्यक हैं। अंग्रेज़ी का वर्चस्व सबसे निम्न अंक पर पहुँचता है चुनाव के दिनों में और राजनेतिक नेताओं का भारतीय भाषा-प्रेम चुनावी सभाओं में प्रखर होता है। उस समय अंग्रेज़ी समर्थक अंग्रेज़ी अख़बारों, रेडियो या दूरदर्शन में ही *छिपते-छपते* हैं और यही हिन्दी समेत सभी भारतीय भाषाओं की वास्तविक शक्ति है। भारत की कितनी जनता हिन्दी समझती है या नहीं। वास्तविक हिन्दी-भाषी क्षेत्र की सीमा और उसका विस्तार कितना है, इसका ठीक-ठीक पता चुनाव में चलता है। हमारी लोकतांत्रिकता के ढांचे का सबसे जीवन्त निदर्शक चुनाव है, बेशक कुछ कमियों, खामियों के बावजूद।

विसंगति और विडम्बना यह है कि मतदान के मौके पर जिस भाषा में नेता जनता को सारी राष्ट्रीय, अन्तर्राष्ट्रीय समस्यायें समझा कर बताते हैं, उसी को वे न्यायालयों, प्रशासन, उच्चशिक्षा के लिए अविकसित घोषित करते हैं संसद में।

स्वातंत्र्योत्तर भारत की विडम्बना है कि अशक्त मूक जनता के आन्दोलन कम होते हैं। क्रमशः कम होते जा रहे हैं। ज़्यादा आन्दोलन सम्पन्न वर्ग के होते हैं। अब गरीबी, महंगाई, बेरोज़गारी का नाम कम सुनाई पड़ता है। मानों ये खत्म हो गई हैं।

आप भुखमरी, महंगाई, बेरोज़गारी के विरुद्ध आन्दोलन की ही श्रेणी में हिन्दी आन्दोलन को भी रख सकते हैं।

हिन्दी-क्षेत्र में वामपंथ और कांग्रेस की अपेक्षा हिन्दी आन्दोलन में प्रखर सक्रिय डा. राममनोहर लोहिया की समाजवादी पार्टी थी। 'अंग्रेज़ी हटाओ' का आन्दोलन जो सबसे ज्यादा विश्वविद्यालयों में था, अब नाम-शेष भी नहीं है। अब उस पार्टी के अनेक नेता महत्त्वपूर्ण विभागों के मंत्री हैं। अब उनकी चलती है। अब उन्हें 'अंग्रेज़ी हटाओ' हिन्दी आन्दोलन की याद उसी तरह नहीं आती जैसे इस बात की कि कभी वे इसका हिसाब देश की संसद में पेश करते थे कि औसत भारतीय की आमदनी रोज़ाना कितनी है और प्रधानमंत्री पर रोज़ाना खर्च कितना है?

जादू कुर्सी में है। कुर्सी ही मुद्दे बदल देती है। अंग्रेज़ी को हिन्दी और हिन्दी को अंग्रेज़ी बना देती है।

हिन्दीवादी के नाम से मशहूर दूसरी पार्टी भारतीय जनता पार्टी थी। हिन्दी विरोधी पार्टी डी. एम. के. थी। अब दोनों का समझौता है। अब न उत्तर में हिन्दी को कोई खतरा है और न दक्षिण में हिन्दी साम्राज्यवाद का। अरूण जेतली और चिदम्बरम् दोनों में से किसकी अंग्रेज़ी बेहतर है यह हम आप पता नहीं लगा सकते। यहाँ हिन्दी से कुर्सी मिलती है वहाँ तमिल से। कुर्सी का जुगाड़ होने पर तमिल-हिन्दी में समझौता हो जाता है।

मतलब यह कि अंग्रेज़ी हटाओ और गरीबी हटाओ, दोनों में से किसी का संबंध हिन्दी-भारतीय भाषाओं और उन्हें बोलने वाले गरीबों से नाम मात्र का ही था।

लेकिन इस हिन्दी भारतीय भाषा की पराङ्मुखता से एक बात साफ हो गई है कि दक्षिण भारत हिन्दी विरोधी नहीं है। पहले यही बात हिन्दी वाले कहते थे। अब राजनैतिक समीकरणों ने सिद्ध कर दिया है और अटल बिहारी वाजपेयी के बारे में इतनी बात कहनी चाहिए कि उन्होंने यह प्रकट कर दिया है कि संसद में हिन्दी में भाषण गम्भीरतापूर्वक सुना जा सकता है। यह काम पहले मधु लिमये द्वारा होता था।

वामपंथी पार्टियों ने अंग्रेज़ी में सांसद-रत्न चमकाए। वे दोस्त और उद्धारक गरीबों के हैं, भाषा उच्चवर्ग की बोलते हैं। हिन्दी आन्दोलन उन्होंने कभी नहीं किया। यद्यपि हिन्दी प्रचार का आधारभूत काम मजदूर संगठनों के माध्यम से हुआ।

इस समय देश में हिन्दी आन्दोलन के नाम पर या तो लोक सेवा आयोग के सामने चलने वाला सनातन धरना है या प्रतिवर्ष मनाया जाने वाला हिन्दी पखवाड़ा। एक और है विश्व हिन्दी सम्मेलन – संतुष्टों और तिकड़मबाजों का हिन्दी मंच – जो हिन्दी का उपयोग अन्तर्राष्ट्रीय पिकनिक मनाने के लिए करता है।

गरीबी हटाओ और अंग्रेज़ी हटाओ से साफ है कि नेता देश की ज़रूरत समझते हैं और जनता को ठीक नारे देकर उन्हें वंचित करना भी। नारा ठीक, नीयत खोटी। वे गरीबी और अंग्रेज़ी का संबंध जानते हैं। सिर्फ हटाने का नाम लेकर उन्हें बनाए रखने, ज्यादा ठीक कहें तो बढ़ाने की दिशा में तत्पर होते हैं।

हिन्दी-आन्दोलन की क्षीणता जनान्दोलनों की सामाजिक, आर्थिक विषमताओं को समाप्त करने के लिए जनान्दोलनों की क्षीणता के साथ-साथ है। वह ऐतिहासिक है। मेरा मतलब ऐतिहासिक विसंगति है। जब इनके तीव्र आन्दोलनों की ऐतिहासिक जरूरत है, तब ये क्षीण हो रही हैं—की जा रही हैं।

बाज़ार अर्थ व्यवस्था में हिन्दी कितनी सुरक्षित है? कुछ लोगों का विचार है कि भूमंडलीकरण में हिन्दी के विस्तार-विकास की असीम सम्भावनायें हैं। अंग्रेज़ी शब्दों को धड़ल्ले से हिन्दी में आने देना चाहिए। सवाल शब्दों का ही नहीं, सवाल हिन्दी की अस्मिता और स्वायत्तता, जीवन पद्धति या संस्कृति का है। एक परिवर्तन और विकास वह होता है जो हम अपनी इच्छा और रुचि या हित के अनुकूल करते हैं। एक परिवर्तन की आँधी होती है जो हमारी इच्छा, हित, रुचि से निरपेक्ष या प्रतिकूल होती है। जिसमें आगे बढ़ते नहीं, विवश बहते हैं। बाज़ार की अर्थव्यवस्था हमारी भाषा को बाज़ारू न बना दे। ताज्जुब है कि भारतीय संस्कृति के नाम पर सत्ता में आने वालों को भी इसकी कोई चिन्ता नहीं। दूरदर्शन के पर्दे पर जिस तरह अंग्रेज़ी मिश्रित आधी हिन्दी-आधी अंग्रेज़ी वाली भाषा बोली जाती है, ख़ास तौर पर अंग्रेज़ी वाचिक लय में जो हिन्दी बोली जाती है उसका हिन्दी की बोलियों से कोई लेना-देना नहीं। फिर हिन्दी में अंग्रेज़ी के ही शब्द क्यों आ रहे हैं, बोलियों के, पंजाबी, बंगला, तमिल या कन्नड़ के शब्द क्यों नहीं आ रहे हैं। आप जानते हैं उत्तर दिया जा चुका है।

जब हिन्दी का मुँह चेन्नई, कलकत्ता, मुम्बई, अमृतसर, श्रीनगर की ओर न होकर न्यूयॉर्क की ओर हो तभी यह सम्भव होगा। इसके लिए हमारी वह आर्थिक राजनीति जिम्मेदार है जो सामाजिकता-निरपेक्ष बढ़ोतरी को सुधार और विकास कहती है। और कई सवाल है। भाषा पर बात करते-करते हम समाज, राजनीति पर पहुँचेंगे और हम यहीं रुक जाते हैं। क्या आर्थिक विकास के लिए या भूमंडलीकरण के लिए हिन्दी का अंग्रेज़ीमय होना अनिवार्य है?

क्या फ्रांस या जर्मनी भारत से कम भूमंडलीकृत हैं। यूरोप के देशों की बात छोड़ें। क्या चीन या जापान का आर्थिक विकास भारत से कम हुआ है। क्या चीन और जापान की भाषाओं पर, उनकी संस्कृति पर भी अस्मिता का संकट है? अगर नहीं है तो इसका कारण यह तो नहीं कि उनके विदेशी निवेश की शर्तें भारत से भिन्न हैं। उनका आर्थिक विकास उनकी राष्ट्रीय इच्छाओं और हित के अनुकूल हो रहा है।

वे विकास-विवश नहीं हैं। उनकी उच्चशिक्षा नीति कैसी है? साम्राज्यवादी सत्ता ने उपनिवेशों की स्थानीय भाषाओं को उच्चशिक्षा का माध्यम सम्भवतः कहीं नहीं बनने दिया। इस विषय में अन्य भारतीय भाषाओं की स्थिति हिन्दी से भी बदतर है।

भाषाएं विकसित या अविकसित नहीं होतीं। उनके बोलने वाले विकसित या अविकसित होते हैं। कोई भी भाषा या बोली ज्ञान-विज्ञान का संप्रेषण करने में सक्षम है।

हिन्दी विश्व की भाषाओं में तीसरी सबसे बड़ी संख्या में बोली जाने वाली भाषा है। नेपाल में हिन्दी बोलने वालों की संख्या नेपाली बोलने वालों से ज़्यादा ठहरेगी। काठमांडू, इस्लामाबाद, काबुल, ढाका में आप हिन्दी बोलकर काम चला सकते हैं। हिन्दी मॉरीशस, फीजी, त्रिनिदाद जैसे देशों में भी व्यवहार होती है। हिन्दी अन्तर्राष्ट्रीय भाषा भी है। वह अंग्रेज़ी की तरह दूसरी भाषाओं को दबाकर अन्तर्राष्ट्रीय नहीं हुई है। भारत के मूल निवासियों के साथ वहाँ गई है – श्रमिकों या व्यापारियों के साथ।

हिन्दी आन्दोलन सिर्फ हिन्दी आन्दोलन के रूप में नहीं चल सकता। वह आज एक सोद्देश्य साम्राज्यवाद-विरोधी, एकाधिकारवाद-विरोधी, सांस्कृतिक आन्दोलन के रूप में ही चलाया जा सकता है, यही हिन्दी आन्दोलन की परंपरा भी है। आर्थिक-राजनीतिक-सामाजिक आन्दोलन का सहचर ही हो सकता है हिन्दी आन्दोलन। आज इस बात की पूरी आशा है कि हिन्दी भाषा एक बार फिर दलित एवं नारी चेतना का आधार लेकर भक्ति काल जैसा उत्कर्ष प्राप्त कर सकती है।

हिन्दी का भूमंडलीकरण

विमलेश कान्ति वर्मा*

आज हिन्दी का भूमंडलीकरण हो गया है। भारत इक्कीसवीं सदी में एशिया की महाशक्ति बनेगा। केवल संख्याबल ही नहीं, जिस तीव्र गति से स्वतंत्रता के बाद विज्ञान, व्यापार तथा विविध क्षेत्रों में भारत ने विकास किया है उससे विविध विदेशी शक्तियाँ भारत में रुचि ले रही हैं। भारत के परमाणु परीक्षण ने भी विश्व को आतंकित कर रखा है। बहुराष्ट्रीय कंपनियों का व्यापार के लिए बड़े पैमाने पर भारत में पूंजी निवेश, भारतीयों की विश्व के विविध देशों में पद-प्रतिष्ठा तथा विज्ञान व सामाजिक ज्ञान के क्षेत्र में निरंतर बनती बढ़ती सम्मानजनक स्थिति से विश्व पटल पर भारत एक नव-संसाधन सम्पन्न शक्तिशाली महादेश के रूप में उभरा है।

जब भी व्यक्ति या देश की छवि बनती है उस देश को तथा वहाँ के निवासियों को समझने के लिए देश की भाषा व संस्कृति में भी सभी की रुचि बढ़ती है। भारत यों तो चिरकाल से कला, विज्ञान तथा अनेक क्षेत्रों में सम्पन्न होने के कारण विदेशियों के लिए आकर्षण का विषय रहा है और भारतीय विद्या में विदेशियों ने पर्याप्त रुचि भी ली है किन्तु इधर पिछले पाँच दशकों में भारत के प्रति विदेशियों की रुचि में अभूतपूर्व वृद्धि हुई है और भारतीय साहित्य तथा भारतीय भाषाओं में भी उनकी रुचि अधिक बढ़ी है।

हिन्दी भारत की प्रधान भाषा है। भारत में हिन्दी को मातृभाषा के रूप में प्रयोग करने वाले भारतीयों का प्रतिशतक 1981 की भारतीय जनगणना के अनुसार 42.88 है। यदि द्वितीय भाषा तथा संपर्क भाषा के रूप में हिन्दी का प्रयोग करने वाले

---

* भाषा वैज्ञानिक, रीडर, पी.जी.डी.ए.वी. कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, नई दिल्ली

भारतीयों की संख्या भी हिन्दी भाषी संख्या में जोड़ दी जाए तो यह प्रतिशतक बहुत अधिक बढ़ जाता है। भारत के सुदूर पूर्व में रहने वाला सुदूर पश्चिम में बसे भारतीय से संपर्क मात्र हिन्दी के माध्यम से ही कर सकता है। यही स्थिति कश्मीर में बसे भारतीय की है जो कन्याकुमारी में बसे भारतीय से बात करने के लिए केवल हिन्दी को ही समर्थ पाता है। यह शक्ति, संपर्क भाषा कही जाने वाली अंग्रेजी में नहीं है। यह देश की जनसंख्या की एक प्रतिशत से भी कम लोगों की मातृभाषा है। यह सत्य सबसे पहले महात्मा गांधी ने पहचाना था और घोषणा की कि कांग्रेस अधिवेशन की कार्यवाही केवल हिन्दी में होगी क्योंकि संपूर्ण राष्ट्र तक यदि हमें कांग्रेस का संदेश पहुँचाना है तो यह केवल हिन्दी के माध्यम से ही संभव हो सकता है। गांधी के स्वर में स्वर मिलाते हुए देश के सभी महान राजनीतिज्ञों, शिक्षाविदों तथा विधिवेत्ताओं ने हिन्दी को ही बहुभाषी भारत की देशव्यापी भाषा माना।

हिन्दी के संबंध में एक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह भी है कि विश्व में हिन्दी भाषा का प्रयोग करने वालों की संख्या में निरंतर वृद्धि भी हो रही है। यूनीवर्सिटी ऑफ वाशिंगटन के मनोविज्ञान विभाग के प्रोफेसर सिडनी एस. कलवर्ट ने *वर्ल्ड अलमनाक एण्ड बुक ऑफ फैक्ट्स* में जो आंकड़े दिए हैं वे यह स्पष्ट बताते हैं कि पिछले तीन दशकों (1958-1982) में विश्व की प्रमुख भाषाएं बोलने वालों के प्रतिशतक में क्रमिक परिवर्तन दिखाई देता है। विश्व की पाँच यूरोपीय भाषाओं– अंग्रेजी, जर्मन तथा फ्रेंच भाषा-भाषियों की विश्व संख्या में चार दशकों में निरंतर गिरावट आई है जबकि स्पेनिश तथा पुर्तगाली बोलने वालों का विश्व प्रतिशतक बढ़ा है। इसी प्रकार विश्व की अन्य प्रमुख भाषाओं में अंग्रेजी, मैंडरिन तथा रूसी भाषा बोलने वालों का विश्व प्रतिशतक पिछले तीन दशकों में कम हुआ है जबकि अरबी तथा हिन्दी भाषा-भाषियों के विश्व प्रतिशतक में उल्लेखनीय वृद्धि दिखाई देती है। उपर्युक्त आंकड़े यद्यपि इन विश्व भाषाओं के अंतर्राष्ट्रीय महत्त्व को कम नहीं करते पर ये आंकड़े विश्व में अरबी, स्पेनिश के समान हिन्दी के बढ़ते अंतर्राष्ट्रीय महत्त्व के साक्ष्य अवश्य हैं।

आज विदेशी बहुराष्ट्रीय उपभोक्ता सामग्री उत्पादक कंपनियाँ भी हिन्दी के महत्त्व को समझते हुए अपने विज्ञापन में तो हिन्दी का प्रयोग बड़े पैमाने पर करती ही हैं, नियुक्ति के लिए हिन्दी तथा किसी एक अन्य भारतीय भाषा का ज्ञान

अंग्रेज़ी की तुलना में अधिक आवश्यक मानती है। आज देश में किसी भी भाषा का साहित्यकार अपनी रचना को हिन्दी भाषा में प्रकाशित देखना चाहता है। वह या तो हिन्दी में लिखना चाहता है नहीं तो अपनी रचना का हिन्दी भाषा में अनुवाद कराना चाहता है। इसका कारण उसका हिन्दी प्रेम नहीं, हिन्दी की व्यावहारिक उपयोगिता है। हिन्दी ही उसे बड़ा तथा देशव्यापी पाठक वर्ग दे सकती है। हिन्दी फिल्मों की लोकप्रियता से आज कौन अपरिचित है। सभी भारतीय भाषाओं में बनने वाली फिल्मों के यदि वार्षिक आंकड़े देखे जाएं तो सभी भारतीय भाषाओं (हिन्दी को छोड़कर) में बनी फिल्मों की संपूर्ण संख्या भी हिन्दी फिल्मों की तुलना में नगण्य ही होती है। दूसरी भाषाओं के अभिनेता या अभिनेत्रियाँ हिन्दी फिल्मों में इसीलिए आना चाहते हैं जिससे उन्हें बड़ा दर्शक वर्ग मिल सके। यही स्थिति पत्रकारिता के क्षेत्र में भी है। हिन्दी में प्रकाशित दैनिक, साप्ताहिक, पाक्षिक तथा मासिक पत्र-पत्रिकाओं की संख्या अन्य भारतीय भाषाओं की तुलना में बहुत अधिक है। हिन्दी की इसी व्यापकता के कारण आज हिन्दी को देश की प्रधान भाषा विश्व में माना जाने लगा है और विदेशी विद्वान हिन्दी का विविध कारणों से अध्ययन कर रहे हैं।

भारत के बाहर फीजी, मॉरीशस, सूरीनाम, त्रिनिदाद तथा दक्षिण अफ्रीका में बसे लाखों प्रवासी भारतीय जो आज से लगभग डेढ़ सौ वर्ष पूर्व शर्तबंदी प्रथा के अंतर्गत इन देशों में गन्ने के खेतों में काम करने के लिए मजदूरों के रूप में भेजे गए थे और आज वहाँ के स्थायी नागरिक हैं, मातृभाषा के रूप में हिन्दी का ही व्यवहार करते हैं। ये प्रवासी भारतीय मूलतः पश्चिमी बिहार तथा पूर्वी उत्तर प्रदेश से इन देशों में पहुँचे थे। इनकी भाषा प्रमुखतः भोजपुरी तथा अवधी थी इसलिए प्रवासी भारतीयों के बीच आपसी संपर्क का माध्यम ये ही भाषाएं बनीं। कालान्तर में यही हिन्दी इन प्रवासी भारतीयों की अस्मिता का प्रतीक बन गई। आज भी इन देशों में बसे प्रवासी भारतीय परिवार आपस में हिन्दी का ही व्यवहार करते हैं। वे हिन्दी का सम्मान करते हैं तथा हिन्दी का प्रचार-प्रसार चाहते हैं, क्योंकि वे मानते हैं कि हिन्दी ही समस्त भारतीयों को जोड़े रखने का एक महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक माध्यम है। हिन्दी इन देशों में केवल भारतीयों के बीच ही नहीं, बल्कि इन देशों के मूल निवासियों के बीच भी अच्छी तरह समझी व बोली जाती है। फीजी में तो हिन्दी को संवैधानिक संसदीय मान्यता भी प्राप्त है और देश

का कोई भी सांसद हिन्दी में अपने विचारों और भावों को अभिव्यक्त कर सकता है। वस्तुतः इन देशों में बसे हुए भारतीय मूल के उन लोगों की संख्या को भी हिन्दी भाषा भाषियों की संख्या में परिगणित करना चाहिए जो मातृभाषा के रूप में हिन्दी का व्यवहार करते हैं।

भारत के पड़ोसी देशों में पाकिस्तान, नेपाल, बंगलादेश व बर्मा में हिन्दी भाषा बोलने और समझने वालों की संख्या पर्याप्त है। पाकिस्तान की राजभाषा उर्दू तो भाषाविज्ञान की दृष्टि से खड़ी बोली प्रधान हिन्दी की शैली है। नेपाल में हिन्दी पूरे देश के 53 प्रतिशत नेपालियों की मातृभाषा है। इन देशों के अतिरिक्त भारतीय मूल के लोग अमेरिका, यूरोप, आस्ट्रेलिया या अफ्रीका – चाहे कहीं भी बसे हों हिन्दी बोलते और समझते हैं। वस्तुतः हिन्दी विदेशों में बसे भारतीयों के मध्य संपर्क भाषा के रूप में व्यवहृत होती है। वहाँ बसा भारतीय हिन्दी के माध्यम से अपने को भारत से जोड़ना चाहता है। प्रवासी भारतीयों की पहली तथा दूसरी पीढ़ी में हिन्दी मातृभाषा तथा तीसरी और चौथी पीढ़ी के बाद दूसरी भाषा बन जाती है। ये प्रवासी भारतीय, हिन्दी को उन देशों में भी सुरक्षित रखने के लिए प्रयत्नशील हैं। यहाँ भारतीय विद्यालयों में हिन्दी पढ़ाई जाती है, हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन होता है, रेडियो पर लंबी अवधि के हिन्दी प्रसारण होते है और इतना ही नहीं प्रवासी भारतीय हिन्दी में मौलिक साहित्य सृजन भी करते हैं।

भाषा की सामाजिक प्रतिष्ठा उसके बोलने वालों की सामाजिक प्रतिष्ठा से जुड़ी होती है। भारतीय विश्व के अनेक देशों में सुशिक्षित, सुप्रतिष्ठित तथा सम्मानित नागरिक बन गए। उनकी उन्नत सामाजिक स्थिति के कारण ही उनकी भाषा भी सम्मानित भाषा बनी। प्रवासी भारतीयों का बड़ा दल सबसे पहले मॉरीशस, 1834 ई. में गया था, फिर 1845 ई. में त्रिनिदाद, 1860 ई. में दक्षिण अफ्रीका, 1870 ई. में ग्याना, 1873 ई. में सूरीनाम तथा 1879 ई. में फीजी समुद्री जहाज़ से पहुँचा था। इन देशों में जाने वाले भारतीय सामान्यतः अवधी तथा भोजपुरी बोलते थे। कुछ खड़ी बोली का भी प्रयोग करते थे। अन्य प्रदेशों से जाने वाले भारतीय संख्या में इतने कम थे कि उनके बीच पारस्परिक व्यवहार की संपर्क भाषा अवधी और भोजपुरी रही जिनमें कुछ अन्य भाषाओं के शब्दों का भी समुद्री यात्रा के दौरान समावेश हो गया। विदेशी भूमि पर कदम रखने के बाद वहाँ के मूल

निवासियों तथा अंग्रेज़ अफसरों से जब उनका संपर्क हुआ तो वहाँ के कुछ शब्द भी उनकी हिन्दी में प्रायः तद्भव रूप में सम्मिलित हो गए। धीरे-धीरे उनकी शुद्ध भोजपुरी का रूप बदलने लगा और हिन्दी की एक नई विदेशी भाषिक शैली का विकास हुआ। इसी प्रकार अनेक नवीन भाषिक शैलियां पनपीं जिनके नए नामकरण भी कर दिए गए क्योंकि वे भारत में बोली जाने वाली हिन्दी से बहुत मिलती थीं तथा इनमें स्थानीय भाषा का प्रभाव भी पर्याप्त दिखता था। फीजी में बोली जाने वाली हिन्दी को वहाँ के प्रवासी भारतीय फीजी बात कहते हैं, सूरीनाम की हिन्दी को सरनामी हिन्दी या सरनामी कहा जाता है तथा दक्षिण अफ्रीका की हिन्दी को नैताली। इन शैलियों का व्यवहार प्रवासी भारतीय अधिकांशतः घर में तथा औपचारिक बातचीत में करते हैं। इनमें साहित्यिक रचना बहुत कम होती है पर साहित्यिक रचनाओं में इनका प्रभाव निश्चय ही देखा जा सकता है। चूंकि इन नई भाषिक शैलियों में साहित्यिक लेखन बहुत कम होता है इसलिए इनका भाषिक स्वरूप वहाँ के हिन्दी लोकगीतों में तथा बोलचाल में ही देखने को मिलेगा।

विदेशी विद्वानों ने प्रवासी भारतीयों के मध्य प्रचलित हिन्दी की नई शैलियों के महत्त्व को समझा क्योंकि भारतीयों के निकट आने से उनसे घुलने मिलने का सबसे सहज तरीका उनकी अपनी भाषा को समझना तथा उस पर अधिकार प्राप्त कर लेना था। यही कारण है कि विदेशी विद्वानों ने प्रवासी भारतीयों द्वारा बोली जाने वाली हिन्दी की शैलियों पर विविध दृष्टियों से कार्य किया। इनका व्याकरण तैयार किया, हिन्दी-अंग्रेज़ी द्विभाषी कोश तैयार किए और इनके महत्त्व को आंका। रोडने मोग का फीजी-हिन्दी का व्याकरण, सुज़न हाब्स का फीजी-हिन्दी-अंग्रेज़ी कोश इस दिशा में किए गए उल्लेखनीय प्रयास हैं।

रूसी भाषाविदों का विचार है कि उज़बेकिस्तान और तजाकिस्तान में बोली जाने वाली भाषा पारया भी हिन्दी की ही एक भाषिक शैली है। पारया भाषा के लिए ज़बाने-इ-अफ़गानी, इंकू, सुरहानी, चंगर, बश्कगरक आदि नामों का भी प्रयोग होता है। पारया की न अपनी कोई लिपि है, न ही लिखित साहित्य किन्तु इसका लोक साहित्य पर्याप्त सम्पन्न है। लोकगीत तथा लोककथाएं दोनों ही पारया में मिलती हैं। रूसी विद्वान ओरांस्की ने पारया के लोक साहित्य पर विस्तार से शोध किया है।

हिन्दी भाषा अध्ययन की विदेशी परंपरा पर्याप्त पुरानी है। वस्तुतः हिन्दी भाषा के अध्ययन और व्याकरण लेखन की परंपरा विदेश में सत्रहवीं शती के अंतिम दशक से ही प्रारंभ हो गई थी। हिन्दी भाषा का पहला व्याकरण जान जोशुआ केटलियर का लिखा हुआ व्याकरण है जिसका सर्वप्रथम उल्लेख थी. ग्रुल्ज़ ने अपने ग्रंथ *ग्रामातिका हिन्दोस्तानिका* में किया है। यह पुस्तक मूलतः डच में थी तथा 1675 ई. के आस पास लिखी गई थी। तब से आज तक निरंतर विदेशियों द्वारा निजी स्तर पर तथा विश्वविद्यालय की उपाधि के लिए विभिन्न विदेशी शोधार्थियों द्वारा विश्व के विभिन्न विश्वविद्यालयों में अनुसंधान किया जा रहा है। ये अध्ययन हिन्दी के भाषा तथा साहित्य दोनों ही पक्षों पर हो रहे हैं।

आज हिन्दी भाषा का अध्ययन और अध्यापन विश्व के लगभग सभी प्रमुख देशों में हो रहा है। कहीं यह अध्ययन प्राथमिक तथा माध्यमिक स्तर पर हो रहा है तो कहीं विश्वविद्यालय के स्तर पर। कहीं यह अपनी मातृभूमि भारत से जुड़े रहने का भावनात्मक माध्यम समझा जाता है तो कहीं इसके अध्ययन का उद्देश्य आधुनिक भारत के अंतर्तम को समझना है। विदेशों में हिन्दी शिक्षण कहीं निजी प्रयासों द्वारा तो कहीं धार्मिक और सामाजिक संस्थाओं द्वारा तो कहीं सरकारी स्तर पर विद्यालयों और विश्वविद्यालयों में संचालित हो रहा है। विश्व के विभिन्न उच्च अध्ययन संस्थानों में भी हिन्दी के अध्ययन, अध्यापन तथा अनुसंधान की व्यवस्था है। अमेरिका की डा. शोमर का कहना है कि अमेरिका में ही 113 विश्वविद्यालयों और कॉलेजों में हिन्दी अध्ययन की सुविधाएं उपलब्ध हैं जिनमें से 13 तो शोध स्तर के केन्द्र बने हुए हैं। आंकड़े बताते हैं कि इस समय विश्व के 143 विश्वविद्यालयों में हिन्दी शिक्षण की विविध स्तरों पर व्यवस्था है।

हिन्दी विश्व की उन महत्त्वपूर्ण भाषाओं में है जिनमें साहित्य सृजन न केवल भारत में वरन् विश्व के अनेक देशों में भारतीयों तथा विदेशियों द्वारा हो रहा है। निःसंदेह हिन्दी की विशिष्ट भाषिक शैलियां तो विदेश में विकसित हुई ही हैं आज कितने ही विदेशी धारा प्रवाह हिन्दी में लिख रहे हैं, उनकी हिन्दी रचनाएं उनके देश में तथा भारत में प्रकाशित होती हैं और सम्मान पाती हैं। कुछ रचनाएं तो भारतीय विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमों में स्थान प्राप्त कर हिन्दी साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान बना चुकी हैं। फीजी के कमला प्रसाद मिश्र, मॉरीशस के अभिमन्यु अनत, सोमदत बखौरी, सूरीनाम के मुंशी रहमान खान, सूर्य प्रसाद वीरे के साहित्यिक

अवदान को कौन भुला सकता है। अंग्रेज कवि चैम्बरलेन ने हिन्दी में अनेक गीत लिखे, जे. टी. थामसन ने *रघीष्ट चरितामृत* दोहा चौपाई में लिखा। जूलियस फ्रेडरिक उलमन ने हिन्दी में *यह श्रेष्ठ मूलक था* लिखा तो ओदोलेन स्मेकल के *मेरी प्रीत तेरे गीत, स्वाति बूंद, कमल को लेकर चल* आदि कितने ही ग्रंथ हिन्दी में प्रकाशित हुए।

अपनी भाषा में अभिव्यक्ति तथा उसके व्यापक प्रचार-प्रसार की इच्छा ने विदेशी हिन्दी प्रेमियों को हिन्दी पत्रकारिता की ओर उन्मुख किया। आज विदेशों में कई हिन्दी पत्र निकल रहे हैं जो बड़ी संख्या में छपते हैं जिनमें प्रवासी भारतीय लेख, कविता तथा कहानियां आदि लिखते हैं। इनमें तरह-तरह के विज्ञापन प्रकाशित होते हैं तथा भारतीयों के लिए महत्त्वपूर्ण सूचनाएं भी इनमें छपती हैं। ये पत्र-पत्रिकाएं सामान्यतः भारतीयों के संगठित वर्ग के निजी प्रयासों से निकलती हैं। कभी-कभी बड़ी व्यावसायिक प्रकाशन संस्थाएं भारतीय वर्ग के मध्य पहुँचने के लिए व्यावसायिक स्तर पर भी पत्र निकालती हैं। *फीजी टाइम्स* द्वारा प्रकाशित साप्ताहिक *शांतिदूत* एक ऐसा ही पत्र है जो फीजी से लंबे समय से निकल रहा है और अपनी जीवन यात्रा के साठ वर्ष पूरे कर चुका है। आज भी यह पत्र विदेशी-हिन्दी पत्रकारिता का कीर्तिस्तम्भ बना हुआ है।

विदेशों में भारत के प्रति विद्वानों की बढ़ती हुई रुचि ने विदेशियों को भारतीय साहित्य और विशेषकर हिन्दी साहित्य के अनुवाद की ओर भी प्रेरित किया है। हिन्दी साहित्य का विश्व की अनेक भाषाओं में निरंतर अनुवाद हो रहा है। प्रेमचंद की कृति *गोदान* का विश्व की लगभग सभी प्रमुख भाषाओं में अनुवाद हुआ है। तुलसी के *रामचरितमानस* के अनुवाद तो *बाइबिल* के बाद विश्व की विविध भाषाओं में सबसे अधिक हुए है। जर्मन, फ्रेंच तथा अंग्रेज़ी में हिन्दी साहित्य के अनुवाद की एक परंपरा रही है। समकालीन हिन्दी साहित्य के अनुवाद के प्रति विदेशियों की रुचि इधर और बढ़ी है।

स्पष्ट है कि अंतर्राष्ट्रीय पटल पर हिन्दी आज विश्व की एक प्रतिष्ठित भाषा के रूप में मान्यता प्राप्त भाषा है जो अपने संख्या बल के आधार पर तो विश्व की दूसरी प्रमुख भाषा है ही, वह विश्व की एक ऐसी भाषा है जिसे विश्व के किसी भी देश में बसे हुए भारतीय, चाहे वे किसी भी भाषा के बोलने वाले मूलतः रहे हों, दे

हिन्दी को अपनी अस्मिता से जुड़ा हुआ मानते हैं, वे उसकी सुरक्षा तथा प्रतिष्ठा के प्रति निरंतर सचेत है। विदेश में हिन्दी की कई भाषिक शैलियों का उन्होंने विकास किया है और उसमें वे अपने भावों और विचारों को अभिव्यक्त करते हैं। हिन्दी अध्ययन-अध्यापन की एक सुष्ठ परंपरा विदेश में रही है, हिन्दी पत्रकारिता का विदेश में निरंतर विकास हो रहा है, हिन्दी साहित्य के अध्ययन और अनुवाद के प्रति भी विदेशियों की रुचि बढ़ रही है। हिन्दी आज भारत की ही भाषा नहीं, वह विश्वभाषा का रूप ले चुकी है।

हिन्दी में विज्ञान लेखन
दशा और दिशा

गुणाकर मुले*

पहले दशा की चर्चा। मगर आज राजभाषा हिन्दी में विज्ञान लेखन की जो दशा है, या कहें कि जो दुर्दशा है, उसके कुछ मूल कारणों को ठीक से समझना आवश्यक है। इसके लिए देश के एक ही वैज्ञानिक संगठन का संक्षिप्त वृत्तांत प्रस्तुत करना पर्याप्त होगा।

वैज्ञानिक तथा औद्योगिक अनुसंधान परिषद (C.S.I.R.) हमारे देश का प्रमुख वैज्ञानिक संगठन है। दूसरा महायुद्ध शुरू होने पर सन् 1939 में अंग्रेज़ शासकों ने, भारत में ही युद्ध-सामग्री का उत्पादन करने के प्रयोजन से, वैज्ञानिक तथा औद्योगिक अनुसंधान के एक बोर्ड के रूप में, इस संगठन की स्थापना की थी और अपने विश्वासपात्र वैज्ञानिक डा. शांतिस्वरूप भटनागर को इसके संचालन की जिम्मेदारी सौंपी थी। जब महायुद्ध पूर्वी एशिया में फैला, तो सितंबर 1942 में बोर्ड को बदलकर वैज्ञानिक तथा औद्योगिक अनुसंधान परिषद की स्थापना करने की योजना बनी।

मगर उस योजना को तेजी से कार्यरूप में परिणत कर पाना सन् 1947 में आज़ादी प्राप्त करने के बाद ही संभव हुआ। पं. नेहरू की वैज्ञानिक व औद्योगिक अनुसंधान में गहरी दिलचस्पी थी। नए शासकों का विश्वास प्राप्त करने में डा. भटनागर को कोई दिक्कत नहीं हुई। परिषद के निदेशक के अलावा उन्हें वैज्ञानिक अनुसंधान से संबंधित नए मंत्रालय का सचिव भी बना दिया गया। इतना ही नहीं, वे शिक्षा सचिव भी बना दिए गए!

डा. भटनागर ने अपने देहान्त से पूर्व जनवरी 1955 तक, देश में भव्य भवनों वाली 11 प्रयोगशालाएं स्थापित कर दीं, फटाफट। स्पष्ट है कि पं. नेहरू द्वारा

---

* इतिहास-पुरातत्व और विज्ञान लेखक

डा. भटनागर को प्रदान की गई भरपूर सुविधाओं के कारण ही देश में इतनी तेजी से राष्ट्रीय प्रयोगशालाएं खड़ी कर पाना संभव हुआ। चंद्रशेखर वेंकट रामन् ने इस उपलब्धि को ठीक ही "नेहरू-भटनागर प्रभाव" का नाम दिया था।

आज वैज्ञानिक तथा औद्योगिक अनुसंधान परिषद द्वारा संचालित राष्ट्रीय प्रयोगशालाओं/संस्थाओं की संख्या 40 पर पहुँच गई है। इनके अलावा, परिषद के अंतर्गत 81 केंद्र/क्षेत्रीय प्रयोगशालाएं भी हैं। आज परिषद द्वारा संचालित इन संस्थाओं/प्रयोगशालाओं में लगभग 25,000 व्यक्ति कार्यरत हैं, जिनमें 7,000 के आसपास वैज्ञानिक और इंजीनियर हैं। अब परिषद को मिलने वाली कुल बजट-सहायता करीब 500 करोड़ रुपए है। इसके अलावा, उद्योगों के साथ अनुसंधान व विकास के अपने संबंधों के ज़रिए भी परिषद की प्रयोगशालाएं धन अर्जित करती हैं।

इस पृष्ठभूमि में अब हम देखेंगे कि देश के इस प्रमुख वैज्ञानिक संगठन की प्रयोगशालाओं में राजभाषा हिन्दी और देश की अन्य प्रमुख भाषाओं की वस्तुतः क्या दशा है।

चार साल पहले की बात है मैं विज्ञान और प्रौद्योगिकी मंत्रालय की हिन्दी सलाहकार समिति का सदस्य नामित हुआ, तो सोचा कि परिषद की प्रमुख प्रयोगशालाएं देख लूँ, एक सीरीज़ के रूप में हिन्दी में लेख लिखकर बताऊं कि हमारी इन राष्ट्रीय प्रयोगशालाओं में क्या-कुछ अनुसंधान-कार्य हुआ है, हो रहा है। अनुमति मिल गई।

पुणे स्थित राष्ट्रीय रासायनिक प्रयोगशाला पहुँचा। इन प्रयोगशालाओं में प्रशासन नियंत्रक (COA) नामक एक पद होता है। प्रायः स्टोर-कीपर ही तरक्की करते-करते प्रशासक नियंत्रक बन जाते हैं। ये अधिकारी प्रशासन और वैज्ञानिकों के तो नियंत्रक होते ही हैं, कहीं-कहीं निदेशक के भी नियंत्रक बन बैठते हैं!

हिन्दी अधिकारी को साथ लेकर प्रशासन नियंत्रक के ऑफिस पहुँचा। अपने आने का प्रयोजन बताया – 'प्रयोगशाला में हुए/हो रहे अनुसंधान-कार्य की हिन्दी जगत को जानकारी देना चाहता हूँ।' सपाट उत्तर मिला – 'जनता को जानकारी देने के लिए हमारे पास कुछ नहीं है। हमारा सरोकार टाटा, बिड़ला जैसों के उद्योगों से है।'

सुनकर सन्न रह गया। थोड़ी देर स्तब्ध रहकर उनको मैंने अंग्रेज़ी में क्या जवाब दिया, उसे यहाँ व्यक्त नहीं करूँगा। इतना ही बताऊँगा कि तबीयत उनकी दुरुस्त हो गई। मुझे भी पहली बार पता चला कि हमारी राष्ट्रीय प्रयोगशालाओं में आम जनता और राजभाषा हिन्दी के बारे में किस तरह की सोच बनी हुई है।

खैर, प्रयोगशाला के विभिन्न विभागों को देखने का कार्यक्रम बना। सर्वप्रथम ऊतक संवर्धन (Plant Tissue Culture) विभाग में पहुँचा। जानकारी थी कि यहाँ बांस के ऊतक संवर्धन का महत्त्वपूर्ण कार्य हुआ है। विभाग-प्रमुख डा. रजनी नाडगौडा के पास पहुँचा। इस अनुसंधान में उनका प्रमुख योगदान रहा है। उनसे मेरा पहला ही प्रश्न था – 'बांस के ऊतक संवर्धन के तकनीक का सबसे ज्यादा लाभ किन को होगा?' स्पष्ट उत्तर मिला – 'आम जनता को।'

इस खोज के बारे में विस्तृत जानकारी चाही, तो देश-विदेश के अंग्रेज़ी पत्रों में छपे समाचारों की फोटो-कापियां मिलीं। प्रयोगशाला को इस बात का बड़ा अभिमान है कि उसकी इस खोज का विवरण प्रख्यात वैज्ञानिक पत्रिका *नेचर* में प्रकाशित हुआ था। मगर प्रयोगशाला ने आम जनता के लाभ की इस खोज के बारे में आम जनता की किसी भी भाषा में कोई लेख या पुस्तक प्रकाशित नहीं की, हालांकि वहाँ अच्छी हिन्दी या मराठी जानने वालों की कोई कमी नहीं। डा. रजनी ने जानकारी दी कि पुणे के सत्तर साल के एक व्यक्ति ने, उनके अध्ययन का क्षेत्र न होने पर भी, *बांबू : सोन्याची काठी* शीर्षक से मराठी में एक पुस्तिका लिखी है। मैंने वह प्राप्त कर ली।

मैं लखनऊ के केंद्रीय औषधि अनुसंधान संस्थान गया। वहाँ के एक वैज्ञानिक ने मुझे कालाजार पर हो रहे अनुसंधान की जानकारी दी, सहज-सरल हिन्दी में। 'आप इतनी अच्छी हिन्दी जानते हैं, बिहार-बंगाल-असम में हर साल फैलने वाली इस बीमारी के बारे में हिन्दी में एक परिचयात्मक पुस्तक क्यों नहीं लिखते?', मैंने पूछा। उन्होंने अपनी मज़बूरी बताई। मैंने पता लगाया कि परिषद के वैज्ञानिकों को भारतीय भाषाओं में लिखने की कानूनन कोई मनाही नहीं है। मगर व्यवहार में अनुमति भी नहीं है। हिन्दी में लिखने वालों को हेय दृष्टि से देखा जाता है। सुविधाएं भी नहीं मिलतीं।

मैं भावनगर स्थित केंद्रीय नमक व समुद्री रसायन अनुसंधान संस्थान गया। नमक सबके उपयोग की चीज़ है। बहुत ही लंबा और दिलचस्प इतिहास है नमक का। वेदों में 'लवण' का उल्लेख है। मौर्य काल में नमक के उत्पादन और वितरण के लिए 'लवणाध्यक्ष' नामक अधिकारी नियुक्त किया जाता था। नमक के लिए अंग्रेज़ी में सिर्फ एक शब्द है 'सॉल्ट', मगर संस्कृत और आज की भारतीय भाषाओं में लवण के लिए एक दर्जन से अधिक शब्द उपलब्ध हैं।

मैंने 'नमक की खेती' के स्थल देखे। देखा कि संस्थान में तरह-तरह के नमक किस तरह बनाये जाते हैं। यह भी मालूम हुआ कि संस्थान के अधिकांश वैज्ञानिक गुजराती, हिन्दी या मराठी मज़े में लिख-पढ़ सकते हैं। मैंने कहा– 'नमक संबंधी आपके अनुसंधान-कार्य के बारे में हिन्दी या गुजराती में कोई लेख या पुस्तिका हो तो दीजिए।' अंग्रेज़ी में बढ़िया आर्ट-पेपर पर छपी सामग्री मिली। हिन्दी में बड़ी मुश्किल से मिला – टाइप किया हुआ एक पुराना लेख!

मैं चेन्नई के चमड़ा अनुसंधान संस्थान गया। परिषद का यह एक मशहूर संस्थान है। वहाँ भी हिन्दी जानने वाले कई वैज्ञानिक हैं, मगर मुझे वहाँ से चमड़े के बारे में वैज्ञानिक जानकारी देने वाली हिन्दी में कोई सामग्री नहीं मिली। दिल्ली लौटकर मैंने हिन्दुस्तानी एकेडेमी (इलाहाबाद) से काफी पहले (सन् 1930 में) प्रकाशित श्री देवदत्त अरोड़ा की पुस्तक "चर्म बनाने के सिद्धांत" प्राप्त की, तभी जाकर चेन्नई के चमड़ा संस्थान में हो रहे अनुसंधान के बारे में हिन्दी में दो विस्तृत लेख लिख पाया।

मैं धनबाद के पास के केंद्रीय ईंधन अनुसंधान संस्थान गया। जानकर प्रसन्नता हुई कि यहाँ के अधिकांश वैज्ञानिक हिन्दी अच्छी जानते हैं, लिखने में भी समर्थ हैं, आपस में बंगाली भी खूब बोली जाती है। मगर निदेशक महोदय हिन्दी या बंगाली का एक शब्द भी सुनने को तैयार नहीं हैं और, परिषद की इन प्रयोगशालाओं में होता वही है जो कि निदेशक चाहता है। कथन भी मशहूर है – The directors are the kings of their labs.

धनबाद के ईंधन संस्थान के हिन्दी अधिकारी मुझे वहाँ का ऐक नवनिर्मित वास्तु दिखाने ले गए। उसे नाम दिया गया था – CIBORIUM। कहने लगे – 'इसके लिए कोई उपयुक्त भारतीय नाम सुझाइए।' समझ गया कि निदेशक महोदय इस शब्द

को अमेरिका से उठा लाए हैं। बताया – 'इस वास्तु को मजे में मंडपम् या सभा-मंडप कहा जा सकता है।' 'साइबोरियम' का मूल अर्थ भी यही है। मगर प्रयोगशाला के निदेशक अपने अमरीकी 'साइबोरियम' को अब 'मंडपम्' में बदलना पसंद करेंगे, इसकी आशा रखना व्यर्थ था।

भारतीय श्रम से खड़ी की गई वास्तुओं को ही नहीं, स्वदेशी आविष्कारों को भी विदेशी नाम देने की बीमारी हमारे सभी वैज्ञानिक संस्थानों में फैल गई है। भुवनेश्वर की क्षेत्रीय अनुसंधान प्रयोगशाला ने पत्थर के कोयले से काम करने वाला एक आवाँ तैयार किया और उसको नाम दिया – Queen!

आपको परिषद के एक और संस्थान के दर्शन कराना चाहता हूँ। यह है – हैदराबाद स्थित शानदार प्रयोगशाला CCMB (Centre for Cellular and Molecular Biology)। उस समय इस संस्थान के जो निदेशक थे वे अपने मौलिक अनुसंधान के लिए कम और अंग्रेज़ी में छपने वाले लोकप्रिय विज्ञान के लेखों के लिए अधिक जाने जाते हैं, कलिंग पुरस्कार की उम्मीद लगाए बैठे थे, जो उन्हें बाद में मिल भी गया। मगर हिन्दी के एक विज्ञान लेखक से बात करने के लिए वे पाँच मिनट का भी समय नहीं निकाल पाए!

लेकिन उसी संस्थान के डा. लालजी सिंह से मिलने पर मैं अपना मानसिक क्लेश भूल गया। लालजी ने भारत में डी. एन. ए. फिंगर प्रिंटिंग की एक नई विधि खोजी है। जौनपुर ज़िले के हैं। बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय में पढ़े हैं। उन्होंने अपने तकनीक की विस्तार से मुझे जानकारी दी, हिन्दी में ही। उपकरण भी दिखाए। भरपूर सामग्री दी, चित्र भी। मैंने डी. एन. ए. फिंगर प्रिंटिंग पर हिन्दी में चार-पाँच विस्तृत लेख लिखे, जो अनूदित होकर तीन-चार अन्य भाषाओं में भी छपे।

मैं परिषद की कुल 20 प्रयोगशालाओं में गया, प्रत्येक में पाँच-छह दिन रहा। 'अंग्रेज़ी वाला' बनकर जाइए, इन्हीं प्रयोगशालाओं में आपको मनचाही चीज़ें आसानी से मिल जाएंगी। मैं 'हिन्दी वाला' था, इसलिए जानकारी व साहित्य प्राप्त करने में काफी कठिनाई हुई। फिर भी मैंने इन राष्ट्रीय प्रयोगशालाओं के बारे में हिन्दी में पहली बार दो लेखमालाएँ लिखीं – एक किशोरों के लिए, दूसरी प्रौढ़ों के लिए। पहली लेखमाला अब पुस्ताकाकार छप रही है।

यहाँ मैंने राष्ट्रीय प्रयोगशालाओं में हिन्दी और अन्य भारतीय भाषाओं की दशा का एक नमूना भर प्रस्तुत किया है। इन प्रयोगशालाओं में वस्तुतः क्या और कैसा अनुसंधान-कार्य हो रहा है, इसकी चर्चा मुझे यहाँ नहीं करनी है। वह एक अलग विषय है, अत्यंत क्लेशदायक। आलीशान इमारतों और खूब साज-सज्जा वाली इन प्रयोगशालाओं के बारे में पं. नेहरू का कहना था कि "ये मातृभूमि की सेवा के लिए निर्मित नए भारत के मंदिर हैं।" मगर आज चंद्रशेखर वेंकट रामन् का कथन ही अधिक सार्थक प्रतीत होता है: "शाहजहाँ ने अपनी बेगम को दफ़नाने के लिए ताजमहल खड़ा किया था। स्वतंत्र भारत में कीमती यंत्र-उपकरणों को दफ़नाने के लिए राष्ट्रीय प्रयोगशालाएं खड़ी की गई हैं।"

राष्ट्रीय प्रयोगशालाओं में भारतीय भाषाओं की दशा का जो एक जायज़ा मैंने यहाँ प्रस्तुत किया है उसे जानकर किसी को भी आश्चर्य नहीं होना चाहिए। इन प्रयोगशालाओं की स्थापना के प्रयोजन में ही भारतीय भाषाओं के लिए कोई स्थान नहीं रहा है, तो आज हम कैसे उम्मीद रख सकते हैं कि इन वैज्ञानिक संस्थानों में भारतीय भाषाओं की कद्र हो रही होगी। इनके मूल नाम अंग्रेज़ी में हैं, हिन्दी में अनूदित इनके नामों का बहुत कम इस्तेमाल होता है। प्रायः सभी प्रयोगशालाओं में हिन्दी अधिकारी हैं, जिनमें से कुछ साहित्य के पी. एच. डी. भी हैं, मगर इनका काम है – पत्रों का और छोटी-मोटी सूचनाओं का अनुवाद करना। हिन्दी पखवाड़े के मौके पर कहीं-कहीं हिन्दी संगोष्ठी का भी आयोजन होता है, मगर रस्मी तौर पर। इन संस्थानों से हिन्दी में वार्षिक रिपोर्टें भी प्रकाशित होती हैं, मगर पढ़ने-समझने के लिए नहीं, बल्कि संसद की संतुष्टि के लिए!

हिन्दी में पुस्तक लेखन के लिए पुरस्कार देने की भी परिषद की एक योजना है। कुछ समय के लिए मैं उसकी चयन समिति का सदस्य रहा हूँ, इसलिए जानता हूँ कि समिति द्वारा सर्वसम्मति से लिया गया निर्णय अकेले अध्यक्ष के निर्णय में किस तरह बदल जाता है।

परिषद के प्रकाशन एवं सूचना निदेशालय ने 'स्वर्ण जयंती शृंखला' के अंतर्गत हिन्दी में भी कुछ पुस्तकें प्रकाशित की हैं। मगर ये सब अंग्रेज़ी से जैसे-तैसे हिन्दी में अनूदित हुई पुस्तकें हैं, और गोदाम में सड़ रही हैं और, इनके अधिकांश लेखक परिषद की प्रयोगशालाओं के सक्रिय वैज्ञानिक नहीं हैं। परिषद के वैज्ञानिकों की हिन्दी पुस्तकों का क्या हश्र होता है, इसका एक ही उदाहरण प्रस्तुत करना पर्याप्त

होगा। लखनऊ की एक प्रयोगशाला के एक वैज्ञानिक ने पुदीना पर हिन्दी में एक पुस्तक लिखी। परिषद ने पांडुलिपि पर पुरस्कार घोषित कर दिया। लेकिन लेखक ने जब पुरस्कार राशि की माँग की, तो उन्हें कहा गया कि पहले पुस्तक को प्रकाशित करके लाओ, तब पुरस्कार देंगे!

मैंने हिन्दी के संदर्भ में देश के सबसे बड़े वैज्ञानिक संगठन के क्रिया-कलापों की थोड़ी विस्तार से चर्चा की, तो उसकी वजह है। मेरी दृढ़ मान्यता है कि *कोई भी भाषा जब तक वैज्ञानिक साहित्य के मामले में समृद्ध नहीं बनती, तब तक उसे देश में, और विदेश में भी, सम्मान का स्थान कदापि नहीं मिल सकता।* संस्कृत का गौरव इसलिए हुआ कि उसमें केवल काव्य, कथानक और नाटक ही नहीं लिखे गए, बल्कि बहुत सारे शास्त्रों की भी रचना हुई। संस्कृत भाषा इसलिए भी समृद्ध हुई कि उसके कवियों को विविध शास्त्रों का अच्छा ज्ञान था और उस ज़माने के हमारे वैज्ञानिकों को काव्यशास्त्र का। कालिदास ज्योतिषशास्त्र में भी निपुण थे, इसीलिए उन्हें "ज्योतिर्विदाभरण" नामक एक जाली पोथी का लेखक बना देना संभव हुआ था। गणित-ज्योतिष के सभी संस्कृत ग्रंथ काव्य में लिखे गए हैं। भास्कराचार्य (1150 ई.) ने अपने "सिद्धांत-शिरोमणि" में महज अपनी काव्य-प्रतिभा के प्रदर्शन के लिए "ऋतु वर्णन" नामक एक स्वतंत्र अध्याय लिखा है। हमारे आज के साहित्यकारों को, और वैज्ञानिकों को भी, हमारी पुरानी परंपरा से अभी काफी-कुछ सीखना है।

मेरी यह भी दृढ़ मान्यता है कि जब तक वैज्ञानिक संस्थानों के हमारे वैज्ञानिक भारतीय भाषाओं में लेख और पुस्तकें नहीं लिखते, तब तक भारतीय भाषाएं गौरव का स्थान प्राप्त नहीं कर सकतीं। सोवियत शासन के जमाने में किताईगोरोदस्की जैसे प्रख्यात अकादमिकों ने और लेव लांडाउ जैसे नोबेल पुरस्कार विजेताओं ने अपनी रूसी भाषा में लोकप्रिय विज्ञान की पुस्तकें लिखीं। चीन में वैज्ञानिकों या प्राध्यापकों से पुस्तकें लिखवाई जाती हैं, तो उन्हें अवकाश दिया जाता है, भरपूर सुविधाएं प्रदान की जाती हैं। दुर्भाग्य हमारे देश का कि वहाँ हिन्दी में लिख सकने वाले वैज्ञानिकों को हेय दृष्टि से देखा जाता है, सुविधाएं प्रदान करना तो दूर की बात रही।

करीब दो साल तक राष्ट्रीय प्रयोगशालाओं की यात्राएं कीं, तो मेरे मन में वैज्ञानिक पुस्तकों के प्रकाशन की एक योजना बनी थी। उदाहरण के तौर पर, किसी भी एक प्रयोगशाला को लीजिए। मान लीजिए, भावनगर की नमक और समुद्री

रसायन प्रयोगशाला को लेते हैं। वहाँ ऐसे दस वैज्ञानिक अवश्य ही मिल जाएंगे जो, प्रोत्साहन और समुचित सहयोग मिले तो, हिन्दी, गुजराती और मराठी में शैवाल और नमक पर बढ़िया मौलिक पुस्तकें लिख सकते हैं। "मीठु" पर लिखी गई गुजराती पुस्तक का वहीं का कोई मराठीभाषी वैज्ञानिक "मीठ" नाम से मराठी में और हिन्दी भाषी वैज्ञानिक "नमक" नाम से हिन्दी में अनुवाद कर देगा। इसी तरह, वहीं से शैवाल के बारे में भी पुस्तकें तैयार की जा सकती हैं। तीन भारतीय भाषाओं में जनोपयोगी वैज्ञानिक विषयों की दो-दो प्रामाणिक पुस्तकें उपलब्ध हो जाएंगी। इन पुस्तकों का अन्य भाषाओं में भी अनुवाद कराया जा सकता है।

इस योजना को परिषद की सभी प्रयोगशालाओं में लागू किया जाए, तो हिन्दी सहित भारत की सभी प्रमुख भाषाओं में से प्रत्येक में विज्ञान व प्रौद्योगिकी से संबंधित कम से कम 100 विषयों की पुस्तकें सहज ही तैयार हो जाएंगी, दो-तीन साल में ही।

अब रहा इनके प्रकाशन का मामला। यह जिम्मेदारी परिषद के प्रकाशन एवं सूचना निदेशालय को सौंपी जा सकती है। कई प्रयोगशालाएं अंग्रेज़ी की अपनी अत्यलंकृत वार्षिक रिपोर्टें प्रकाशित करने में ही हर साल तीन-चार लाख रुपए खर्च कर देती हैं। इन फिजूलखर्चियों में थोड़ी-थोड़ी भी कटौती की जाए, तो इस योजना के लिए धन निकल आएगा। बाद में किताबों की बिक्री से भी पैसा आएगा।

इस योजना के कार्यान्वयन से सभी प्रमुख भारतीय भाषाएं वैज्ञानिक साहित्य के मामले में समान रूप से समृद्ध होती जाएंगी। यह जरूरी भी है। अन्य भाषा भाषी भी इस योजना का स्वागत करेंगे। ज्ञान-विज्ञान के प्रचार-प्रसार का मामला हो, तो केवल हिन्दी की बात करना ठीक नहीं है।

2

अब तक मैंने देश के सबसे बड़े वैज्ञानिक संगठन के बारे में अपनी प्रत्यक्ष जानकारी के आधार पर हिन्दी में विज्ञान लेखन की दशा का, और दिशा का भी, एक चित्र आपके सामने प्रस्तुत किया। अब मैं विज्ञान लेखन के क्षेत्र के पिछले चालीस साल के अपने अनुभवों और प्रयासों की भी थोड़ी चर्चा करना चाहूँगा। नए विज्ञान लेखकों के लिए शायद उपयोगी साबित हो। इतना तो पता चल ही जाएगा कि हिन्दी में विज्ञान लेखन संभव है।

मेरी मातृभाषा मराठी है – वैदर्भी मराठी। मेरी मिडिल तक की पढ़ाई गांव में हुई। उसी दौरन गांव में संस्कृत पाठशाला खुली, तो संस्कृत की प्रथमा व मध्यमा परीक्षाओं के साथ-साथ वर्धा की राष्ट्रभाषा प्रचार समिति की भी तीन-चार परीक्षाएं पास कर लीं। उसके बाद डेढ़-दो साल वर्धा रहा, तो हिन्दी का स्वाध्याय जारी रहा; वहीं से सम्मेलन की 'विशारद' परीक्षा पास की और वहीं मेरी A, B, C, D, की शुरुआत हुई – सोलह सात की आयु में।

इलाहाबाद पहुँचा। मैट्रिक और इंटर करके विश्वविद्यालय में दाखिल हुआ – विज्ञान, विशेषतः गणित के अध्ययन के लिए। तब तक मैं अपनी मराठी से काफी दूर निकल आया था। हिन्दी के गढ़ में पहुँच गया था। गुरुजनों के ज़रिए हिन्दी के वहाँ के कई दिग्गजों से जान-पहचान भी हो गई थी। डा. उदयनारायण तिवारी मेरे स्थानीय अभिभावक थे। मगर अब हिन्दी में मेरी दिलचस्पी घटती जा रही थी। पढ़ाई का माध्यम अंग्रेज़ी था। डा. गोरखप्रसाद और डा. सत्यप्रकाश जैसे हिन्दी-प्रेमी अध्यापक मुझे आकर्षित नहीं कर सके। मैं 'आदर्श' विद्यार्थी नहीं था। मेरी दृष्टि में डा. गोरखप्रसाद भी 'आदर्श' अध्यापक नहीं थे। अपनी ही अंग्रेज़ी पाठ्य-पुस्तक के सवालों को खुद ही तैयार की गई "फ्रंजी" की सहायता से बोर्ड पर हल करते थे – बीच-बीच में हिन्दी में बोलते हुए। गणित विभाग में आते-जाते विश्वविद्यालय के परिसर में ही स्थित हिन्दी के लिए समर्पित विज्ञान परिषद के सामने से गुजरता था, मगर उन दिनों मैंने उसके भीतर एक बार भी झांककर नहीं देखा, भीतर जाने की बात तो दूर रही। भारतीय विज्ञान और संस्कृति की आर्यसमाजी व्याख्या में मेरे लिए उस समय भी कोई आकर्षण नहीं था।

तब क्या बात हुई कि मैं हिन्दी में विज्ञान-लेखन की ओर प्रवृत्त हुआ? मिली-जुली कई बातें हैं। लेकिन एक प्रमुख बात है – इलाहाबाद के कॉफी हाउस की एक मेज़। विश्वविद्यालय के आखिरी वर्ष में प्रायः रोज़ ही सायंकाल मैं कॉफी हाउस पहुँच जाता था। उन दिनों वहाँ के साहित्यकार कॉफी हाउस की मेज़ों में बटे हुए थे। एक मेज़ के नायक थे श्री भैरवप्रसाद गुप्त। मार्कण्डेय, कमलेश्वर, अमरकांत, शेखर जोशी आदि उस मेज़ के स्थायी सदस्य थे। बीच-बीच में बनारस से नामवरजी भी पहुँच जाते थे। धीरे-धीरे मैं भी उस 'प्रगतिशील' मेज़ से जुड़ गया। मुझे स्नेह मिला। हिन्दी में लिखने की प्रेरणा मिली। मैंने लिखना शुरू कर दिया। मेरा पहला लेख वाराणसी से प्रकाशित होने वाले दैनिक *आज* में छपा था – आज भी याद

है, आठ रुपए पारिश्रमिक मिला था। उन्हीं दिनों सौर-मंडल के बारे में मेरी पहली लेखमाला इलाहाबाद से निकलने वाले दैनिक *भारत* में छपी। आगरा से प्रकाशित होने वाले *विज्ञान लोक* नामक मासिक में भी लिखना शुरू कर दिया। उन्हीं दिनों मैंने अपनी पहली पुस्तक तैयार की–*सूरज, चांद, सितारे*। राजकमल के मालिक ओमप्रकाशजी इलाहाबाद आए, तो भैरव बाबू ने मुझे उनसे मिलाया। पुस्तक स्वीकृत हुई, और जल्दी ही पाकेट संस्करण में प्रकाशित हुई। फिर मैंने पीछे मुड़कर नहीं देखा। फिर मुझे किसी की सिफारिश की कभी ज़रूरत नहीं पड़ी।

मेरी कभी कोई रचना अस्वीकृत होकर नहीं लौटी। इसका खुद मुझे भी बड़ा आश्चर्य होता है। अब तक तीन हजार से ऊपर लेख और छोटी-बड़ी लगभग चालीस पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। इनमें इतिहास, पुरातत्व और जीवनी से संबंधित पुस्तकें भी शामिल हैं। दो पुस्तकें दूसरी भाषाओं में भी अनूदित हुई हैं। कई लेखमालाएं लिखीं, जिनमें संदर्भ और टिप्पणियां जोड़ने के बाद "आकाश दर्शन" और "संसार के महान गणितज्ञ" जैसी बड़ी पुस्तकें बनीं।

मैंने कुछ पुस्तकों का हिन्दी में अनुवाद भी किया है – चुनौती के तौर पर और अपनी शर्तों पर। हिन्दी के एक पंडित ने दामोदर धर्मानंद कोसंबी की प्रसिद्ध पुस्तक *The Culture and Civilisation of Ancient India in Historical Outline* का हिन्दी में अनुवाद किया था, जो राजकमल से छपा था। लेकिन वह अनुवाद संतोषजनक नहीं था। उस पुस्तक का नए सिरे से अनुवाद करने का राजकमल ने मुझसे अनुरोध किया। मुझे संकोच हुआ। लेकिन मैंने 'डांडी' के पिता आचार्य धर्मानंद कोसंबी की पुस्तकों का और मूल पालि व संस्कृत के स्रोतों का उपयोग करके अनुवाद कर डाला। अब तक वह अनुवाद छह बार छप चुका है।

मार्क्स-एंगेल्स की सभी प्रमुख कृतियों का हिन्दी में अनुवाद हो चुका था। एंगेल्स के *Dialectics of Nature* का अनुवाद होना बाकी था। कइयों ने शुरू करके फिर हार मान ली थी। कामरेड रमेश सिन्हा की टिप्पणी थी – 'फिलहाल इस पुस्तक को हिन्दी में लाना संभव नहीं है।' मैंने चुनौती स्वीकार कर ली, मगर शर्त रखी – अनुवाद के लिए प्राप्त होने वाला सारा पारिश्रमिक मुझे मिलेगा, अनुवाद भारत में ही छपेगा और पुस्तक में एंगेल्स के नाम के नीचे अनुवादक के रूप में मेरा नाम भी रहेगा। शर्तें मान ली गईं। विश्वविद्यालय के दिनों में मैंने थोड़ी जर्मन सीखी

थी। मूल जर्मन पुस्तक प्राप्त की। इसके अंग्रेज़ी अनुवाद के भी दो-तीन संशोधित संस्करण प्राप्त किए। एक साल तक मेहनत करके मैंने अनुवाद पूरा कर डाला। जोकि पंसद किया गया। दो-तिहाई पुस्तक छप भी गई, मगर उसके बाद काम रुक गया – कुछ विशेष कारणों से।

अपनी मातृभाषा मराठी से सिर्फ एक ही पुस्तक का हिन्दी में मैंने अनुवाद किया है – स्वान्तः सुखाय। वह है – *भारतीय दर्शन: वैचारिक और सामाजिक संघर्ष* – लेखक : श्रीनिवास सरदेसाई।

मैंने अपने अनुवाद-कार्य की चर्चा इसलिए भी की, क्योंकि मैं वैज्ञानिक विषयों के अनुवाद को बहुत ज़िम्मेदारी और परिश्रम का काम मानता हूँ। अनुवादक को मूल भाषा और अनुवाद की भाषा के साथ-साथ विषय का भी अच्छा ज्ञान होना आवश्यक है। भारतीय विज्ञान लेखक अंग्रेज़ी में लिखते हैं, तो उनके लिए शब्दावली की कोई कठिनाई नहीं होती। लेकिन हिन्दी और दूसरी भारतीय भाषाओं में विज्ञान लिखने वालों को सिर्फ शब्दावली की ही नहीं, और भी कई कठिनाईयों का सामना करना पड़ता है। वैज्ञानिक विषयों के अनुवादकों को निश्चय ही काफी अधिक पारिश्रमिक मिलना चाहिए।

अंग्रेज़ी के लिए मेरे मन में कोई दुर्भाव नहीं है। आज भी सबसे अधिक उपयोग मैं अंग्रेज़ी स्रोत-सामग्री का ही करता हूँ। मैंने थोड़ा-बहुत अंग्रेज़ी में भी लिखा है। करीब तीन साल तक साप्ताहिक पत्रिका *LINK* के लिए लिखा। उसमें मेरी एक लेखमाला भी छपी – India's Scientific Heritage। आज भी अपने कुछ हिन्दी लेख मैं नए सिरे से अंग्रेज़ी में लिखता हूँ।

समुचित पारिश्रमिक के लिए मैंने लड़ाई लड़ी है। किसी संस्थान से अंग्रेज़ी और हिन्दी, दोनों भाषाओं में पत्रिकाएं प्रकाशित होती हैं, तो मेरा आग्रह रहा है कि हिन्दी लेखों के लिए भी अंग्रेज़ी लेखों के बराबर पारिश्रमिक मिलना चाहिए। कविता-कथानक-आलोचना की पुस्तकों पर अधिक रॉयल्टी मिले और विज्ञान की पुस्तकों पर कम – यह बात मुझे कभी मान्य नहीं रही। मेरी सारी पुस्तकें रॉयल्टी पर हैं। यह केवल लेखक की आर्थिक आवश्यकता का मामला नहीं है, हिन्दी में विज्ञान लेखन को गरिमा प्रदान करने का भी महत्त्वपूर्ण सवाल है।

हिन्दी में कुछ ऐसे भी विज्ञान लेखक हैं जो अपनी छोटी-मोटी पांडुलिपियां पाँच सौ रुपयों में प्रकाशक के हाथ बेच देते हैं। मैं उन्हें समझाता हूँ – 'इससे हिन्दी विज्ञान लेखन अपमानित होता है।' जवाब मिलता है – 'निर्वाह वेतन से हो जाता है। यदि पुस्तक छपने से थोड़ी अतिरिक्त आय होती है और साथ में नाम भी होता है, तो इसमें हर्ज क्या है?'

मैंने कभी कोई नौकरी नहीं की। अपने निर्वाह के लिए मैं पूर्णतः अपने लेखन पर ही निर्भर रहा हूँ, आज भी हूँ। कठिनाइयां झेलीं, सालों तक। मैंने जो और जितना भी लिखा, वह सब प्रकाशित हुआ। एक मराठी-भाषी को हिन्दी लेखकों और पाठकों का भरपूर स्नेह मिला, यह क्या कम बात है? मुझे हिन्दी जगत से कोई शिकायत नहीं है।

मैंने सिद्ध कर दिया है कि हिन्दी में स्वतंत्र विज्ञान लेखन का पेशा संभव है। यह सही है कि मैंने खूब मेहनत की, आज भी करता हूँ, मगर मैं समझता हूँ कि इसमें हिन्दी के सामर्थ्य और पाठकों की विज्ञान-पिपासा का ही अधिक योगदान रहा है।

मुझे हिन्दी के संपादकों का भी भरपूर स्नेह व सहयोग मिला है। हाँ, यह सही है कि हिन्दी के कुछ संपादकों के लिए मैंने कभी नहीं लिखा। ऐसे भी कई विशुद्ध साहित्यकार संपादक हैं जो हिन्दी को ज्ञान-विज्ञान के मामले में समृद्ध बनाना आवश्यक नहीं समझते, विज्ञान लेखन को कोई महत्त्व नहीं देते। उनकी नेतागिरी मुझे अखरती है। मगर इससे हिन्दी के प्रति मेरी आस्था में कभी कोई कमी नहीं आई। मेरा ध्यान हमेशा मेरे पाठकों की ओर रहा है, जो मुझे बड़ी संख्या में मिले हैं।

जब अपनी पसंद-नापसंद की कुछ बातों की चर्चा की है, तो यहाँ अपने रचना-कर्म के बारे में भी एक-दो बातें बताना चाहूँगा। शायद नई पीढ़ी के विज्ञान लेखकों के लिए उपयोगी साबित हों। मैंने प्रौढ़ों के लिए लिखा है, तो किशोरों के लिए भी खूब लिखा है, आज भी लिखता हूँ। विषय की तैयारी में मुझे काफी समय लगता है। पहले प्रौढ़ों के लिए लिखता हूँ। फिर उसी विषय पर बच्चों के लिए लिखता हूँ, इसलिए कुछ आसानी होती है। वरना, बच्चों के लिए लिखना, विशेषकर विज्ञान, ज्यादा कठिन काम है।

मैंने लेखमालाएं लिखना अधिक पसंद किया। मेरी कई लेखमालाएं दो-दो साल तक चलीं। लेखमाला के ज़रिए लेखक लंबे समय तक पत्रिका से जुड़ा रहता है। पाठक भी जुड़ जाते हैं। मेरी कई लेखमालाएं बाद में पुस्तकें बनीं।

अपने बारे में, अंत में एक बात और : मातृभाषा न होने पर भी हिन्दी में लिखने में मुझे कोई विशेष कठिनाई नहीं होती। अभी दो साल पहले तक मेरा सारा लेखन सीधे टाइपराइटर पर हुआ। अब कंप्यूटर पर कर रहा हूँ – पुस्तकें भी। बड़ी सुविधा होती है, समय बचता है। वैज्ञानिक विषयों में विशिष्ट जानकारी रहती है, विशिष्ट शब्दों का इस्तेमाल होता है, इसलिए मेरा मत है कि विज्ञान लेखन की भाषा सहज व सरल ही होनी चाहिए। बनावटी भाषा मैं इस्तेमाल नहीं करता, मुझे आती भी नहीं। शुरु में मेरे लेखक-मित्र कहते थे कि मेरी हिन्दी में कहीं-कहीं मराठी शब्द आ जाते हैं। अब मेरी हिन्दी कैसी है, नहीं जानता। लेकिन मेरे लेखों को छठी कक्षा से लेकर स्नातक कक्षा तक की हिन्दी की पाठ्य-पुस्तकों में स्थान मिला है, इसलिए लगता है कि मेरी हिन्दी ठीक-ठाक है और, कोई मेरी हिन्दी के बारे में शुरुआत वाली बात कहेगा, तो मैंने जवाब तैयार रखा है – 'मैं जो लिखता हूँ वही राजभाषा हिन्दी है'।

3

आरंभ में मैंने देश के एक प्रमुख वैज्ञानिक संगठन में भारतीय भाषाओं की दशा का चित्र प्रस्तुत किया। मैंने चार दशकों के दौरान के हिन्दी विज्ञान के अपने प्रयासों की थोड़ी जानकारी दी। अब मैं हिन्दी और अन्य प्रमुख भारतीय भाषाओं में विज्ञान लेखन की स्थिति के संदर्भ में कुछ व्यापक मसलों को संक्षेप में प्रस्तुत करना चाहता हूँ।

आज़ादी हासिल करने के बाद पचास साल गुजर गए हैं। आज राजभाषा हिन्दी की स्वर्ण जयंती मनाई जा रही है। ठीक है, मगर पचास साल बाद भी आज सर्वत्र हिन्दी की क्या स्थिति है, इसे हम सभी जानते हैं। हिन्दी के कुछ साहित्यकार मौजूदा स्थिति से भले ही संतुष्ट हों, मगर सच्चाई यही है कि *हिन्दी जब तक वैज्ञानिक साहित्य के मामले में सम्पन्न और समर्थ नहीं बनती, तब तक इसे सही अर्थ में राजभाषा का गौरव प्राप्त नहीं हो सकता।*

Nehru Memorial Museum and Library
Acc. No. GI.....6441
P152u2'P00
152P0

हिन्दी को (और दूसरी भारतीय भाषाओं को भी) लंबे समय तक असमर्थ बनाए रखने के प्रयोजन से, या कहिए कि एक सोचे-समझे षडयंत्र के तहत, पिछले पचास वर्षों में कई प्रकार के 'फतवे' जारी हुए हैं। मज़े की बात यह है कि हिन्दी वाले भी उन्हें स्वीकार करते रहे हैं, उन्हें दोहराते भी रहे हैं।

आज भी कहा जा रहा है कि हिन्दी को विज्ञान की समर्थ भाषा बनाने के लिए पचास साल पर्याप्त नहीं है, और भी काफी समय लगेगा। मेरा मत है कि यह पचास साल की बात बहुत बड़ा झूठ है। चालीस साल पहले मैंने जब हिन्दी में विज्ञान लिखना शुरू किया था, तब भी हिन्दी आधुनिक विज्ञान को वहन करने में समर्थ थी। दरअसल, हिन्दी में विज्ञान लेखन बहुत पहले से होता आ रहा है। आज के हिन्दी के कवि-कथाकार-आलोचक और साहित्य संस्थान भले ही वैज्ञानिक साहित्य की उपेक्षा करते हों, मगर आज़ादी के पहले ऐसा नहीं था। हिन्दी साहित्य सम्मेलनों के अधिवेशनों में 'विज्ञान परिषद' का आयोजन होता था। सम्मेलन की परीक्षाओं में विज्ञान के विषयों के लिए भी स्थान था। मैंने हिन्दी में सापेक्षवाद पर जो एकमात्र मौलिक पुस्तक देखी है वह, आज़ादी के काफी पहले, सम्मेलन से ही प्रकाशित हुई थी।

आजकल मैं विज्ञान और प्रौद्योगिकी विभाग के एक स्वायत्त संस्थान "विज्ञान प्रसार" का फैलो हूँ, उसके हिन्दी प्रकाशनों को देखता हूँ। "विज्ञान प्रसार" ने भारत की प्रमुख भाषाओं में लगभग 1850 से 1950 तक के सौ वर्षों के दौरान प्रकाशित महत्त्वपूर्ण वैज्ञानिक लेखों के संकलन प्रकाशित करने की एक योजना हाथ में ली है। हिन्दी और बंगाली के हज़ार-हज़ार पृष्ठों के संकलन तैयार हो गए हैं, जल्दी ही प्रकाशित हो रहे हैं। मराठी की भी तैयारी है। ये संकलन प्रमाणित कर देते हैं कि हिन्दी और बंगाली तथा मराठी जैसी भारतीय भाषाओं में विज्ञान लेखन की परंपरा काफी पुरानी है।

"निज भाषा" के पक्षधर और उन्नायक बाबू भारतेन्दु हरिश्चंद्र को वैज्ञानिक साहित्य की भी चिंता थी। उन्होंने अपने समकालीनों को वैज्ञानिक लेख व पुस्तकें लिखने के लिए प्रेरित किया। उस आरंभिक दौर में शिवप्रसाद सितारे हिन्द, लक्ष्मीशंकर मिश्र और मुंशी रतनलाल ने मिडिल कक्षाओं के लिए वैज्ञानिक विषयों की पाठ्य-पुस्तकें लिखीं। लक्ष्मीशंकर मिश्र ने *सरल त्रिकोणमिति की उपक्रमणिका*

नामक जो पुस्तक लिखी, उसकी *हरिश्चंद्र पत्रिका* में समीक्षा छपी थी। उसी दौरान 'लोकहितवादी' गोपाल हरि देशमुख ने "यंत्रज्ञान" शृंखला के अंतर्गत कई वैज्ञानिक विषयों पर मराठी में छोटी-छोटी पुस्तकें लिखी थीं।

उसी दौरान काशी के पं. सुधाकर द्विवेदी ने संस्कृत के अलावा हिन्दी में भी गणित-ज्योतिष से संबंधित पुस्तकें लिखीं। संस्कृत कॉलेज में उनके मराठीभाषी गुरु पं. बापूदेव शास्त्री ने भी गणित पर हिन्दी में कुछ पुस्तकें लिखीं। 'चलन कलन' और 'चलराशि कलन' पदों का प्रयोग पं. बापूदेव शास्त्री ने ही चलाया था।

आज़ादी के पहले के हिन्दी साहित्यकारों को वैज्ञानिक साहित्य की केवल चिंता ही नहीं थी, बहुतों ने वैज्ञानिक लेख भी लिखे हैं। *सरस्वती* में चंद्रधर शर्मा 'गुलेरी', महावीर प्रसाद द्विवेदी, श्यामसुंदरदास आदि कई साहित्यकारों के लेख प्रकाशित हुए हैं। सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' ने आज़ादी से पहले निबंध लिखा था – 'विज्ञान और वैज्ञानिक पत्र-कला'।

आज के हिन्दी साहित्यकारों को अपनी इस पूर्व परंपरा को कभी-कभी याद कर लेना चाहिए।

आज़ादी के बाद पचास साल गुज़र गए, मगर आज भी कहा जा रहा है कि हिन्दी आधुनिक वैज्ञानिक विषयों को वहन करने में समर्थ नहीं बनी है, इसके लिए अभी और समय चाहिए।

इस झूठ के पर्दाफाश के लिए इतिहास से दो ही उदाहरण प्रस्तुत करना पर्याप्त होगा।

इस्लाम के उदय से पहले अरबी में एक भी साहित्यिक कृति नहीं थी। *कुरान* अरबी की प्रथम साहित्यिक कृति है। लेकिन हस्तलिपियों के उस दौर में भी इस्लाम के खलीफा शासकों के भरपूर सहयोग से ज्ञान-विज्ञान के साहित्य के मामले में अरबी को समृद्ध बना देने में ज्यादा देर नहीं लगी। बगदाद इस्लामी शासन की राजधानी बनी, तो संस्कृत तथा पारसी भाषा के और सिरियाई भाषा में पहले से अनूदित ज्ञान-विज्ञान के यूनानी ग्रंथों के अरबी अनुवाद का कार्य जोर-शोर से शुरू हो गया। जल्दी ही अरबी विज्ञान की अंतर्राष्ट्रीय भाषा बन गई। अरबी विज्ञान प्राचीन यूनानी, चीनी और भारतीय विज्ञान से आगे बढ़

गया। अरबी विज्ञान ने अल्-ख्वारिज़्मी, अल्-राज़ी, अल्बेरूनी और उमर खय्याम जैसे महान वैज्ञानिक पैदा किए। अरबी के वैज्ञानिक ग्रंथों का लैटिन में अनुवाद होने के बाद ही 12वीं-13वीं सदी से यूरोप में नवजागरण का नया युग आरंभ हुआ।

ईसा की सातवीं सदी के पूर्वार्द्ध में तिब्बत के एक वीर स्रोङ्-चन्-गम्पो ने समूचे तिब्बत का एकीकरण करके ल्हासा में अपनी राजधानी स्थापित की। तब तक तिब्बत की अपनी कोई लिपि भी नहीं थी। स्रोङ्-चन्-गम्पो ने लिपि प्राप्त करने के लिए अपने एक मंत्री संभोटा को भारत भेजा। इस तरह, तिब्बती भाषा को पहली बार एक लिपि मिली, और व्याकरण भी तैयार किया गया। फिर शुरू हुआ भारतीय ग्रंथों के तिब्बती अनुवाद का दौर। संस्कृत-तिब्बती कोश तैयार हुए। बौद्ध धर्म व दर्शन के ही नहीं, संस्कृत के अन्य अनेक विषयों के ग्रंथों का, सिद्धों की कविताओं का भी, तिब्बती में अनुवाद हुआ। यह सारा विशाल साहित्य "तंजूर" और "कंजूर" नामक दो बड़े संग्रहों में आज भी उपलब्ध है। बहुत से मूल ग्रंथ भारत से लुप्त हो गए हैं, मगर तिब्बती अनुवाद में आज भी मौजूद हैं। अनुवाद-कार्य इतनी प्रामाणिकता और सावधानी से हुआ है कि आज तिब्बती से संस्कृत में पुनः अनुवाद किया जाए, तो लगभग मूल जैसी कृति उपलब्ध हो जाती है।

आज़ादी के बाद हमारे यहाँ भी इस बात पर ज़ोर दिया गया कि पहले पारिभाषिक शब्दकोश तैयार होने चाहिए, फिर विज्ञान के मानक ग्रंथों का हिन्दी में अनुवाद होना चाहिए। पारिभाषिक शब्दकोश तैयार करने का काम आज़ादी के पहले से ही होता आया है। अब वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग ने लगभग सभी वैज्ञानिक विषयों के पारिभाषिक शब्दकोश तैयार कर दिए हैं। तैयार हो गए, अच्छी बात है। मगर मैं इन्हें विशेष उपयोगी नहीं मानता। मैं इनका प्रयोग नहीं के बराबर करता हूँ।

एक ऐसे "अंग्रेज़ी-हिन्दी विज्ञान परिभाषा कोश" की आवश्यकता है जिसका विद्यार्थी, अध्यापक, अनुवादक और संपादक भी सहजता से उपयोग कर सकें। "विज्ञान-प्रसार" ने लगभग पंद्रह हज़ार शब्दों का ऐसा एक कोश तैयार करने की योजना अब में ली है। लेकिन विडम्बना यह है कि कई सरकारी योजनाएं, अच्छी होने पर भी, कार्यान्वित नहीं हो पातीं – लालफीताशाही कारण!

एक और विडम्बना यह है कि हम विज्ञान की पारिभाषिक शब्दावली को लेकर पहले से काफी परेशान हैं, मगर हमारे वैज्ञानिक स्वदेशी आविष्कारों और तकनीकी उपलब्धियों को भी अंग्रेज़ी नाम देते चले जा रहे हैं। हर साल सैकड़ों नए-नए अंग्रेज़ी शब्द हमारे ऊपर लादे जा रहे हैं। उदाहरण के लिए, अमरीकी रॉकेटों को अपोलो, सैटर्न जैसे नाम दिए गए। मगर स्वदेशी रॉकेटों को हमारे वैज्ञानिकों ने एएसएलवी, पीएसएलवी जैसे अंग्रेज़ी नाम दिए। समझना कठिन नहीं है कि यह किस तरह की मानसिकता का परिणाम है।

हिन्दी में वैज्ञानिक ग्रंथों के अनुवाद का हश्र भी हम देख चुके हैं। कई प्रांतीय हिन्दी समितियों/अकादमियों ने वैज्ञानिक ग्रंथों के अनुवाद प्रस्तुत किए हैं। उनसे कोई विशेष लाभ नहीं हुआ है। सबसे रद्दी अनुवाद वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग की अनुवाद योजना के अंतर्गत छपे हैं। मेरा मत है कि अब हमें मौलिक वैज्ञानिक साहित्य के सृजन पर ही अधिक ध्यान देना चाहिए। इसमें विज्ञानकर्मियों का सहयोग तो परमावश्यक है ही, साहित्यकारों का भी सक्रिय सहयोग आवश्यक है।

कार्यालयों में हिन्दी

महेश चन्द्र गुप्त*

दिसंबर 1967 ई० में भारत की संसद के दोनों सदनों में एक संसदीय संकल्प सर्वसम्मति से पारित हुआ। वह संकल्प राजभाषा नीति और उसके कार्यान्वयन के विषय में था जो गृह मंत्रालय के दिनांक 18 जनवरी 1968 के संख्या 5/6/65 के अंतर्गत परिचालित हुआ। संकल्प का प्रथम पैरा इस प्रकार है:-

संकल्प:- "जबकि संविधान के अनुच्छेद 343 के अनुसार संघ की राजभाषा हिन्दी रहेगी और उसके अनुच्छेद 351 के अनुसार हिन्दी भाषा की प्रसार वृद्धि करना और उसका विकास करना ताकि वह भारत की सामासिक संस्कृति के सभी तत्त्वों की अभिव्यक्ति का माध्यम हो सके, संघ का कर्तव्य है।

यह सभा संकल्प करती है कि हिन्दी के प्रसार एवं विकास की गति बढ़ाने हेतु तथा संघ के विभिन्न राजकीय प्रयोजनों के लिए उत्तरोत्तर इसके प्रयोग हेतु भारत सरकार द्वारा एक अधिक गहन एवं व्यापक कार्यक्रम तैयार किया जाएगा और किए जाने वाले उपायों एवं की जाने वाली प्रगति की वार्षिक मूल्यांकन रिपोर्ट संसद की दोनों सभाओं के पटल पर रखी जाएगी और सब राज्य सरकारों को भेजी जाएगी।"

कार्यक्रम:- तदनुसार गृहमंत्रालय के राजभाषा विभाग की ओर से प्रति वर्ष वार्षिक कार्यक्रम तैयार किए जाते रहे हैं। अब तक ऐसे 31 वार्षिक कार्यक्रम तैयार हुए और अब 1999-2000 का वार्षिक कार्यक्रम लागू है। उल्लिखित कार्यक्रम में हिन्दी में कार्य करने के लक्ष्य निर्धारित किए गए हैं जो न्यूनतम हैं, जिनके अनुसार तो हिन्दी में काम होना ही चाहिए और लक्ष्यों से अधिक कार्य करने में तो किसी प्रकार की बाधा है ही नहीं।

---

* अभियंता-साहित्यकार और लेखक

विद्यमान लक्ष्यों के अनुसार, राजभाषा नियमों में वर्णित 'क' और 'ख' क्षेत्रों में केन्द्रीय सरकारी कार्यालयों में (निगमों, उपक्रमों, बैंकों आदि सहित) उन अधिकारियों और कर्मचारियों को, जिन्हें हिन्दी का कार्यसाधक ज्ञान है, न्यूनतम क्रमशः 50% और 35% टिप्पणियाँ हिन्दी में लिखनी चाहिएं। किन्तु 'ग' क्षेत्र में यह लक्ष्य मात्र 20% है। इन लक्ष्यों में एक गम्भीर त्रुटि है। हिन्दी में प्रवीण अधिकारियों को, यदि उनके कार्यालय, 80% से अधिक स्टाफ को हिन्दी का कार्यसाधक ज्ञान प्राप्त होने के कारण भारत के राजपत्र में अधिसूचित हुए हैं, सारी टिप्पणियाँ हिन्दी में ही लिखनी चाहिएं अर्थात् उनके लिए 100% का लक्ष्य होना चाहिए। इस विषय में गृह मंत्रालय, राजभाषा विभाग का दिनांक 23 नवम्बर 1987 का और 5 सितम्बर 1988 का कार्यालय ज्ञापन संख्या 1/14013/9/87 – रा भा (क–1) लागू होते हैं।

जहाँ तक हिन्दी में पत्राचार की स्थिति है उसके लक्ष्य क्रमशः 'क' क्षेत्र में स्थित केन्द्रीय सरकारी कार्यालयों (निगमों, उपक्रमों, बैंकों आदि सहित) से 'क' और 'ख' क्षेत्रों में स्थित केन्द्रीय सरकारी कार्यालयों, किसी राज्य या संघ राज्य क्षेत्र की सरकारों तथा उनमें व्यक्तियों को भेजे जाने वाले सभी पत्रादि अर्थात् पत्र, तार-वेतार, टेलेक्स, फैक्स, आरेख (ड्राइंग) सब हिन्दी में ही भेजे जाने चाहिएं। 'ख' क्षेत्र में स्थित कार्यालयों के लिए यह लक्ष्य 90% का है जहाँ तक केन्द्रीय सरकारी कार्यालयों से केन्द्रीय सरकारी कार्यालयों को भेजे जाने वाले पत्रों आदि का संबंध है, किन्तु राज्य सरकारों और व्यक्तियों को 100% पत्रादि हिन्दी में भेजे जाने चाहिएं।

'क' क्षेत्र में स्थित केन्द्रीय सरकारी कार्यालयों से 'ग' क्षेत्र में स्थित केन्द्रीय सरकारी कार्यालयों को 65% पत्रादि हिन्दी में भेजे जाने चाहिएं किन्तु 'ख' क्षेत्र में स्थित केन्द्रीय सरकारी कार्यालयों से 'ग' क्षेत्र में स्थित केन्द्रीय सरकारी कार्यालयों को 55% पत्रादि हिन्दी में भेजे जाने चाहिएं।

'ग' क्षेत्र में स्थित केन्द्रीय सरकारी कार्यालयों से 'क', 'ख' और 'ग' क्षेत्रों में स्थित केन्द्रीय सरकारी कार्यालयों को न्यूनतम 55% पत्रादि हिन्दी में भेजे जाने चाहिएं। रक्षा मंत्रालय की यूनिटों के लिए लक्ष्य कुछ भिन्न हैं जिनमें से यह उल्लेखनीय है कि तीनों सेनाओं के मुख्यालयों से रक्षा मंत्रालय सहित सब मंत्रालयों और विभागों आदि को सब पत्रादि अर्थात् 100% हिन्दी में भेजे जाने चाहिए। अन्य लक्ष्य अन्य कार्यालयों की भाँति है।

बैंक:– राष्ट्रीयकृत बैंकों के लिए पत्राचार आदि के सब लक्ष्य अन्य कार्यालयों की भाँति हैं किन्तु उनके लिए कुछ लक्ष्य अलग से भी निर्धारित हैं। वहाँ राजभाषा नियम 10(4) के अंतर्गत भारत के राजपत्र में अधिसूचित बैंकों की शाखाओं में – माँग ड्राफ्ट, सावधि जमा रसीदें बनाने, दैनिक बही भरने, पास बुक भरने, नए खाते खोलने आदि जैसे कार्य हिन्दी में ही होने हैं।

विदेशों में:– विदेशों में स्थित भारतीय कार्यालयों (दूतावासों सहित) के लिए विशेष वार्षिक कार्यक्रम बना है। उन कार्यालयों की ओर से भारत में स्थित केन्द्रीय सरकारी कार्यालयों को न्यूनतम 30% पत्रादि हिन्दी में भेजे जाने हैं। उल्लेखनीय है कि उनकी ओर से विदेशी सरकारों के साथ भी हिन्दी में पत्राचार आरम्भ किया जाना चाहिए और आवश्यकता होने पर संबंधित देश की भाषा में रूपान्तर साथ भेजा जा सकता है। सब कार्यालयों (निगमों, दूतावासों सहित) हिन्दी में कार्य करने/कराने हेतु न्यूनतम वांछित साधन तो अवश्य जुटाए ही जाने चाहिएं। विदेशी सरकारों को हिन्दी में भेजे जाने वाले पत्रादि के साथ यदि संबंधित देश की भाषा में रूपान्तर भेजना पड़े तो हिन्दी से अनुवाद की व्यवस्था दूतावास में कार्यरत उस कर्मचारी से कराई जा सकती है जो उस देश की भाषा जानता हो। सामान्यतः दूतावासों में संबंधित देश के नागरिक काम तो करते ही हैं। पूर्वोल्लिखित लक्ष्यों के साथ-साथ अनेक आनुषंगिक लक्ष्य भी निर्धारित किए गए हैं जिससे मुख्य लक्ष्यों की प्राप्ति हो सके।

उत्तरदायित्व:– इन लक्ष्यों की पूर्ति के लिए भारत सरकार ने प्रत्येक कार्यालय के प्रशासनिक प्रधान को उत्तरदायी बनाया है। इस विषय में राजभाषा नियमावली 1976 के नियम 12 के प्रावधान विशेष महत्त्व के हैं। वे हैं:–

केन्द्रीय सरकार के प्रत्येक कार्यालय के प्रशासनिक प्रधान का यह उत्तरदायित्व होगा कि वह:–

(i) यह सुनिश्चित करे कि अधिनियम और इन नियमों के उपबंधों और उपनियम (2) के अधीन जारी किए गए निदेशों का समुचित रूप से अनुपालन हो रहा है, और

(ii) इस प्रयोजन के लिए उपयुक्त और प्रभावकारी जाँच के लिए उपाय करे।

(2) केन्द्रीय सरकार अधिनियम और इन नियमों के उपबंधों के सम्यक् अनुपालन के लिए अपने कर्मचारियों और कार्यालयों को समय-समय पर आवश्यक निदेश जारी कर सकती है।

इस प्रकार केन्द्रीय सरकार ने सरकारी कामकाज में हिन्दी का प्रयोग सुनिश्चित करने के लिए सांविधानिक उपबंधों के अधीन नियम बनाकर पक्का मार्ग अंकित कर दिया है। इस नीति पथ में सभी केन्द्रीय सरकारी अधिकारियों के हार्दिक योगदान की भारी आवश्यकता है।

निरीक्षण:— राजभाषा हिन्दी में कामकाज कराने के लिए निरीक्षणों का विशेष महत्त्व है। निरीक्षण में यह आवश्यक है कि निरीक्षण अधिकारी अनुभागों में जाकर व्यक्तियों के काम का आकलन करे और हिन्दी में काम न हो रहा हो तो वार्तालाप करे और काम बढ़ाने के उपाय सुझाए और कार्यान्वयन की दिशा निश्चित करे। उच्च अधिकारियों से भी सम्पर्क स्थापित करे। वर्ष 1999-2000 के वार्षिक कार्यक्रम में प्रत्येक मंत्रालय/विभाग/मुख्यालय से यह अपेक्षा है कि वे वर्ष के दौरान कम से कम 25% स्थानीय अनुभागों/यूनिटों का निरीक्षण करें। निरीक्षण उच्च स्तर के अधिकारी करें तो अधिक प्रभाव पड़ेगा।

प्रोत्साहन:— हिन्दी में कार्य की मात्रा सतत् और उत्तरोत्तर बढ़े और कर्मचारीगण स्वप्रेरणा से काम करें, इसके लिए अनेक प्रोत्साहन योजनाएं लागू हैं जिनके अधीन हिन्दी में काम की मात्रा के आधार पर अनेक प्रोत्साहन पुरस्कार दिए जाते हैं। पुरस्कार और नकद धनराशि प्रासंगिक हैं किन्तु इन्हें राजभाषा हिन्दी में काम का मूलाधार नहीं बनाया जा सकता। यह व्यवस्था पूर्णतः अस्थायी है और इसको अधिकार बनने देना घातक होगा।

हिन्दी में कार्य:— हिन्दी में कार्य कराने के लिए अहर्निश प्रयत्न करने वाले स्वनामधन्य श्री हरिबाबू कंसल ने लिखा है— "भारत का नया संविधान 26 जनवरी 1950 से लागू हुआ। उस समय केन्द्रीय सरकार के सभी कार्यालयों में समस्त टाइपराइटर, सभी टाइपिस्ट तथा आशुलिपिक अंग्रेजी के थे। एक-एक विभाग में कई हज़ार फार्म काम में आते हैं तथा कुल मिलाकर भारत सरकार के विभिन्न कार्यालयों में लाखों प्रकार के फार्मों का उपयोग होता है, वे सभी अंग्रेजी में थे।

विभागीय कोड, मैनुअल तथा नियम संहिताएं भी अंग्रेज़ी में ही थीं। केन्द्रीय सरकार के अधिनियम तथा नियम अंग्रेज़ी में ही बनते रहे थे और उस रूप में ही उपलब्ध थे। लाखों कर्मचारी ऐसे थे जिन्हें हिन्दी का कार्यसाधक ज्ञान नहीं था"।*

जहाँ तक कर्मचारियों को हिन्दी सिखाने का प्रश्न है भारत के प्रथम राष्ट्रपति डा. राजेन्द्र प्रसादजी के आदेश के आधार पर अक्तूबर 1955 में हिन्दी कक्षाएँ गृह मंत्रालय के तत्त्वावधान में कार्यालय के समय में आरम्भ की गईं। अब तो भारत सरकार के कार्यालयों (उपक्रमों, निगमों और बैंकों सहित) के लगभग 90% कर्मचारी हिन्दी जानते हैं। राष्ट्रपतिजी के 27 अप्रैल 1960 के आदेश के अनुसार ही टंककों और आशुलिपिकों के लिए क्रमशः हिन्दी टंकण और हिन्दी आशुलिपि का ज्ञान अनिवार्य कर दिया गया और इनकी कक्षाएँ भी कार्यालय समय में आरम्भ हुईं। अब तक अधिकांश टंककों को तो हिन्दी टंकण कला सिखा दी गई है किन्तु आशुलिपिकों का प्रशिक्षण अभी तक पिछड़ी अवस्था में है।

मार्च 1961 में मंत्रि-मंडल के निर्णय के आधार पर सभी फार्म हिन्दी में भी छपवाने का कार्य आरम्भ हुआ जो अब तक लगभग पूरा हो गया है, यद्यपि प्रमादवश अनेक कार्यालयों में अनेक फार्म केवल अंग्रेज़ी में अभी भी छपवा लिए जाते है अथवा केवल अंग्रेज़ी में छपे हुए बाज़ार से खरीद लिए जाते हैं।

संहिताओं और नियमपुस्तकों के हिन्दी और अंग्रेज़ी में साथ-साथ (एक ही खंड में) सुलभ कराने के मामले में भी उल्लेखनीय प्रगति हुई है और मोटे अनुमान के अनुसार रक्षा मंत्रालय की शस्त्रास्त्रों की नियमपुस्तकों को छोड़कर अन्य मंत्रालयों और कार्यालयों (निगमों, उपक्रमों और बैंकों सहित) में अधिकांश कार्य पूरा हो गया है। किन्तु इस मामले में भी दोषी अधिकारियों और कार्यालयों की कमी नहीं है या जो हिन्दी के प्रति उपेक्षापूर्ण व्यवहार करते हुए कार्यालयीन संहिताओं और नियमपुस्तकों के हिन्दी अनुवाद हो जाने पर भी उन्हें केवल अंग्रेज़ी में छपवाने से नहीं चूकते क्योंकि किसी को इस गम्भीर त्रुटि के लिए दण्डित नहीं किया जाता और पूछ-ताछ होने पर वे कोई न कोई बहाना बनाकर या दोष हिन्दी अधिकारी के मत्थे मढ कर बच निकलते हैं।

---

* *राजभाषा हिन्दी संघर्ष के बीच*; हरिबाबू कंसल, पहला संस्करण - 1991, पृष्ठ - 80, प्रकाशक - सुधांशु बंधु, ई - 9/23, वसंत विहार, नई दिल्ली - 57

प्रारम्भः— संघ के राजकीय प्रयोजनों के लिए हिन्दी का प्रयोग प्राधिकृत करने वाला राष्ट्रपतिजी का प्रथम आदेश 27 मई 1952 को विधि मंत्रालय की अधिसूचना के रूप में भारत के राजपत्र में प्रकाशित हुआ। इस आदेश के अनुसार राष्ट्रपतिजी ने हिन्दी भाषा का प्रयोग राज्यों के राज्यपालों, उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों और उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्तियों के अधिपत्रों के लिए प्राधिकृत किया था।

राष्ट्रपतिजी का दूसरा आदेश गज़ट में 3 दिसम्बर 1955 को गृह मंत्रालय द्वारा अधिसूचित किया गया। इस आदेश का नाम 'संविधान (राजकीय प्रयोजनों के लिए हिन्दी भाषा) आदेश 1955' था। इस आदेश में निम्नलिखित राजकीय प्रयोजनों के लिए हिन्दी भाषा के प्रयोग की अनुमति दी गई:—

(1) जनता के साथ पत्र-व्यवहार।

(2) प्रशासनिक रिपोर्ट, राजकीय पत्रिकाएं और संसद को दी जाने वाली रिपोर्टें।

(3) सरकारी संकल्प और विधायी अधिनियमितियां।

(4) जिन राज्य सरकारों ने अपनी राजभाषा के रूप में हिन्दी को अपना लिया है, उनसे पत्र-व्यवहार।

(5) संधियाँ और करार।

(6) अन्य देशों की सरकारों और उनके दूतों तथा अंतर्राष्ट्रीय संगठनों से पत्र-व्यवहार।

(7) राजनयिक और कौंसलीय पदाधिकारियों और अंतर्राष्ट्रीय संगठनों में भारतीय प्रतिनिधियों के नाम जारी किए जाने वाले औपचारिक दस्तावेज़।

राजभाषा नियम-1976 और वार्षिक कार्यक्रमों की शृंखला बनने के कारण राजभाषा हिन्दी में कामकाज को स्वस्थ और सुनिश्चित दिशा मिल गई है। अब हिन्दी किसी आदेश की मुखापेक्षी नहीं है। अब तो बस कर्मचारियों की निष्ठा और अधिकारियों का संकल्प राष्ट्र को उसकी वाणी दे सकते हैं, किन्तु इन दोनों का अभाव तो है ही।

केन्द्रीय सचिवालय हिन्दी परिषद का हिन्दी में सरकारी कामकाज को सुगम बनाने वाला साहित्य, दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा, चेन्नई, राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा, गुजरात प्रान्तीय राष्ट्रभाषा प्रचार सभा, अहमदाबाद, मुंबई प्रान्तीय राष्ट्रभाषा प्रचार सभा, कर्नाटक महिला हिन्दी सेवा समिति, बेंगलूर, मैसूर हिन्दी प्रचार सभा, बेंगलूर, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, असम प्रान्तीय राष्ट्रभाषा प्रचार सभा, अ. भा. हिन्दी संस्था संघ जैसी अनेक संस्थाओं के हिन्दी शिक्षण कार्य के फलस्वरूप हिन्दी प्रयोग का वातावरण तो बना है, किन्तु अनेक शक्तियां हिन्दी प्रयोग के मार्ग में बाधा डालने में सक्रिय हैं जिनका यहाँ उल्लेख प्रासंगिक नहीं है, उनमें से एक ब्रिटिश काउंसिल भी है जो शिक्षा में अंग्रेज़ी के वर्चस्व को बने रहने देने के लिए सचेष्ट है। कान्वेन्ट स्कूलों में पढ़े भारतीय भी इसी श्रृंखला में हैं।

हिन्दी प्रयोग की वर्तमान स्थिति:— समय बीत रहा है जो कभी हाथ में नहीं आएगा, जो कभी लौटेगा नहीं। हिन्दी में काम हुआ है और हो रहा है। पत्राचार में हिन्दी प्रयोग बढ़ा है। टिप्पणियाँ भी हिन्दी में लिखी जाती हैं। आरेख हिन्दी में बनते हैं। कहीं कहीं करार भी हिन्दी में बनते हैं यद्यपि उन्हें हिन्दी में भी बनाना अनिवार्य है। हिन्दी में अनेक पत्रिकाएँ प्रकाशित होती हैं। कार्यालयों में हिन्दी प्रयोग का वातावरण बनाने के लिए विभिन्न प्रकार की प्रतियोगिताएं आयोजित होती हैं। कार्यशालाएं कराई जाती हैं। साहित्यिक और सांस्कृतिक कार्यक्रम होते हैं। पर हिन्दी प्रयोग के मार्ग में बाधाओं की भी कमी नहीं। बाधकों का भी अभाव नहीं है। जिन्हें साधक होना चाहिए वे अपने ही बाधक हैं।

मंत्रालयों/विभागों में हिन्दी में कामकाज के आँकड़े बोलते हैं। वे, एक वर्ष (सन् 1996-97) में हिन्दी में पत्र-व्यवहार के आँकड़ों की तुलना विगत 5-7 वर्षों में से किसी एक वर्ष के आँकड़ों से करने पर हिन्दी में कामकाज की दिशा में गंभीर प्रयत्नों के अभाव की ओर स्पष्ट संकेत करते हुए दिखेंगे। यहाँ पर वर्ष 1996-97 में हुए पत्र-व्यवहार के कुछ आँकड़े दिए गए हैं।

मंत्रालय/विभाग/कार्यालय	हिन्दी में प्रेषित पत्रादि	अंग्रेज़ी में प्रेषित पत्रादि
1. अंतरिक्ष विभाग (सचिवालय)	622	914
2. (क) इस्पात मंत्रालय	12,324	20,675
(ख) स्टील अथारिटी ऑफ इंडिया	5,24,577	5,82,851
(ग) राष्ट्रीय खनिज विकास निगम (एन. एम. डी. सी.)	22,624	21,586
3. कल्याण मंत्रालय	8,089	23,341
4. (क) प्रशासनिक सुधार और लोक शिकायत विभाग	16,124	2,139
(ख) कार्मिक और प्रशिक्षण विभाग	16,103	74,187
(ग) लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रीय प्रशासन अकादमी मसूरी (उ. प्र.)	4,731	498
(घ) केंद्रीय अन्वेषण ब्यूरो	1,159	3,036
5. खाद्य मंत्रालय	23,627	9,231
6. (क) गृह मंत्रालय	33,777	8,210
(ख) भारतीय तिब्बत सीमा पुलिस	4,15,426	70,384
(ग) पुलिस अनुसंधान एवं विकास ब्यूरो	6,771	39,943
7. जल संसाधन मंत्रालय	15,278	19,453
8. परमाणु ऊर्जा विभाग	934	39,404
9. पर्यावरण और वन मंत्रालय	19,174	7,610
10. (क) पेट्रोलियम एवं प्राकृतिक गैस मंत्रालय	आँकड़े सुलभ नहीं हो सके	
(ख) आइ. बी. पी. कं. लि.	71,491	1,05,094
(ग) इंजीनियर्स इंडिया लि.	58,148	1,69,126
(घ) इंडियन ऑयल कॉर्पोरेशन	3,06,924	10,88,356
(ङ) गैस अथॉरिटी ऑफ इंडिया लि.	83,974	1,01,449

मंत्रालय/विभाग/कार्यालय	हिन्दी में प्रेषित पत्रादि	अंग्रेज़ी में प्रेषित पत्रादि
11. (क) महिला एवं बाल विकास विभाग	10,164	15,411
(ख) युवा कार्यक्रम एवं खेल विभाग	9,388	11,239
(ग) भारतीय खेल प्राधिकरण	7,058	15,019
(घ) संस्कृति विभाग	1,825	6,079
12. महासागर विकास विभाग	11,096	5,925
13. योजना आयोग	12,871	8,948
14. रेल मंत्रालय	6,870	59,140
15. (क) विधायी विभाग, विधि एवं न्याय मंत्रालय	64,435	960
(ख) आयकर अपीलीय अधिकरण	94,543	88,292
16. विदेश मंत्रालय	10,045	40,631
17. (क) वित्त मंत्रालय, बैंकिंग प्रभाग	10,585	23,147
(ख) इंडियन ओवरसीज़ बैंक	2,07,921	4,01,944
(ग) स्टेट बैंक ऑफ मैसूर	-----	19,570
(घ) यूको बैंक	6,61,905	2,84,809
(ङ) स्टेट बैंक ऑफ बीकानेर एंड जयपुर	31,65,582	2,83,943
(च) पंजाब नेशनल बैंक	94,97,892	6,14,259
(छ) इलाहाबाद बैंक	13,10,263	2,28,271
(ज) भारतीय स्टेट बैंक	90,99,335	32,75,693
(झ) राजस्व विभाग	18,635	52,975
(ञ) कंपनी कार्य विभाग	04	070
(ट) व्यय विभाग	5,188	15,545
18. स्वास्थ्य और परिवार कल्याण मंत्रालय	3,983	11,800
19. संसदीय कार्य मंत्रालय	15,513	3,432

मंत्रालय/विभाग/कार्यालय	हिन्दी में प्रेषित पत्रादि	अंग्रेज़ी में प्रेषित पत्रादि
20. सूचना और प्रसारण मंत्रालय	10,495	4,272
21. भारत निर्वाचन आयोग	137	09
22. मंत्रिमंडल सचिवालय	16,929	26,492
23. खान मंत्रालय	1,606	3,732
24. इलेक्ट्रॉनिक विभाग	-----	6,502
25. (क) उद्योग मंत्रालय, लोक उद्यम विभाग	11,564	8,422
(ख) भारी उद्योग विभाग	5,874	8,949
(ग) औद्योगिक नीति और संवर्धन विभाग	41,423	20,286
(घ) खादी और ग्रामोद्योग आयोग, मुंबई	11,517	4,278
26. कोयला मंत्रालय	9,654	15,210
27. अपारंपरिक ऊर्जा स्रोत मंत्रालय	3,896	10,519
28. (क) विद्युत मंत्रालय	4,085	6,975
(ख) केंद्रीय विद्युत प्राधिकरण	30,184	33,847
(ग) नेशनल थर्मल पॉवर कॉर्पोरेशन	24,651	26,179
(घ) नेशनल हाइड्रोइलेक्ट्रिक पॉवर कॉर्पोरेशन	11,730	22,750
(ङ) पॉवर ग्रिड कार्पोरेशन ऑफ इंडिया लि.	39,402	33,322
(च) नाथपा झाकरी पॉवर कॉर्पोरेशन	53,605	49,481
29. (क) कृषि मंत्रालय	274	189
(ख) भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद	6,695	32,663
(ग) कृषि एवं सहकारिता विभाग तथा कार्यालय	1,15,168	1,55,480
30. (क) कार्यक्रम कार्यान्वयन विभाग	12,374	1,984
(ख) सांख्यिकी विभाग	9,129	2,241

मंत्रालय/विभाग/कार्यालय	हिन्दी में प्रेषित पत्रादि	अंग्रेजी में प्रेषित पत्रादि
31. (क) नागरिक आपूर्ति, उपभोक्ता मामले और सार्वजनिक वितरण मंत्रालय	19,863	13,840
(ख) वनस्पति, वनस्पति तेल तथा वसा निदेशालय	48	115
(ग) वायदा बाजार आयोग, मुंबई	1,802	609
(घ) भारतीय मानक ब्यूरो	66,747	50,776
(ङ) सुपर बाजार, दिल्ली	3,531	271
32. जल भूतल परिवहन मंत्रालय	28,444	45,140
33. (क) नागर विमानन मंत्रालय	4,919	16,545
(ख) राष्ट्रीय विमानपत्तन प्राधिकरण	96,779	46,349
(ग) एयर इंडिया लि.	55,869	70,889
34. (क) रसायन एवं उर्वरक मंत्रालय	2,023	11,978
(ख) हिन्दुस्तान इंसेक्टिसाइड्स लि.	2,925	7,085
(ग) इंडियन पेट्रोकेमिकल्स कॉर्पोरेशन	5,830	30,500
(घ) इंडियन ड्रग्स एंड फार्मास्युटिकल्स लि. गुड़गाँव	4,047	10,421
35. (क) रक्षा मंत्रालय	21,093	22,596
(ख) थल सेना मुख्यालय	1,97,588	51,369
(ग) रक्षा मंत्रालय के उपक्रम	7,954	41,236
(घ) रक्षा लेखा विभाग	10,35,358	11,78,845
36. (क) वाणिज्य मंत्रालय	15,053	21,177
(ख) पूर्ति विभाग	6,404	3,580
37. (क) विज्ञान और प्रौद्योगिकी मंत्रालय, वैज्ञानिक और औद्योगिक अनुसंधान विभाग	6,255	7,030
(ख) विज्ञान और प्रौद्योगिकी विभाग	15,111	28,704

मंत्रालय/विभाग/कार्यालय	हिन्दी में प्रेषित पत्रादि	अंग्रेज़ी में प्रेषित पत्रादि
38. (क) वस्त्र मंत्रालय	4,293	10,521
(ख) सेंट्रल कॉटेज इंडस्ट्रीज़ कॉर्पोरेशन	5,298	2,620
(ग) केंद्रीय रेशम बोर्ड बेंगलूर	8,641	13,146
(घ) नेशनल हैंडलूम डिवेलपमेंट कॉर्पोरेशन	7,553	1,212
(ङ) विकास आयुक्त (हथकरघा)	3,206	10,568
39. (क) शहरी कार्य और रोज़गार मंत्रालय	7,294	6,133
(ख) केंद्रीय लोक निर्माण विभाग	1,57,690	79,861
(ग) मुद्रण निदेशालय	9,872	9,264
(घ) संपदा निदेशालय	55,280	42,833
(ङ) दिल्ली विकास प्राधिकरण	43,919	26,662
40. (क) संचार मंत्रालय (दूरसंचार विभाग)	23,697	25,803
(ख) डाक विभाग	9,956	6,274
41. श्रम मंत्रालय	15,898	7,439
42. संघ लोक सेवा आयोग	3,24,143	62,673
43. ग्रामीण क्षेत्र और रोज़गार मंत्रालय	19,496	25,484
44. जैव-प्रौद्योगिकी विभाग	1,887	10,418

(राजभाषा विभाग, गृह मंत्रालय की 28वीं वार्षिक मूल्यांकन रिपोर्ट, 1996-97 से साभार)

प्रयोग कैसे बढ़े:— अनेक प्रकार के उपायों से हिन्दी प्रयोग बढ़ सकता है। उनमें से एक उपाय यह है कि केन्द्रीय सरकार के समूह 'क' के या उस स्तर के अधिकारियों की वार्षिक गोपनीय रपट में एक मद्द यह भी रहनी चाहिए कि अधिकारी ने स्वयं कितना कार्य हिन्दी में किया है, उसके अधीन अनुभाग/शाखा/मण्डल/प्रभाग आदि में कितना काम हिन्दी में हो रहा है, नवीन प्रकार के किन-किन कार्यों में हिन्दी प्रयोग का प्रयत्न किया गया है, इस दिशा में उनकी पहल

का विवेचन किया जाए। अंग्रेज़ी के आशुलिपिकों की भर्ती पर रोक लगाई जाए। भर्ती और प्रोन्नति की परीक्षाओं से अंग्रेज़ी भाषा का अनिवार्य प्रश्न-पत्र हटाया जाए या उसके विकल्प में हिन्दी का प्रश्न-पत्र होना चाहिए।

आँकड़ों में धोखाधड़ी:— कुछ कार्यालयों से हिन्दी में भेजे जाने वाले पत्रों की संख्या बढ़ाने के लिए विभिन्न प्रकार की अंग्रेज़ी में तैयार हुई सामग्री का अग्रेषण पत्र मात्र हिन्दी में लगाकर भेजा जाता है जो निंदनीय है।

कुछ कार्यालयों से अंग्रेज़ी में बने पत्रों पर हिन्दी में हस्ताक्षर कराकर उन्हें हिन्दी में प्रेषित पत्रों की संख्या में जोड़ लिया जाता है जो कि नितांत अनुचित है। कुछ कार्यालयों की ओर से पत्र अंग्रेज़ी में भेजकर बाद में हिन्दी रूपान्तर भेज कर उनकी गणना हिन्दी के पत्रों में करा ली जाती है। यहाँ तक धांधली होती है कि हिन्दी रूपान्तर कराकर पत्रावली में रख लिया जाता है, उसे भेजा नहीं जाता। ये सब कृत्य-कुकृत्य हैं। ऐसे अधिकारीगण अपने आप को धोखा दे रहे हैं।

लोकतंत्र में लोक भाषा में कार्य करना गौरव की बात होनी चाहिए। देश के लोक को जागृत होकर हिन्दी में काम कराने के लिए संघर्ष करना पड़ेगा जिसके लिए अब समय आ गया है।

लोक सेवा परीक्षाओं में हिन्दी

बलदेव वंशी*

आज से पचास वर्ष पूर्व 14 सितम्बर 1949 को संविधान सभा की एक बैठक में हिन्दी को भारत की राजभाषा स्वीकार किया गया। अतः 14 सितम्बर 1999 से 14 सितम्बर 2000 तक एक वर्ष पर्यन्त राजभाषा हिन्दी की स्वर्णजयंती मनायी जा रही है। भारत सरकार की ओर से विशेष प्रतिनिधि मंडल द्वारा 'विश्व हिन्दी जयंती सम्मेलन' लन्दन में राजभाषा हिन्दी की स्वर्णजयंती मनायी गयी। 15 सितम्बर से 19 सितम्बर तक। राष्ट्रसंघ में हिन्दी को एक भाषा के रूप में स्थान देने की माँग भी जोर-शोर से रखी गयी। 14 सितम्बर 1949 को संविधान सभा में हिन्दी को देश की राजभाषा बनाने का प्रस्ताव एक दक्षिण भारतीय प्रसिद्ध तमिलभाषी नेता श्री गोपालस्वामी आयंगर ने रखा था, जो एकमत से पारित हुआ।

भारत के संविधान के राजभाषा अध्याय–4, विशेष निदेश, अनुच्छेद 351 के अनुसार "हिन्दी भाषा के विकास के लिए निर्देश" के अंतर्गत "संघ का यह कर्त्तव्य होगा कि वह हिन्दी भाषा का प्रसार बढ़ाए, उसका विकास करे, जिससे वह भारत की सामासिक संस्कृति के सभी तत्त्वों की अभिव्यक्ति का माध्यम बन सके और उसकी प्रकृति में हस्तक्षेप किए बिना हिन्दुस्तानी में और आठवीं अनुसूची में विनिर्दिष्ट भारत की अन्य भाषाओं में प्रयुक्त रूप, शैली और पदों को आत्मसात करते हुए और जहाँ आवश्यक या वांछनीय हो वहाँ उसके शब्द भंडार के लिए मुख्यतः संस्कृत से और गौणतः अन्य भाषाओं से शब्द ग्रहण करते हुए उसकी समृद्धि सुनिश्चित करे।" अतः 26 जनवरी 1950 से संविधान के अनुसार हिन्दी भारत संघ की राजभाषा बन चुकी है। संविधान के अनुच्छेद 343(1) में स्पष्ट उल्लेख है "संघ

* कवि और साहित्यकार, रीडर, हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, नई दिल्ली

की राजभाषा हिन्दी और लिपि देवनागरी होगी" और अनुच्छेद 344 के अधीन राजभाषा के संबंध में आयोग और संसद की समिति के गठन का प्रावधान रखा गया है। यह अनुच्छेद कहता है "(i) राष्ट्रपति इस संविधान के आरंभ से पाँच वर्ष की समाप्ति पर और तत्पश्चात ऐसे प्रारंभ से दस वर्ष की समाप्ति पर, आदेश द्वारा, एक आयोग गठित करेगा जो एक अध्यक्ष और आठवीं अनुसूची में विनिर्दिष्ट विभिन्न भाषाओं का प्रतिनिधित्व करने वाले ऐसे अन्य सदस्यों से मिल कर बनेगा जिनको राष्ट्रपति नियुक्त करे और आदेश में आयोग द्वारा अनुसरण की जाने वाली प्रक्रिया परिनिश्चित की जायेगी।"

अनुच्छेद 344(4)–"एक समिति गठित की जायेगी जो तीस सदस्यों से मिलकर बनेगी जिनमें से बीस लोक सभा के सदस्य होंगे और दस राज्य सभा के सदस्य होंगे, जो क्रमशः लोक सभा के सदस्यों और राज्य सभा के सदस्यों द्वारा आनुपातिक प्रतिनिधित्व पद्धति के अनुसार एकल संक्रमणीय मत द्वारा निर्वाचित होंगे।" 344(5)–"समिति का यह कर्तव्य होगा कि वह खंड (1) के अधीन गठित आयोग की सिफारिशों की परीक्षा करे और राष्ट्रपति को उन पर अपनी राय के बारे में प्रतिवेदन दे।" 344(6)–"अनुच्छेद 343 में किसी बात के होते हुए भी, राष्ट्रपति खंड (5) में निर्दिष्ट प्रतिवेदन पर विचार करने के पश्चात उस सम्पूर्ण प्रतिवेदन के या उसके किसी भाग के अनुसार निदेश दे सकेगा।"

उक्त उद्धरणों से स्पष्ट है भारत संघ की राजभाषा हिन्दी है किन्तु उसके बाद के नियम-उपनियम और व्यवहार मूल भावना पर इस कदर हावी होते गये हैं कि मूल भावना संवैधानिक अधिकार मज़ाक बन कर रह गया है। राजभाषा अधिनियम, 1963, (1967 में यथा संशोधित) के अनुसार केन्द्रीय सरकार का कामकाज अंग्रेज़ी में किया जा सकता है। राजभाषा नियम 1976 बनने से 'क' क्षेत्र के केन्द्रीय कार्यालयों में काम केवल हिन्दी में तथा कुछ कार्य 'ख' क्षेत्र में हिन्दी और अंग्रेज़ी – दोनों भाषाओं में, तथा 'ग' क्षेत्र के राज्यों की सरकारों को पत्रादि अंग्रेज़ी में लिखे जाने के प्रावधान हैं। राजभाषा नियमावली, 1976 के अनुसार भाषा के प्रयोग की दृष्टि से देश के विभिन्न प्रदेशों को निम्नलिखित वर्गों में रखा गया है:-

(i) 'क' क्षेत्र में सभी हिन्दी भाषी राज्य – बिहार, हरियाणा, हिमाचल प्रदेश, मध्य प्रदेश, राजस्थान और उत्तर प्रदेश आते हैं। तथा दिल्ली और अण्डमान तथा निकोबार द्वीप समूह संघ राज्य क्षेत्र है।

(ii) 'ख' क्षेत्र में – गुजरात, महाराष्ट्र और पंजाब राज्य तथा संघ शासित क्षेत्र चण्डीगढ़ है।

(iii) 'ग' क्षेत्र में देश के शेष भाग।

उक्त संवैधानिक उद्धरणों से यह भी स्पष्ट और पुष्ट हो जाता है कि भारत की राजभाषा हिन्दी है तथा कुछ विशेष कारणोंवश कुछ समयावधि के लिए अंग्रेज़ी को हिन्दी के साथ-साथ जारी रखना पड़ रहा है। किन्तु राष्ट्रपति जब चाहें 344(6) के अनुसार हिन्दी की संपूर्ण या आंशिक बहाली के आदेश, संसदीय समिति की संस्तुति पर दे सकते हैं।

अब हम लोक सेवा परीक्षाओं में हिन्दी की स्थिति पर विचार करना चाहेंगे। संसद के दोनों सदनों ने 1967 में सर्वसम्मति से एक संकल्प पारित किया, जिसे 18 जनवरी 1968 को राजपत्र में प्रकाशित किया, इस संकल्प के पैरा 4 (क) के अनुसार संघ सेवाओं अथवा पदों के लिए भर्ती करने हेतु उम्मीदवारों के चयन के समय हिन्दी अथवा अंग्रेज़ी में से किसी एक का ज्ञान अनिवार्यतः अपेक्षित होगा, और (ख) अखिल भारतीय एवं उच्चतर सेवा सम्बन्धी परीक्षाओं के लिए संविधान की आठवीं अनुसूची में सम्मिलित सभी भाषाओं तथा अंग्रेज़ी को वैकल्पिक माध्यम के रूप में रखने की अनुमति होगी। यह भी ध्यान देने योग्य तथ्य है कि 11 जनवरी 1991 को पुनः उक्त संकल्प को संसद ने दोहराते हुए हिन्दी को विकल्प देने पर ज़ोर दिया है।

संघ लोक सेवा आयोग की उन परीक्षाओं की सूची यहाँ दी जा रही है जिनमें अंग्रेज़ी का प्रश्न-पत्र या प्रश्न-पत्र का भाग अनिवार्य होता है। इन्हीं परीक्षाओं में भारतीय भाषाओं को विकल्प देने की माँग की जा रही है।

परीक्षा का नाम	अंग्रेजी प्रश्न-पत्र का स्तर	अंग्रेजी प्रश्न-पत्र का स्वरूप	अंग्रेजी प्रश्न-पत्र का महत्त्व
1. सिविल सेवा (प्रधान) परीक्षा	मैट्रिकुलेशन	परम्परागत शैली	केवल अर्हक
2. आशुलिपिक परीक्षा	मैट्रिकुलेशन	वस्तुपरक शैली	33.3 प्रतिशत
3. सहायक ग्रेड परीक्षा	स्नातक	व० शै०	40.0 प्रतिशत
4. भारतीय वन सेवा परीक्षा	स्नातक (विज्ञान या इंजी.)	व० शै०	21.4 प्रतिशत
5. इंजीनियरिंग सेवा परीक्षा	स्नातक (विज्ञान या इंजी.)	व० शै०	20.0 प्रतिशत
6. भारतीय आर्थिक सेवा सांख्यिकी सेवा परीक्षा	स्नातक	व० शै०	16.7 प्रतिशत
7. भूविज्ञानी परीक्षा	स्नातक (विज्ञान)	व० शै०	15.4 प्रतिशत
8. सम्मिलित रक्षा सेवा परीक्षा	स्नातक	व० शै०	33.3 प्रतिशत
9. राष्ट्रीय रक्षा अकादमी तथा नौसेना अकादमी परीक्षा	10+2	व० शै०	22.2 प्रतिशत
10. स्पेशल क्लास रेलवे अप्रेन्टिस परीक्षा	इन्टरमीडिएट	व० शै०	14.3 प्रतिशत

सिविल सेवा परीक्षा (पहले भारतीय प्रशासनिक सेवा आदि परीक्षा के रूप में प्रचलित) भारत सरकार के गृहमंत्रालय (कार्मिक तथा प्रशासनिक सुधार विभाग) द्वारा समय-समय पर अधिसूचित नियमावली के अनुसार आयोग द्वारा आयोजित होती है। इस परीक्षा के द्वारा आमतौर पर जिन सेवाओं में भर्ती की जाती है, वे निम्न प्रकार हैं:–

(i) भारतीय प्रशासनिक सेवा
(ii) भारतीय विदेश सेवा
(iii) भारतीय पुलिस सेवा
(iv) भारतीय डाक तार लेखा तथा वित्त सेवा ग्रुप "क"

(v) भारतीय लेखा परीक्षा तथा लेखा सेवा ग्रुप "क"
(vi) भारतीय सीमा शुल्क तथा केन्द्रीय उत्पाद शुल्क ग्रुप (क)
(vii) भारतीय रक्षा लेखा सेवा ग्रुप "क"
(viii) भारतीय आयकर सेवा ग्रुप "क"
(ix) भारतीय आयुध कारखाना सेवा ग्रुप "क" (सहायक प्रबंधक-गैर तकनीकी)
(x) भारतीय डाक सेवा ग्रुप "क"
(xi) भारतीय सिविल लेखा सेवा ग्रुप "क"
(xii) भारतीय रेल लेखा सेवा ग्रुप "क"
(xiii) भारतीय रेल यातायात सेवा ग्रुप "क"
(xiv) भारतीय रेल कार्मिक सेवा ग्रुप "क"
(xv) सहायक सुरक्षा अधिकारी ग्रुप "क" के पद (रेल संरक्षक दल)
(xvi) सैन्यभूमि तथा छावनी सेवा ग्रुप "क"
(xvii) केन्द्रीय सूचना सेवा ग्रुप "क" (ग्रेड–II)
(xviii) केन्द्रीय सचिवालय सेवा ग्रुप "ख" (अनुभाग अधिकारी ग्रेड)
(xix) रेल बोर्ड सचिवालय सेवा ग्रुप "ख" (अनुभाग अधिकारी ग्रेड)
(xx) भारतीय विदेश सेवा ग्रुप "ख" (अनुभाग अधिकारी ग्रेड)
(xxi) सशस्त्र सेना मुख्यालय सिविल सेवा ग्रुप "ख" (सहायक सिविल स्टाफ अधिकारी ग्रेड)
(xxii) सीमा शुल्क मूल्य निरूपक सेवा ग्रुप "ख"
(xxiii) दिल्ली तथा अंडमान एवं निकोबार द्वीप समूह सिविल सेवा ग्रुप "ख"
(xxiv) पांडिचेरी सिविल सेवा ग्रुप "ख"
(xxv) गोवा, दमन तथा दियु सिविल सेवा ग्रुप "ख"
(xxvi) दिल्ली तथा अंडमान एवं निकोबार द्वीप समूह पुलिस सेवा ग्रुप "ख"
(xxvii) पांडिचेरी पुलिस सेवा ग्रुप "ख"
(xxviii) गोवा, दमन तथा दियु पुलिस सेवा ग्रुप "ख"
(xxix) केन्द्रीय औद्योगिक सुरक्षा बल में सहायक कमान के ग्रुप "ख"

2. सिविल सेवा परीक्षा के दो क्रमिक चरण होंगे:–
(i) सिविल सेवा (प्रारंभिक) परीक्षा
(ii) सिविल सेवा (प्रधान) परीक्षा (लिखित तथा साक्षात्कार)

संसदीय राजभाषा समिति के प्रतिवेदन के तीसरे खंड में की गई सिफारिशों पर राष्ट्रपतिजी का आदेश। भारत सरकार, गृहमंत्रालय (राजभाषा विभाग) के दिनांक 4 नवम्बर 1991 के संकल्प सं० 13015/1/91 रा. भा. (घ) की प्रति (ज) राजभाषा संकल्प, 1968 के परिप्रेक्ष्य में विभन्न भर्ती नियमों की समीक्षा–

"समिति ने सिफारिश की है कि संसद द्वारा पारित राजभाषा संकल्प 1968 के परिप्रेक्ष्य में सभी पदों के भर्ती नियमों की इस दृष्टि से समीक्षा की जाए कि भर्ती के समय अंग्रेज़ी अथवा हिन्दी का अथवा दोनों भाषाओं का ज्ञान निर्धारित करना आवश्यक है या नहीं। जहाँ किसी पद विशेष के लिए किसी विशेष भाषा का ज्ञान अनिवार्य करना आवश्यक न हो, वहाँ हिन्दी अथवा अंग्रेज़ी के ज्ञान का विकल्प प्रत्याशी के लिए उपलब्ध होना चाहिए और भर्ती के समय हिन्दी का ज्ञान न होने पर उसे परीक्षा अवधि के दौरान अर्जित करने का प्रावधान किया जाना चाहिए"। इस पर राष्ट्रपतिजी का आदेश कहता है, "समिति की सिफारिश स्वीकार कर ली गई है। राजभाषा विभाग इस संबंध में कार्मिक तथा प्रशिक्षण विभाग के परामर्श से सभी मंत्रालयों/विभागों से अनुरोध करे कि वह उपर्युक्त के परिप्रेक्ष्य में भर्ती नियमों की एक समयबद्ध कार्यक्रम के अनुसार पुनरीक्षा करे। भर्ती के समय हिन्दी का निर्धारित स्तर का यह ज्ञान प्राप्त करने का प्रावधान करने के निमित्त कार्मिक एवं प्रशिक्षण विभाग से अनुरोध किया जाए।"

पुनः राजभाषा समिति के प्रतिवेदन के चौथे खण्ड में की गई सिफारिशों पर राष्ट्रपतिजी का आदेश। भारत सरकार, गृहमंत्रालय (राजभाषा विभाग) के दिनांक 26 जनवरी 1992 के संकल्प संख्या 12019/10/91 रा.भा. (भा.) की प्रति। बिंदु (15) भर्ती परीक्षाओं में हिन्दी का विकल्प के अन्तर्गत "समिति ने सिफारिश की है कि *भर्ती परीक्षाओं में अंग्रेज़ी के प्रश्न-पत्र की अनिवार्यता को तुरंत समाप्त करके यह सुनिश्चित किया जाना चाहिए कि 18 जनवरी 1968 के संसद के संकल्प में की गई व्यवस्था का निष्ठापूर्वक अनुपालन किया जाए और उस प्रावधान में अंतर्निहित भावना का पूर्ण आदर किया जाए।*

इस पर भी पुनः राष्ट्रपति ने आदेश दिया, "समिति की यह सिफारिश मान ली गयी है। तथापि अंग्रेज़ी के प्रश्न-पत्र की अनिवार्यता को समाप्त करने के मामले पर चूंकि संघ लोक सेवा आयोग के विचार जानने के पश्चात ही निर्णय लिया जाना है जैसा कि समिति के प्रतिवेदन के खण्ड-3 के संबंध में राजभाषा

विभाग के दिनांक 4 नवम्बर 1991 के संकल्प में उल्लेख है। अंतिम समय हो जाने पर राजभाषा विभाग सभी मंत्रालयों/विभागों/कार्यालयों आदि को इस संबंध में आवश्यक सूचना भेजे।"

समिति के उक्त 1992 के प्रतिवेदन में आये *तुरंत, निष्ठापूर्वक, पूर्ण आदर किया जाए* की ओर ध्यान दिया जाये। यह स्थिति 1992 की है। उस के बाद कम से कम छह वर्षों तक भी "तुरंत" शब्द की दुर्गति को समझा जा सकता है। साथ ही राष्ट्रपतिजी के अनेकों बार के आदेश की एक ही जैसी रटी-रटाई ठप्पेदार शब्दावली किस राष्ट्रीय विडम्बना को सामने लाती है! फिर उसे 'संघ लोक सेवा आयोग' के विचार जानने को कहा जाना क्या अर्थ रखता है जो कि संसदीय संकल्प को, संविधान के मूल आशयों और निदेशक सिद्धांतों को, राष्ट्रपति के आदेशों को उपेक्षा की दृष्टि से देखता है।

आयोग की ओर से संसदीय समिति और राष्ट्रपति के आदेशों के प्रति कैसी 'निष्ठा' और 'आदर' दिखाया जा रहा है इसका उदाहरण देखें। रेलवे अप्रेन्टिस परीक्षा में 10+2 अर्थात् इंटरमीडिएट (विज्ञान) पास करने वाले आवेदक बैठ सकते हैं, इस सेवा का नियंत्रक रेल मंत्रालय है। इस मंत्रालय ने आयोग को वर्षों पहले लिख कर दिया हुआ है कि भारतीय भाषाओं के प्रयोग की छूट दे दी जाये। परन्तु आयोग ने आज तक रेल मंत्रालय के इस ज़रूरी प्रावधान की माँग को क्रियान्वित नहीं किया। क्यों नहीं किया? पूछा जाना चाहिए। इसके साथ ही इंजीनियरी सेवा परीक्षा का नियंत्रक भी रेल मंत्रालय है। इस परीक्षा के आधार पर भारत सरकार के सभी मंत्रालयों में इंजीनियरों की नियुक्ति होती है। जैसे केन्द्रीय लोक निर्माण विभाग, डाक विभाग, रक्षा नागर विमानन, परिवहन, आकाशवाणी, दूरदर्शन आदि में। इस विषय में भी रेल मंत्रालय ने वर्षों से आयोग को लिख कर दिया हुआ है कि भारतीय भाषाओं के प्रयोग की सुविधा दे दी जाए। इसी प्रकार भारतीय वन सेवा परीक्षा के नियंत्रक पर्यावरण मंत्रालय ने भी आयोग को लिख कर दिया हुआ है कि भारतीय भाषाओं के प्रयोग की छूट उसकी परीक्षाओं में दे दी जाए। आयोग मात्र परीक्षाएं आयोजित करने वाला संस्थान है। भारत सरकार के मंत्रालयों की नीतियां निर्धारित करने की शक्ति उसने कब से प्राप्त कर ली? आयोग के पास सिर्फ एक बहाना है, जिसकी ओट में वह नियंत्रक मंत्रालयों के संकल्पों की उपेक्षा करता आ रहा है कि संविधान की आठवीं अनुसूची में दर्ज भारतीय भाषाओं में परीक्षाएं

करवाना उसके लिए कठिन कार्य है। किन्तु यहीं इस तथ्य को वह नज़रअंदाज कर जाता है कि सिविल सेवा परीक्षाओं में उसने संविधान की आठवीं अनुसूची में दर्ज भाषाओं (जो पहले पंद्रह थीं, 20 अगस्त 1992 को तीन अन्य भाषाएं नेपाली, मणिपुरी और कोंकणी जुड़ जाने से अट्ठारह हो गयी हैं।) को पहले से ही अंग्रेज़ी के विकल्प रूप में स्वीकार कर रखा है।

संविधान की आठवीं अनुसूची में दर्ज भाषाओं और लिपियों की सूची:

भाषा	लिपि
असमिया	असमिया
बंगला	बंगला
गुजराती	गुजराती
हिन्दी	देवनागरी
कन्नड़	कन्नड़
कश्मीरी	फ़ारसी
मलयालम	मलयालम
मराठी	देवनागरी
उड़िया	उड़िया
पंजाबी	गुरमुखी
संस्कृत	देवनागरी
सिंधी	देवनागरी या अरबी
तमिल	तमिल
तेलुगू	तेलुगू
उर्दू	फ़ारसी

आयोग ने उक्त 15+3=18 भारतीय भाषाओं के प्रयोग की छूट सिविल सेवा परीक्षा की 29 सेवाओं में दी हुई है, किन्तु शेष 9 प्रमुख परीक्षाओं में केवल अंग्रेजी का प्रयोग किया जाना अनिवार्य बना रखा है, क्योंकि सिविल सेवा परीक्षा में भी एक प्रश्न-पत्र अंग्रेज़ी का रखा गया है। इस प्रकार अंग्रेज़ी तो अनिवार्य है ही, भले ही उसमें केवल अर्हता प्राप्त करनी होती है। किन्तु भाषा के रूप में अंग्रेज़ी के साथ-साथ एक भारतीय भाषा भी रखी गयी है। *अतः हिन्दी की स्थिति एक क्षेत्रीय भाषा जैसी हो गई है।* जबकि संकल्प के अनुसार अंग्रेज़ी भाषा के विकल्प के रूप में हिन्दी भाषा

होनी चाहिए। राजभाषा के रूप में हिन्दी की स्थिति को जानबूझ कर ठेस पहुँचाई गयी है और अंग्रेज़ी को राजभाषा के स्थान पर स्थापित किया गया है। उचित यह होता कि अंग्रेज़ी या हिन्दी तथा एक भारतीय भाषा। हिन्दी जिनकी मातृभाषा नहीं है, उन्हें हिन्दी को विषय के रूप में लेने की सुविधा मिल जाती और राजभाषा हिन्दी को, कम से कम, अंग्रेज़ी के साथ बराबरी का स्थान मिल जाता जो कि नहीं मिला हुआ है।

'भारतीय अर्थ सेवा' और 'भारतीय सांख्यिकी सेवा' – इन दो परीक्षाओं में निर्धारित प्रश्न-पत्र सिविल सेवा परीक्षा में निर्धारित इन विषयों के प्रश्न-पत्रों के प्रायः समान ही हैं। अतः कोई तर्कयुक्त कारण नहीं है कि आयोग इन परीक्षाओं में भारतीय भाषाओं के प्रयोग का विकल्प न दे क्योंकि सिविल सेवा परीक्षाओं में भारतीय भाषाओं का विकल्प दिया हुआ है।

इसी प्रकार 'राष्ट्रीय रक्षा अकादमी परीक्षा' तथा 'सम्मिलित रक्षा सेवा परीक्षा' में प्रश्न-पत्र वस्तुपरक शैली के होते हैं। इनमें आवेदकों को सही उत्तरों के सामने मात्र चिन्ह लगाना होता है। आयोग द्वारा यदि ये प्रश्न-पत्र हिन्दी में भी छपवाये जायें तो हिन्दी के विकल्प की सुविधा भी अपने आप मिल जाती है। किन्तु अभी तक आयोग की हठधर्मी ही देखने में आयी है जो लोकतंत्र की आत्मा एवं संविधान के विरुद्ध है।

अंग्रेज़ी के पक्ष में और हिन्दी के विरुद्ध तर्क यह दिया जाता है कि सरकारी नौकरी में आने पर हिन्दी भाषा के माध्यम वाला व्यक्ति अंग्रेज़ी में कामकाज कैसे कर पायेगा? इसका उत्तर यह है कि जैसे अंग्रेज़ी के माध्यम से सरकारी नौकरी में आने वाले अधिकारी के लिए विभागीय व्यवस्था से हिन्दी सिखाई जाती है, उसी प्रकार अंग्रेज़ी भी सिखाई जा सकती है।

दूसरी ओर कृषि मंत्रालयों के कृषि वैज्ञानिक मंडल द्वारा ली जाने वाली बहुत ऊंची 'कृषि वैज्ञानिक अनुसंधान सेवा परीक्षा' में अत्यन्त तकनीकी, व्यावसायिक विषय के प्रश्न-पत्रों के उत्तर हिन्दी भाषा के माध्यम से दिये जाने का प्रावधान है, विकल्प है और अंग्रेज़ी भाषा का अलग से कोई प्रश्न-पत्र तक नहीं है। भारत सरकार के अन्य अनेक निगमों, जैसे नेशनल थर्मल पावर कॉर्पोरेशन, भारत हैवी इलेक्ट्रिकल्स लि. तथा बैंकों में प्रोबेशनरी अधिकारियों की भर्ती परीक्षाओं में भी हिन्दी का पूरा विकल्प है।

इतना ही नहीं राजभाषा संबंधी अधिनियम, 1963 की धारा 4(1) के अधीन, जिस संसदीय राजभाषा समिति का गठन हुआ उसकी बार-बार अवहेलना की जाती है – सरकारी अधिकारियों द्वारा, कार्यालय के प्रशासनिक प्रधानों द्वारा, समिति उनके विरुद्ध कठोर 'कार्रवाई' की माँग करती है, किन्तु किसी भी प्रकार की कोई कठोर कार्रवाई का प्रावधान नहीं है।

इससे भी आगे देखें *राष्ट्रपति के आदेशों की अवहेलना की और संसदीय समिति राष्ट्रपति का ध्यान दिलाती है तो भी कोई कार्रवाई नहीं की जाती।* समिति की संस्तुति सं० 5 – *महामहिम राष्ट्रपति के आदेशों की अवहेलना करने वाले हिन्दी में प्रवीण अधिकारियों के विरुद्ध कठोर कार्रवाई की जाए।* इस पर राष्ट्रपतिजी का आदेश देखें "राजभाषा विभाग ऐसे आदेश जारी करे कि सभी मंत्रालय/विभाग अपने वरिष्ठ अधिकारियों, विशेषकर उप-सचिव एवं समकक्ष तथा उससे वरिष्ठ अधिकारियों को राजभाषा हिन्दी में कार्य करने के लिए विशेष तौर पर प्रेरित एवं उत्साहित करे" (आदेश-अनुदेश, राजभाषा विभाग (गृह मंत्रालय) नई दिल्ली का दिनांक 24 नवम्बर 1998 का संकल्प– संख्या I/20012/4/92 रा. भा.) (नी–I)

यानी राष्ट्रपति को भी राष्ट्रपति के आदेशों की अवहेलना के लिए कोई कार्रवाई करने का अधिकार नहीं। उप-सचिव तथा उससे भी उच्च अधिकारियों को केवल प्रेरित-प्रोत्साहित करने का उपाय है, ताकि वे मेहरबानी करके राष्ट्रपति के आदेशों की अवहेलना न करें। आशय यह भी निकलता है कि बार-बार अवहेलना करें, जो कि वर्षों से होती आ रही है, तो भी इससे अधिक राष्ट्रपतिजी कुछ नहीं कर सकते। यानी सरकार के पैसे से सरकारी नौकरी में आने के बाद, हिन्दी भाषा में प्रवीणता प्राप्त अधिकारी जो सेवा-समय में अध्ययन की सुविधा पा कर प्रोन्नति–पदोन्नति प्राप्त कर चुके हैं, उनके द्वारा हिन्दी की अवहेलना – संविधान, संसदीय संकल्प, राष्ट्रपति और यों समूचे राष्ट्र की अवहेलना – पर सरकार या राष्ट्रपति कुछ नहीं कर सकते। ऐसे में संघ लोक सेवा आयोग यदि हठधर्मी दिखा रहा है, तो ठीक ही कर रहा है।

इस संबंध में विशेष ध्यान देने योग्य पक्ष यह भी है कि 18 जनवरी 1968 में संसद द्वारा पारित संकल्प को लागू करने-कराने की सुध किसी भी सरकार को नहीं आयी।

अखिल भारतीय भाषा संरक्षण संगठन द्वारा चलाया जा रहा आन्दोलन

प्रमुख घटनाएं :–

16.8.1988 को शाहजहाँ रोड, नई दिल्ली-आयोग के मुख्य द्वार पर उक्त संकल्प लागू कराने के लिए एक धरना आरंभ हुआ। 'अखिल भारतीय भाषा संरक्षण संगठन' के तत्वावधान में, इस संस्था के संयोजक–संस्थापक पुष्पेन्द्र चौहान ने संघ लोक सेवा आयोग के सचिव को एक पत्र लिखा कि संसदीय संकल्प के अनुसार हिन्दी एवं भारतीय भाषाएं लागू कर के परीक्षाओं में अंग्रेज़ी का विकल्प दिया जाए। इसके उत्तर में तत्कालीन गृहमंत्री, भारत सरकार, श्री चिदम्बरम् का पत्र 10 अक्तूबर 1988 को आया कि सिविल परीक्षा में तो हिन्दी का प्रयोग हो रहा है एवं परीक्षार्थी चाहे तो साक्षात्कार हिन्दी में दे सकता है। यह दिग्भ्रमित करने वाला पत्र था। यथार्थ से आंखें चुराता।

1.12.1988 को सभी राजनीतिक दलों के लगभग 350 सांसदों के हस्ताक्षर किया हुआ ज्ञापन प्रधानमंत्री श्री राजीव गांधी को दिया गया। शिक्षामंत्री श्री एल. पी. साही ने आश्वासन दिया। यह ज्ञापन सर्वश्री नरेशचन्द्र चतुर्वेदी, बालकवि बैरागी एवं वी. तुलसी राम ने प्रधानमंत्री को सौंपा था। राज्यसभा की उपसभापति श्रीमती नजमा हैपतुल्ला ने 3 जनवरी 1989 को संगठन के प्रतिनिधियों को शीघ्र कार्यवाही करने का आश्वासन दिया।

7.1.1989 को श्री अटल बिहारी वाजपेयी ने सत्याग्रह-स्थल पर आ कर समर्थन दिया।

13.1.1989 को पूर्व राष्ट्रपति ज्ञानी ज़ैल सिंह सत्याग्रह स्थल पर आये। उनके जाते ही पुलिस ने सत्याग्रह स्थल से तंबू उखाड़ दिये और सत्याग्रहियों को गिरफ्तार कर लिया।

28.4.1989 से घटना-स्थल पर पाँच सत्याग्रहियों ने आमरण अनशन आरंभ किया। ये थे सर्व श्री पुष्पेन्द्र चौहान, श्वेतचन्द्र निर्वारण, राजकरण सिंह, विश्वेश्वर पांडे, हीरा लाल।

26.5.1989 को सरकार द्वारा भाषाएं लागू कराने का आश्वासन दिया गया। धरना समाप्त करवा दिया गया। प्रो. सतीश चंद्र की अध्यक्षता में एक समिति को यह जांचने के लिए कहा गया कि भारतीय भाषाएं कैसे लागू की जाएं। यानी लागू करने की मात्र प्रक्रिया संबंधी कार्य। किन्तु प्रो. सतीश चंद्र यह ढूंढने में लग गये कि भाषाएं क्यों लागू की जायें व कैसे लागू की जायें। यह लेखक स्वयं अपने साथियों के साथ, बुलाये जाने पर समिति के समक्ष प्रस्तुत हुआ और अध्यक्षजी का मनोरथ जाना।

28.10.1989 को सभी प्रमुख समाचार पत्रों के सम्पादकों ने अपने हस्ताक्षर कर के श्री राजीव गांधी को पत्र दिया।

30.10.1989 को डा. बलदेव वंशी, बल्लभ डोभाल, पुष्पेन्द्र चौहान, राजकरण सिंह आदि 11 सत्याग्रहियों को प्रदर्शन करते तिलक मार्ग पर पुलिस ने गिरफ्तार किया।

11.5.1990 को सतीश चंद्र समिति ने अपनी रिपोर्ट आयोग को सौंप दी। यह सूचना लोक सभा के सत्र में प्रो. मधु दंडवते ने सदन को दी।

21.11.1990 को पूर्व राष्ट्रपति ज्ञानी ज़ैल सिंह दूसरी बार धरने पर बैठे। इस अवसर पर उन्होंने भाषा मशाल जलाई।

3.12.1990 को ज्ञानीजी ने प्रधानमंत्री श्री वी. पी. सिंह के नाम पत्र लिख कर भारतीय भाषाएं लागू करने को कहा।*

10-1-1991 को लोक सभा की दर्शक दीर्घा से पुष्पेन्द्र चौहान ने "भारतीय भाषाएं लागू करो, अंग्रेज़ी की अनिवार्यता दूर करो" नारे लगाते हुए सदन में छलांग लगा दी। उनकी दायीं ओर की पाँच पसलियां टूट गयीं। उन्हें तुरंत पुलिस हिरासत में ले कर राममनोहर लोहिया अस्पताल पहुँचाया गया।

11-1-1991 को लोक सभा ने 18 जनवरी 1968 को पारित भारतीय भाषाओं संबंधी पूर्व संकल्प पुनः पारित कर दिया। शून्य काल में भाजपा सांसद डा. विजय कुमार मल्होत्रा द्वारा लाए प्रस्ताव का कांग्रेस (इ) सांसद वसंत साठे ने अनुमोदन किया। इसे लोकसभा अध्यक्ष रवि राय ने ध्वनिमत से पारित घोषित किया।

---

* देखें परिशिष्ट पाँच

14.1.1991 को ज्ञानी ज़ैल सिंहजी, पुष्पेन्द्र चौहान का हाल जानने राममनोहर लोहिया अस्पताल पहुँचे। अपने सचिव को उपयुक्त इलाज के लिए सरकार को लिखने का आदेश दिया।

18.1.1991 को प्रधानमंत्री चन्द्रशेखर को ज्ञापन की प्रति देने के लिए आन्दोलनकारी, संगठन के अध्यक्ष डा. बलदेव वंशी के नेतृत्व में गोलमेथी चौक पर रोक लिए गये और बाद में धरना देने के कारण गिरफ्तार करके तुगलक रोड थाने में बंद कर दिये गये।

4.2.1991 को प्रधानमंत्री कार्यालय – अनुभाग अधिकारी, नई दिल्ली, का पत्र संगठन के अध्यक्ष डा. बलदेव वंशी के नाम प्राप्त हुआ कि कथित मामले की जांच हो रही है।

12.5.1994 संघ लोक सेवा आयोग के द्वार पर एक ही समय धरने पर बैठे सर्वश्री ज्ञानी ज़ैल सिंह, पूर्व प्रधानमंत्री, विश्वनाथ प्रताप सिंह, पूर्व उपप्रधानमंत्री देवी लाल, तत्कालीन विपक्ष के नेता अटल बिहारी वाजपेयी, सांसद राम विलास पासवान, सोमपाल (कार्यक्रम का संयोजन करते हुए), रामधन्द्र डिकल, आनंद बोध सरस्वती, चार पूर्व राज्यपाल, बैकुंठ लाल शर्मा प्रेम तथा अन्य अनेक राजनीतिज्ञ, साहित्यकार, पत्रकार, समाज सेवी आदि।

12.5.1995 को भाजपा के अध्यक्ष श्री लालकृष्ण आडवाणी, श्री वीरेन्द्र वर्मा, पूर्व राज्यपाल श्री कृष्ण लाल शर्मा, तथा बैकुंठ लाल शर्मा प्रेम (दोनों भाजपा सांसद) आदि धरने पर बैठे।

श्री वी. पी. सिंह के प्रधानमंत्री रहते हुए इस लेखक सहित आन्दोलनकारियों को पुलिस ने गिरफ्तार करके थाने में बंद रखा फिर स्वयं भूतपूर्व हो कर वे अपने ही देश के एक कार्यालय के द्वार पर धरने पर बैठे। सत्ता में रहते श्री देवीलालजी के कहने पर सुदूर प्रदेशों के किसानों और ग्रामीणों के लिए संसाधनों की असुविधा को देखते परीक्षाओं में एक वर्ष की आयु-सीमा कम करके आयोग को निर्देश दिये, जो आयोग ने माने।

इसी भांति चंद्रशेखर सरकार ने सत्ता में आते ही परीक्षाओं की तिथियां आगे बढ़ाने के आदेश आयोग को दिये, जिनका आयोग द्वारा पालन किया गया।

पर उक्त दोनों ही प्रधानमंत्रियों ने आयोग को संसदीय संकल्प लागू करने के आदेश नहीं दिये और अब सत्ता में आने पर श्री अटल बिहारी वाजपेयी और गृहमंत्री श्री आडवाणी उक्त संकल्प लागू करने के आदेश क्यों नहीं दे रहे, यह वही जानें। वाजपेयी सरकार तीसरी बार सत्ता में आयी है। राष्ट्र संघ के मंच पर हिन्दी में, सर्वप्रथम भाषण देने वाले, भाषा आन्दोलन की माँग को, इसके राष्ट्रीय महत्त्व को अच्छी तरह बनाने वाले, संसद में इस विषय पर गंभीर और सार्थक बहस करने वाले आज के प्रधानमंत्री श्री अटलजी से पूरा देश अपने लिए भाषाई आज़ादी की माँग करता है। राजभाषा की स्वर्णजयंती वर्ष को सरकारी स्तर पर मना लेना एक बात है और जनता की राजभाषा को स्वतंत्रता-समानता देना बिलकुल भिन्न और ऐतिहासिक बात होगी।

समूचे देश से जनता के द्वारा, उनकी मातृ भाषाओं में बोल कर, चुन कर आये सभी दलों के सभी सांसद अपने भत्तों, सुविधाओं के लिए हमेशा एक मत देखे गये हैं। दलीय प्रतिबद्धताओं-सीमाओं को लांघ ध्वनिमत से स्वहित के फैसलों को सहर्ष स्वीकार करते-कराते आ रहे हैं, उसे भाषा का अधिकार देने के लिए एकता नहीं दिखा पाये, आज तक। कैसी राष्ट्रीय विडम्बना है, जो ऐतिहासिक तथ्य बन कर 1968 से हमारी संसद और संसदीय प्रणाली और लोकतंत्र का मज़ाक उड़ा रही है और हम सांसद राष्ट्रीय अस्मिता को भूल कर अपने लिए सुख-सुविधाएं बटोरने में खप रहे हैं।

अंत में हम अपनी ओर से कुछ न कहते हुए संसदीय राजभाषा समिति के उपाध्यक्ष स्वर्गीय शंकरदयाल सिंह (जो 7-6-94 से मृत्युपर्यंत उपाध्यक्ष रहे) के शब्दों को उद्धृत करना चाहेंगे– "संसदीय राजभाषा समिति के द्वारा कहीं हम भी देश को बहला या फुसला तो नहीं रहे हैं? हिन्दी जब देश की राजभाषा है, उसे जब संवैधानिक अधिकार प्राप्त हैं, उसके साथ अधिनियम-नियम हैं, संकल्प और सरकारी सूचनाएं हैं। धारा 3(3) तथा 10(4) और 8(4) का प्रावधान है एवं गृह मंत्रालय का वार्षिक कार्यक्रम और राष्ट्रपति का आदेश है, फिर भी हिन्दी कहाँ है? मात्र उन फाइलों तथा होठों पर ही तो नहीं, जिनका वास्ता संसदीय राजभाषा समिति से है। *इस प्रकार हम किसे छल रहे हैं– संविधान को? राष्ट्रपति को? राष्ट्र को या अपने आपको?*..... गुन्नार मिर्डल की सुप्रसिद्ध पुस्तक *एशियन ड्रामा* का एक पन्ना मेरे सामने खुल कर मेरे गालों पर अनगिनत तमाचे जड़ देता है जिस पर लिखा

है: "जब तक भारतीय संसद की भाषा अंग्रेज़ी रहेगी और संसद सदस्य अंग्रेज़ी में अपने विचार प्रकट करते रहेंगे तब तक यह परिभाषित होता रहेगा कि भारत गुलामी के चंगुल से पूर्णतया छूटा नहीं है"– (हिन्दी: राष्ट्रभाषा, राजभाषा, जनभाषा, वर्ष 1995, पृष्ठ 132-133)

अब हम राष्ट्रपिता महात्मा गांधी द्वारा 27 दिसम्बर 1917 को कलकत्ता में कहे गये शब्दों को उद्धृत करते हैं:–

"यदि हम अंग्रेज़ी के आदी नहीं हो गये होते तो यह समझने में हमें देर नहीं लगती कि अंग्रेज़ी के शिक्षा का माध्यम होने से हमारी बौद्धिक चेतना जीवन से कट कर दूर हो गई है, हम अपनी जनता से अलग हो गये हैं, जाति के सर्वश्रेष्ठ विभागों का विकास रुक गया है और जो विचार हमें अंग्रेज़ी के माध्यम से मिले, उन्हें हम जनता में फैलाने में नाकामयाब रहे हैं। पिछले साठ वर्षों से हमने विचित्र-विचित्र शब्दों को केवल रटना सीखा है। तथ्यपूर्ण ज्ञान पचाने के बदले हमने शब्दों का उच्चारण सीखा है। जो विरासत हमें अपने बाप–दादों से हासिल हुई, उसके आधार पर नव-निर्माण करने के बदले, हमने उस विरासत को भूलना सीखा है। इस दुर्गति की मिसाल सारी दुनिया के इतिहास में नहीं है। *यह तो राष्ट्रीय शोक अथवा ट्रेजडी का विषय है।* आज की पहली और सब से बड़ी समाजसेवा यह है कि हम अपनी भाषाओं की ओर मुड़ें और हिन्दी को राष्ट्रभाषा के पद पर प्रतिष्ठित करें। हमें अपनी सभी प्रादेशिक कार्रवाइयां अपनी-अपनी भाषाओं में चलानी चाहिएं तथा हमारी राष्ट्रीय कार्रवाइयों की भाषा हिन्दी होनी चाहिए।"

इतने सब के बाद भी हम नहीं चेते तो स्पष्ट है कि हमने राष्ट्रीय-स्तर पर ढोंग कर जीना अपने चरित्र का अंग बना लिया है। अन्यथा जिस एक अरब जनता की भाषा हिन्दी के बल पर हमारी सरकार राष्ट्रसंघ में स्थान माँग रही है, न्याय चाहती है, उसी एक अरब जनता को उसी भाषा में अपने देश में ही न्याय तक पाने की छूट नहीं है। पचास वर्षों में भी हिन्दी में न्याय पाने का अधिकार नहीं है। कैसी विडम्बना है!

अंत में हमारी यह प्रार्थना है कि 'संघ लोक सेवा आयोग' को मात्र एक कार्यालय न मानें। यह एक ऐसा संस्थान है, जिसके द्वार पर विश्व का सबसे लम्बा धरना पिछले ग्यारह वर्षों से लगातार, दिन-रात चल रहा है और जहाँ देश

का पूर्व और वर्तमान सर्वोच्च नेतृत्व बैठ चुका है। फिर भी जिसका बाल तक बांका नहीं किया जा सका। यही देश के साथ भाषाई अपराध की दागबेल दबी है। इसे उखाड़ने के लिए समूचे देश की भाषाओं के सजग सचेतन व्यक्तियों से प्रार्थना है कि वे अपनी सारी शक्तियों को लगा दें। क्योंकि यही अंध-नाइन्साफी का सबसे बड़ा गढ़ है। यहां संकल्प लागू होने से अंग्रेज़ी न घटेगी, न उसकी कोई हानि होने वाली है, न ऐसी कोई संभावना है, किन्तु दूसरी ओर हिन्दी को संविधान सम्मत राजभाषा का अधिकार और 18 भारतीय भाषाओं को परीक्षाओं में रोज़ी-रोटी पाने में अभिव्यक्ति का अधिकार मिल जायेगा। स्वतंत्रता से आज तक जिन्होंने पूरे देश पर अंग्रेज़ी थोपी हुई है, उन्हें हिन्दी तथा भारतीय भाषाओं की समानता भी स्वीकार नहीं। इसे ही गांधीजी ने सन् 1917 में *राष्ट्रीय शोक और ट्रेजडी का विषय कहा था।* इसे गांधीजी के स्वतंत्र देश की अभी तक की सरकारों ने देश पर थोप रखा है।

हिन्दी साहित्य : दशा और दिशा

गिरधर राठी*

प्रबुद्ध समाज के सामने चार हज़ार क्या, दो-चार शब्द बोलना भी साहस अर्थात् दुस्साहस ही है। फिर भी, उदारतापूर्वक हस्तांतरित इस आज़ादी का अपव्यय न हो, यह विनय और कृतज्ञता दोनों का तक़ाज़ा है।

दशा-दिशा के सवाल इतिहास की किसी न किसी प्रकार की परिकल्पना के बग़ैर न तो मुमकिन हैं, न मुनासिब, हालांकि इतिहास नामक प्रत्यय खुद शरशय्या पर लिटा दिया गया है। इधर भारतीय मूल और संवैधानिक नागरिकता, दोनों तत्व काल की अनंतता और आवर्तनशीलता में निर्विकल्प आस्था के लिए उकसाते हैं, लेकिन हम सब की नियति फ़िलहाल "बाय टू के – ओ. के." से तय होती दीखती है। इसलिए उन्मुक्त महाकाल और इतिहास-बद्ध समय के बीच, मिथकीय संवेदना और इतिहास-चेतना के बीच यह जो हाथी होड़ लगी है, वह भाषा-संस्कृति-समाज-राजनीति-साहित्य वगैरह के समुच्चय के लिए किस तरह के प्रतीकार्थ, आशय-संकेत और चिह्न लिए हुए है? क्या यह किसी ऐसे विपर्यास का "कार्निवाल" या "स्पेक्टेकिल" है, जिसमें एकरैखिक "लोकल" इतिहास-चेतना को "ग्लोबल" नियति में, और ब्रह्माण्डव्यापी लीलावाद को "लोकल" (भारतीय) कल्पसृष्टि में रूपांतरित किया जा चुका है? या कि यह "युगचेतना" और "जातीय चेतना" में भ्रामक घालमेल करने का, किसी "फ़ॉल्स कांशसनेस" के कारण वास्तविकता को न समझ पाने का नतीजा है?

हिन्दी साहित्य के इतिहास की संकल्पनाओं पर भाषा, वर्ग, वर्ण, जाति, क्षेत्र, लिंग इत्यादि के साथ भेदभाव के, सभी तरह के आक्षेप हैं। भाषा के भेदभाव वाला आक्षेप तो खासा नाजुक है, और मामला केवल उर्दू-हिन्दी का नहीं है। आधुनिक

---

* कवि और सम्पादक, *समकालीन भारतीय साहित्य*

हिन्दी की कविता मीर-नज़ीर से शुरू मानें या महावीर प्रसाद द्विवेदी-युग के आसपास से? हिन्दी गद्य के भारतेन्दु-युग में मिर्ज़ा ग़ालिब का कितना योगदान मानें? यदि कभी फिर से लिखा गया तो हिन्दी साहित्य का इतिहास उर्दू साहित्य के इतिहास को भी समेटेगा या नहीं? क्या उर्दू-इतिहास ऐसे समावेश को कबूल करेगा?

पर सवाल सिर्फ उर्दू का नहीं, उन सहोदराओं का भी है जिनकी गोद में या कंधों पर खेल कर हिन्दी पली और बड़ी है। क्या भविष्य का, हर दृष्टि से आदर्श और "असांप्रदायिक" साहित्येतिहास मैथिली, ब्रज, अवधी, भोजपुरी, बुंदेलखंडी, राजस्थानी वगैरह के समकालीन या सह-साहित्य को भी इतिहास में उसी तरह जगह देगा, जिस तरह जायसी, तुलसी, सूर, कबीर, मीरा, पद्माकर, देव, घनानंद आदि को देता रहा है? सवाल यह भी है कि क्या उन्हें हिन्दी के हाथी-पाँव में ही अपने पाँवों का रखा जाना स्वीकार्य होगा? यदि नहीं, तो हिन्दी के साहित्य-क्षेत्र का आयतन यही विराट् रूप धारे रहेगा या सुरसा के मुँह में प्रवेश के लिए अति लघु रूप धर लेगा? और स्वयं साहित्य की भाषा का स्वरूप क्या होगा – क्या वह अपनी सहोदराओं और अन्य भारतीय भाषाओं से उसी तरह रसग्रहण करती रहेगी, जिस तरह उदाहरणार्थ नागार्जुन, रेणु, सोबती, मनोहरश्याम जोशी जैसे दिग्गज उत्कटता से, और अन्य हज़ारों लेखक स्वभावतः अब तक रस खींचते रहे हैं? हिन्दी परिवार की दीपमालिका में अब तक स्नेह से भरे दीप थे, वे अंधेरे में कहीं आशंकाओं के दीप तो नहीं हो चले हैं?

इस से ज़रा-सा हट कर एक निहायत नाज़ुक सवाल हिन्दी के निरंतर अनुवाद की भाषा होते जाने से भी जुड़ा है। अंग्रेजों की हुकूमत के दौरान दो भाषाई अस्त्र, हिन्दी और अंग्रेज़ी, इस भारत भूमि के लिए निर्मित हुए थे। क्या हिन्दी महज़ अल्पकालीन शर्म थी और अंग्रेज़ी दीर्घकालिक राजनीति? अब नया मोड़ यह भी है कि यदि इंटरनेट पर विश्वव्यापी "इनपुट" लेना हो तो देवनागरी को रोमन बनना होगा, और स्वदेश में भावी पीढ़ियों को हिन्दी साहित्य पढ़ाना पड़ा तो अंग्रेज़ी अनुवाद के ज़रिये पढ़ाना होगा! हमारे होनहार सलमान रुश्दी हमारे साहित्य की गुणवत्ता तभी परख सकेंगे। कच्ची, पहली या तीसरी कक्षा से अंग्रेज़ी पढ़ाने का हमारा संकल्प उत्तरोत्तर दृढ़ होता जा रहा है। पर यह संकल्प भी नाकाफ़ी होगा, क्योंकि "ग्लोबल सिविलाइज़ेशन" का "ग्रीन कार्ड" तभी मिलेगा जब पुख्ता प्रवीणता के लिए शिक्षा के माध्यम के रूप में अंग्रेज़ी ही शुरू से अपनायी जाए। क्या अगली सदी और सहस्राब्दी

के प्रकाश में हम यह भी देख रहे हैं कि हमारे नाती-पोते-पड़पोते केवल दो ही भाषाएं सीखेंगे – शायद पहली अपनी-अपनी मातृभाषा होगी, जो हिन्दी, तेलुगु, मराठी, भोजपुरी, अवधी, पंजाबी, वगैरह होगी, और दूसरी अंग्रेज़ी। "डायरेक्ट टु होम" प्रविधि में बिचौलियों की यों भी कोई जरूरत नहीं होगी! इसके अलावा, राष्ट्रभाषा पदासीन हिन्दी से अन्य भारतीय भाषाओं की सौतेली डाह दबी-छिपी नहीं है। वे भाषा-शिक्षण में हिन्दी का अतिरिक्त भार क्यों उठाएँ, जब कि हिन्दी का छात्र केवल अंग्रेज़ी पढ़कर श्रम बचा लेता है। और "राष्ट्रभाषा" भी एक क्यों हो, अठारह या तेईस या तीन सौ चवालीस क्यों नहीं?

पुनः साहित्य के इतिहास पर लौटें: वर्ग-दृष्टि और वर्ग-विश्लेषण के तकाज़ों के तहत भी "सांप्रदायिकता" अर्थात् संकीर्णता या प्रतिक्रियावाद के बहुविध आरोप हैं। इतिहास में स्त्रियों के साहित्यिक योगदान की उपेक्षा के आक्षेपों के साथ नारीवादी विमर्श का आरोप है कि साहित्येतिहास और इतिहास-दृष्टि लिंगवाद से दूषित है। दमित, उपेक्षित या पीड़ित दलितों का आरोप तीखा होता जा रहा है कि हिन्दी साहित्य और इतिहास दोनों ही ऊँची जातियों और ऊँचे वर्णों के, ब्राह्मणवाद के वकील और पुरोहित हैं। अनेक क्षेत्रों के रचनाकारों की शिकायत है कि इतिहास-लेखन में समुचित स्थान उन्हें नहीं मिलता।

पांडुलिपियों या प्रकाशनों की खोजबीन, पाठों का मानकीकरण, तिथियों का निर्धारण, जीवन एवं कृतित्व का ब्यौरा, देशी-विदेशी प्रभावों का समाकलन, भाषा और विधाओं की संरचनाओं का विकास-क्रम और विश्लेषण इत्यादि के अभाव से भी अधिक पेचीदा प्रश्न मूल्यांकन-विश्लेषण-निरूपण की पद्धतियों का है। कौन सा पिंगल, काव्यशास्त्र, सौन्दर्यशास्त्र, "थीअरी" या "पोस्ट-थीअरी" ठीक रहेगी? इसके अलावा, साहित्य मौखिक परंपरा से लिखित परंपरा में संतरित हुआ था, अब वह लिखित से पुनः एक नई दृश्य-श्रव्य-मौखिक परंपरा में लौटने को सन्नद्ध है। कायांतरण और जन्मांतरण का पाठ, भाष्य और सैद्धांतिकी कहाँ हैं?

एक बड़ी राहत यह है कि रचना और रचनाकर्म सत्ता-विमर्श के भीतर रहते हुए भी केवल उसी से निर्धारित नहीं होता। गौरतलब है हिन्दी साहित्य खुद नितांत प्रतिकूल परिस्थितियों में पैदा हुआ, बढ़ा और पुष्पित हुआ। इस छोटे-से जीवन में उसने जो विविधता, गहराई और ऊँचाई हासिल की है, वैसी दुनिया की बहुत कम भाषाओं के साहित्य में हासिल हुई होगी। भारतेन्दु से पहले जिस भाषा में गद्य

नाम-मात्र को था,'उसमें सहसा निबंध, नाटक, उपन्यास, कहानी, आलोचना, जीवनी, और पत्र-साहित्य जैसी अनेक विधाएं फूट पड़ीं। भक्ति और शृंगार में सिमटी दृष्टि सहसा राजनीति, समाज, संस्कृति, धर्म और इतिहास की असंख्य भावभूमियों और विचारभूमियों पर विचरण करने लगी। सुख, मोक्ष और आनंद की खोज में रमने के बजाय सामाजिक भेदभाव, धार्मिक पाखंड, राजनीतिक उत्पीड़न और शोषण जैसे दैनंदिन हज़ारों विषय भी रचनात्मकता और विमर्श में शामिल होने लगे और महावीर प्रसाद द्विवेदी के युग से शुरू आधुनिक हिन्दी में रचित कविता में अकल्पनीय धाराएं फूट पड़ीं।

आरंभिक दौर की एक खूबी यह भी थी कि गुणीजनों द्वारा स्वीकृत साहित्य, "सामान्य" भावकों और रसिकों को भी ग्राह्य था, उदाहरणार्थ ऐयारी या तिलिस्मी उपन्यास और प्रेमचंद, या विविध गीत और प्रयोगधर्मा निराला। आज़ादी के बाद साहित्यिक पाठक समुदाय प्रायः दो दिशाओं में बँटता चला गया। एक हिस्सा "साहित्यिकता", प्रयोगशीलता, नवीनताओं का गुणग्राहक होता चला गया; दूसरा हिस्सा हल्की-फुल्की, मनोरंजनात्मक कविता-कहानी का। शायद आरंभिक साहित्य-समुदाय समान भावभूमि, लक्ष्यों और आकांक्षाओं वाला समुदाय था। बहुत कम साक्षरता थी, साक्षरों को तत्कालीन नया साहित्य सुलभ था, एक नये क्षेत्र के साक्षी या भोक्ता या कर्त्ता होने की उमंग थी। ऐसे कई और ज्ञात-अज्ञात पेंच होंगे यहाँ।

नई नारीवादी और दलित समीक्षा दृष्टियां उस दौर में "समरसता" पर दिये गये जोर को रेखांकित करते हुए ऐसे पक्ष भी सामने ला रही हैं जो छुपाये या दबाये जाते रहे हैं। आज़ादी के आन्दोलन के दौर की उस बड़ी विडम्बना को भी याद कर लें। पहले अपने देश के सामाजिक और पारिवारिक संबंधों को सुधारें, या कि विदेशी हुकूमत से छुटकारा पाएं? अधिकांश रचनाकारों ने दूसरा रास्ता वरण किया था। अपवाद प्रगतिवादी आन्दोलन था जिसने वर्ग-संघर्ष को प्रमुखता देनी चाही और आपाततः आज़ादी की लड़ाई से उसकी दूरी बढ़ी। आज़ादी मिलने के आसपास के दौर में वामपंथ और धुर दक्षिणपंथ, दोनों ही अंग्रेजों का साथ देते रहे, यह तथ्य हिन्दी साहित्य के इतिहास-विमर्श से ओझल है।

विपर्यास और भी है। दासता से मुक्ति को प्राथमिकता देकर सामाजिक विग्रह मुल्तवी करना और सामरस्य बनाए रखना ज़रूरी समझा गया था। आज़ादी मिल जाने के बाद सामाजिक न्याय के लिए उठती आवाजें किन्हीं और कारणों से उग्र

विरोध झेल रही है! विरोध शाश्वत साहित्यिक मानदंड वाले भी और समतावादी क्रांतिवादी भी कर रहे हैं। लेकिन अस्मिता और मूल्यांकन के मानदंडों को आमूल बदलने की नई माँगों के साहित्यिक ही नहीं, राजनीतिक-सामाजिक निहितार्थ भी कम समस्याजनक नहीं हैं। क्या उथल-पुथल के बाद, फिर किसी उच्चतर सैद्धांतिक धरातल पर कोई समाधान निकलेगा? बहुलतावाद की गुहार में बृहत्तर लोकतांत्रिक आकांक्षा असंदिग्ध रूप से मौजूद है और उत्तर-आधुनिकता की बहुमूल्य देन है। लेकिन आधुनिकता में अंतर्निहित सार्वभौमिकता के भी तो अपने कुछ फ़ायदे थे?

यह दिलचस्प है कि हिन्दी साहित्य शुरू से ही आधुनिकता के रू-ब-रू, उसकी चाह में और उसे अंगीकार करते हुए बढ़ता दीखता है। साहित्य की विधाओं और विषयों की विविधता एक तरह से उसका भौतिक या वस्तुपरक प्रमाण है। अंतः वस्तुओं या दृष्टियों के चयन में भी विविधता दर्शनीय है। भारतेन्दु और उनके समकालीन सचेत रूप में जहाँ कहीं परंपरा-पोषक, "नॉस्टैल्जिक" और पश्चगामी जान पड़ते हैं, वहाँ भी नये माध्यमों का – मुद्रण-प्रसारण समेत – चयन स्वयं रूढ़ियां तोड़ता प्रतीत होता है। मुख्य बात यह है कि भाषिक संरचना स्वयं "बहुभाषी" होती है। वह एक साथ विरोधाभासी बल्कि परस्पर-विरोधी अर्थ, अभिप्राय, संकेत और दिशा-निर्देश देती पायी जाती है। स्वयं लेखक अपने अभिप्राय पूरी तरह नहीं जानता, और अगर जानता भी हो तो रचना का अलग-अलग पाठ स्वयं उस पाठ में, और पाठक में भी, नितांत अप्रत्याशित परिवर्तन करता चला जाता है। आलोचना और सैद्धांतिकी में इन पर इतना कुछ आ चुका है कि यहाँ उनके विस्तार में जाना ज़रूरी नहीं है।

यह ज़रूर है कि आधुनिकता के शुरुआती थपेड़ों को, केवल खिड़की से भीतर आने वाले झोंकों की तरह अंगीकार किया गया था। भारत की प्राचीनता और अपनी अलग अस्मिता की जो पहचानें उस दौर में या उसके पहले से बननी शुरू हुई थीं, उसमें "ओरिएंटलिज़्म" वाले नज़रिये से बहुत सारी विडम्बनाएं भी अब दिख रही हैं। पर उस बड़ी बहस से बचते हुए कहा जा सकता है कि भारतेन्दु या आचार्य द्विवेदी या आचार्य शुक्ल या निराला या प्रसाद या प्रेमचंद जिस गहराई में अपने समाज और अपनी संस्कृति के डगमगाते आधारों से जुड़े थे, उस अवस्थिति ने उन्हें आधुनिकता के बहुत सारे प्रलोभनों और आतंकों से बचाया था। लोकतंत्र की

अवधारणा में अंतर्निहित समता और स्वतंत्रता के आदर्शों को अपनी अंतश्चेतना और बौद्धिक विमर्श का अंग बनाने से लेकर, अंग्रेज़ी या बाद्ला आदि के माध्यम से, तब सुलभ साहित्यिक आधुनिकता से कई रंग हिन्दी में आये थे।

लेकिन राजनीतिक धरातल पर, गांधीवादी धारा के विपरीत, दक्षिण और वाम, दो ध्रुवों ने एक तरह से आधुनिकता के कुछ खास संस्करणों के आगे संपूर्ण समर्पण सबसे पहले किया था। हिटलर-मुसोलिनी का उग्रतम राष्ट्रवाद और स्तालिन-माओ का लोकतंत्र-विमुख क्रूर मार्क्सवाद भारत में लगभग एक ही समय अवतरित हुआ था – और इस नयी छाया से जो आगे छत्रछाया बनने को थी, उससे साहित्य या विमर्श का बच निकलना कठिन था। जिसने बचाया वह वही अनेकार्थी साहित्यिक भाषिक रचाव था। इसी कारण, विचारधाराओं के प्रबल समर्थक कई बड़े रचनाकारों को किसी एक कटघरे या खेमे में अँटाना आज भी कठिन है।

लोकतंत्र-विमुख राजनीतिक स्रोतों का प्रबलतम प्रभाव आलोचना-प्रणालियों पर पड़ा। हिन्दी की साहित्यिक आलोचना को अपनी ज़मीन पर खड़ा करने की आचार्य शुक्ल की चेष्टा की इतिश्री स्वयं उन्हीं के साथ हो गई। उन्होंने आधुनिकता के लोकतांत्रिक पक्ष को एक बड़ी हद तक स्वीकार किया था। आलोचना उनके बाद लगातार प्रगतिवाद, नई समीक्षा, शैलीविज्ञान, संरचनावाद, विखंडनवाद इत्यादि छोटे-बड़े आघातों के प्रति दो चरणों में मुखातिब हुई। पहला चरण निषेध, तिरस्कार, भर्त्सना का। दूसरा चरण, मूल स्रोतों को छिपाते हुए, गुपचुप उन्हीं तिरस्कृत शब्दावलियों और पद-प्रत्ययों के प्रयोग का। आधुनिकताओं या उत्तर-आधुनिकताओं के इस तरह के स्वागत के कारण साहित्यिक आलोचना से रचनाकार और पाठक दोनों ही भ्रांतियों के शिकार हुए। खुद आलोचना हँसी का पात्र बनी। उदाहरण के लिए अब "पाठ", "विखंडन", "चिह्न", "नेशनल एलीगरी" जैसे पद-प्रत्ययों का प्रयोग दैनिक पत्रों की समीक्षाओं तक में मिलने लगा है, जबकि "सैद्धांतिक" रूप से अधिसंख्य आलोचक "उत्तर-आधुनिक विमर्श" की बारंबार, लिखित भर्त्सना कर चुके हैं!

"नई समीक्षा" और "आधुनिकतावादी" विभिन्न धाराओं का भारतीय मार्क्सवादी समीक्षा सरणियों में घुलन-मिलन जहाँ दोनों तरह की आधुनिकताओं के स्वागत का संकेत है, वहीं इसका भी कि किसी भी प्रत्यय या प्रणाली की तह तक हमारा कोई आलोचक, आज़ादी के बाद नहीं गया।

क्या वास्तव में हिन्दी का आलोचना-साहित्य इतना दरिद्र है? तब दिवंगत डा. नगेन्द्र के उस कथन का क्या होगा, जो बताता है कि अन्य भारतीय भाषाओं की तुलना में हिन्दी का आलोचना-साहित्य अधिक समृद्ध है? यहाँ आलोचना की आलोचना के सिलसिले में दो-तीन चीजों की ओर ध्यान दिलाना ही अभीष्ट है। पहला यह कि आलोचना एक बौद्धिक विमर्श है और उसके औजार भाषाई होते हुए भी रचना के औजारों से भिन्न हैं। सैद्धांतिक और बौद्धिक तैयारी, सतर्कता, अपने अंतर्विरोधों का परीक्षण वगैरह उसकी खास ज़रूरत है। इस तैयारी का आम तौर पर अभाव है। दूसरा यह कि हिन्दी आलोचना को पेशेवर आलोचकों की अपेक्षा रचनाकार-आलोचकों ने समृद्ध किया है। कवि-आलोचकों के अवदानों की सूची लंबी है। पर आलोचना के सत्ता-विमर्श ने हमेशा उसे केन्द्र से हटाकर दूर रखने की कोशिश की है, ताकि वे रचनाकारों और आम पाठकों तक नहीं पहुँच सकें। एक बड़ा विपर्यास यह भी है कि प्रभुत्वसंपन्न हिन्दी-आलोचना साहित्य के "निर्धारण" में बेहद सफल रही है, जबकि उसका जो प्राथमिक काम है – निरूपण करना – उसमें विफल।

नतीजा यह है कि हिन्दी साहित्य का जो रंगारंग और अनोखा परिदृश्य इस हिन्दी शताब्दी में भारत में बना है, उसमें इतिहास की ही तरह आलोचना में भी जगह-जगह परदे डाल दिये गये हैं। हिन्दी साहित्य के उपलब्ध इतिहासों से, रोज़ निकलने वाली आलोचना-पुस्तकों से, सैकड़ों की तादाद में निकलने वाली लघु-गुरु पत्रिकाओं में छपे आलेखों, टिप्पणियों, समीक्षाओं और संपादकीयों से आज की तारीख में यह नहीं जाना जा सकता कि हिन्दी के साहित्यिक ऊर्जा-स्रोत कौन हैं, कितने सारे हैं, कैसे हैं।

उपन्यास को ही देखें। प्रेमचंद हमारे अक्षय ऊर्जास्रोत हैं – और उनकी परंपरा भी अक्षुण्ण है। लेकिन *गोदान* के तुरंत बाद निकले निराला के *कुल्ली भाट* को आलोचकों ने एक स्वर से एक "चरित्र के अध्ययन" के रूप में दाखिल-दफ्तर कर रखा है। यदि यू. आर. अनंतमूर्ति के विश्वप्रसिद्ध *संस्कार* के साथ उसे कभी देखा जाएगा, तो समय से कितने ही पहले उसमें आधुनिकता और उत्तर-आधुनिकता के कई आविष्कार भी नजर आएंगे।

हमारे बड़े रचनाकार नये-नये शिखर खड़े करते रहे हैं। अज्ञेय का *शेखर: एक जीवनी*, जैनेन्द्र कुमार का *त्यागपत्र*, हज़ारीप्रसाद द्विवेदी का *बाणभट्ट की आत्मकथा*, धर्मवीर भारती का *सूरज का सातवां घोड़ा*, फणीश्वरनाथ रेणु का *मैला*

आंचल, कृष्णा सोबती का *ज़िन्दगीनामा*, मनोहरश्याम जोशी का *कुरु कुरु स्वाहा*, श्रीलाल शुक्ल का *राग दरबारी* और विनोद कुमार शुक्ल का *नौकर की कमीज़* जैसे उपन्यास रचनात्मकता के प्रवाह में नए-नए और मौलिक प्रस्थान बिन्दु हैं। इनमें से अनेक रचनाकारों ने स्वयं एकाधिक ऊर्जा केन्द्र बनाए और स्वयं अपने शैली-शिल्प और भाषिक-रचाव को बिलकुल नये मोड़ दिए। परिदृश्य पूरा करने के लिए यहाँ और भी अनेक पुराने और नये कथाकारों को याद रखना ज़रूरी है, क्योंकि हिन्दी साहित्य में परंपराएं सिर्फ दो नहीं, अनेक हैं। साहित्य में अक्सर कुछ कोटियां बना ली जाती हैं। जैसे सामाजिक उपन्यास, मनोवैज्ञानिक उपन्यास या आदर्शवादी उपन्यास, यथार्थवादी उपन्यास या ऐतिहासिक उपन्यास, राजनीतिक उपन्यास। विवेचन की भाषा की अपनी सीमाएं हैं, इसलिए इस तरह के कोटि-निरूपण से बचना शायद कठिन है। लेकिन आलोचना की दुनिया में स्वनिर्धारित कोटियों-श्रेणियों-प्रत्ययों की बारंबार छानबीन ज़रूरी है। यह इसलिए भी कि पिछले 30-40 वर्षों में तमाम दार्शनिक, वैचारिक और सैद्धांतिक प्रणालियों का विखंडन हुआ है।

"यथार्थवाद" शब्द को ही लें। सौ वर्षों में इस शब्द के अर्थ कहाँ से कहाँ जा पहुँचे हैं – "जादुई" यथार्थवाद और अब "वर्च्युएलिटी" – "आभास" तक! अनुभव-सामग्री को देखें तो कितना बड़ा यथार्थ है जिसका आभास भी हमारी यथार्थवादी कृतियों में न था। अनजाने तथ्य और अनुभव अब दलित लेखन और नारीवादी लेखन के ज़रिये सामने आ रहे हैं। और आज जो सचमुच में विराट-विकराल यथार्थ है, उसे अतियथार्थ कहें या पैरोडी या "हॉरर"? सुख-भोगविलास, गुरबत-गरीबी, यातना-यंत्रणा, शोषण-उत्पीड़न के जो "वास्तविक" दृश्य ऐन इस समय देश और दुनिया में हैं, उनका यथातथ्य "चित्रण" केवल "बेस्टसैलर" "पॉटबॉयलर" उपन्यासों, या खोजी पुस्तकों, या बंबईया और हॉलीवुड फिल्मों में ही मिलता है। लेकिन हिन्दी आलोचना में यथार्थवाद की अवधारणा मानवीय अनुभव-लोक के आयामों को संकुचित करने में ही खर्च होती रही। और मूलतः तो "यथार्थ" का अर्थ "आदर्श" ही था। शब्द चयन में चूक कहाँ हुई?

हिन्दी कविता की गाथा भी एक तरह से महागाथा है। व्याकरण-निष्ठ वाक्य-विन्यास से शुरू करके बीस-तीस वर्ष में ही आधुनिक हिन्दी की कविता निराला के हाथों में अचानक आत्मविश्वास से भर उठी और मनचाही भाषाई,

भावात्मक, लयात्मक और वैचारिक छलांगें लगाने लगी। मैथिलीशरण गुप्त, निराला, पंत, प्रसाद, दिनकर, बच्चन, शमशेर बहादुर सिंह, अज्ञेय, मुक्तिबोध, रघुवीर सहाय, श्रीकांत वर्मा, विजयदेव नारायण साही, धूमिल और अन्य अनेक हमारे पुरोधाओं को अगर कभी-कभी आदि-कवि वाल्मीकि जैसा रोमांच हो आता रहा हो तो आश्चर्य नहीं। ये कवि न केवल एक नई भाषा, हिन्दी भाषा, को गढ़ और संवार रहे थे, बल्कि हर बार एक नयी काव्यभाषा भी तैयार कर रहे थे। और इन्होंने अपने-अपने, सर्वथा नए और अनूठे विविध भाषाई काव्यरूप भी रचे। विभिन्न दौर में कवियों ने परंपरा से, परस्पर और देश-विदेश से प्राप्त हवा के झोंकों से कैसा आदान-प्रदान किया – इसकी कहानी शायद कहानी से भी अधिक उत्तेजक हो सकती है।

जैसे कथासाहित्य में, वैसे ही कवि-सम्मेलन, टी. वी., रेडियो और विशाल पत्र-जगत में लोकप्रिय कविता की भी अनेक धाराएं हैं। एक तरह से यह धारा उत्तर-आधुनिक टेक्नॉलॉजी के भी अनुकूल है और समाज के वास्तविक "अभिजात वर्ग" की नजर में भी। क्या वास्तव में इनकी उपेक्षा करके हिन्दी साहित्य का कोई विश्वसनीय विमर्श बन सकता है?

भाषिक रचाव, अनुभव के दायरे आदि कुछ शब्द यहाँ बार-बार दोहराए जा रहे हैं। ये जड़ीभूत या खोखले या निस्सार लगने लगे हों तो क्षमायाचना। और साहित्य की विधाओं में कौन-कौन से विषय उठाये गये हैं, कौन-कौन सी दृष्टियां सक्रिय हैं – इत्यादि की "ठोस" जानकारियों की माँग अगर मन में उठ रही हो तो सिर्फ यही कहना है कि उनके विषयों और दृष्टियों को संक्षेप में सूचीबद्ध करने में भी एकरसता के खतरे हैं। कविता में "सूक्ष्म" रूप से वे अनेक प्रसंग समाहित हैं जो "स्थूल" रूप या "सुविस्तृत" मात्रा में उपन्यास, नाटक, आत्मकथा, आदि में आए हैं या आ रहे हैं। तकनीकों की सूची के मामले में भी खतरा यही है कि शब्दावली में दोहराव अखरेगा। कहानी की दुनिया की चर्चा करें तब भी वही होगा।

कहानी में उल्लेख्य नामों की लंबी शृंखला है और कहानियों में आए विषयों, भावभूमियों, तकनीकी शिल्पगत उपकरणों की भी। प्रेमचंद, मुक्तिबोध, अज्ञेय, निर्मल वर्मा, ज्ञानरंजन और उदय प्रकाश को ही आसपास रख कर देखें तो कथा-यात्रा के विराट आयामों का अंदाजा हो जाएगा। और अन्य कवि कथाकारों का योगदान अपने ढंग से अनोखा है।

कविता, कहानी और उपन्यास में वैविध्य भरपूर है, ऊंचाइयां भी, गहराइयां भी। साहित्य के कई मोर्चों को खोलते और खोजते हुए, उन पर अलग-अलग मात्रा में और अलग-अलग ढंग से श्रेष्ठ कृतिकारों ने संघर्ष किया। ज़ाहिर है कि बहुत कुछ था और है और आगे होता दिख रहा है जो अब तक पकड़ में नहीं आया है। इधर संस्मरण, यात्रावृत्त, नाटक, आत्मकथा, जीवनी और निबंध इत्यादि अन्य विधाओं में अपेक्षतया स्थिति कम उत्साहजनक है, हालांकि इनमें भी मानक कृतियां काफी तादाद में हैं।

पिछले बीस-तीस साल के दौर ने साहित्यिक उत्तेजना को किसी नये शिखर पर नहीं पहुँचाया – शायद इस बात पर बहुत असहमति नहीं होगी। "आवां गार्द" और "रक्त-क्रांति", दोनों तरह के चरमपंथों के अग्रदूत देख चुके हैं कि साहित्य से बहुत ही बड़ी अपेक्षाएं की गई थीं। वे सब मनोमय जगत् की उपज थीं। समाज, व्यक्ति और साहित्य के रिश्तों का यथार्थ कुछ और ही है, यह समझ अब बढ़ी है। पर इसके भी कई तरह के नतीजे हुए हैं। एक तो यही कि अपने बुजुर्गों के कृतित्व को चुनौती देने का, उनसे विद्रोह का, बिलकुल नई शुरूआत करने का वैसा हौसला नहीं दिखाई दे रहा, जैसा पिछली अनेक पीढ़ियों के लोगों में था और जिन्हें यहां ऊर्जा स्रोत कहा गया है। एक दूसरे को पढ़ने के, बहस करने के उदाहरण भी अब कम दीख रहे हैं। मानो दाय में जो संवेदनात्मक, भाषाई और तकनीकी प्रौढ़ता मिल गई है और जिसे बरत कर स्तुति-स्वीकृति की मुहर लग जाती है – उसके बाद अभ्यवसाय और अध्ययन की जरूरत नहीं! दैनंदिन जीवन में आजीविका वगैरह के संघर्षों के अलावा अनेक नये-नये व्यतिक्रम या आकर्षण पैदा हो गए हैं – जैसे टी. वी., वीडियो और उपभोक्ता वस्तुओं का विस्फोट। सूचनाओं के अंबार में कभी-कभी यह भी लगने लगता है कि जो कुछ जानना है, वह तो हम जानते ही हैं। "डिज़ाइनर" नुस्खों और "टेक्नॉलॉजीकल" फिक्स की भी अपनी भूमिकाएं होंगी ही। आधुनिकता और उसके दर्शनों ने निश्चयात्मकता, सार्वभौमिकता, प्रामाणिकता इत्यादि के जो आश्वासन और मानदंड दिए थे, वे सब सूचनाक्रांति और "वर्च्युएलिटी" के दौर-दौरे में छिन्न-भिन्न हुए हैं। सैद्धांतिकी में हमने इसे भले ही कम स्वीकारा हो, पर दैनंदिन जीवन में प्रमाणों की भरमार है। तब क्या यह रचनाधर्मियों की ओर से भी एक रचना-विरोधी माहौल है? दीर्घकालिक इतिहास देखें तो पाएंगे कि

रचनाकारों के हौंसले हमेशा बुलंद रहे। व्यवधान जो भी रहे हों, साहित्य तो रचा ही जाता रहा। अतः मौजूदा दशा में भी नई दिशाएं खुलेंगी, यह मान कर हम चल सकते हैं। भविष्य को भूत से पूरी तरह छुटकारा कभी नहीं मिलता, फिर भी रचनात्मकता अपने समय में कैद होकर रह जाएगी ऐसा मानने का कोई कारण नहीं है।

प्रदर्शनकारी कलाओं में हिन्दी

नेमिचन्द्र जैन*

हिन्दी क्षेत्र के अनेक संकटों और अन्तर्विरोधों में एक यह भी है कि उसकी भाषा, उसके पारस्परिक सम्पर्क, शिक्षा और सृजनात्मक अभिव्यक्ति का सबसे महत्त्वपूर्ण साधन, लम्बे समय से राजनीति की उठापटक में ग्रस्त है। उर्दू के साथ उसके जन्मजात विवाद, और स्वतंत्र भाषा पद की हकदार विविध बोलियों के खिंचाव के साथ-साथ, स्वाधीनता के पहले और बाद से, हिन्दी के देश की राष्ट्रभाषा, राजभाषा या सम्पर्क-भाषा होने या हो सकने का सवाल अक्सर बेहद विस्फोटक रूप ले लेता है। इस कारण सृजनात्मक और वैचारिक अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में हिन्दी भाषा की स्थिति, उसकी ज़रूरतों और चुनौतियों पर हमारा ध्यान नहीं जाता। साहित्य, रंगकर्म आदि सृजनात्मक क्षेत्रों में समस्या यह नहीं है कि उनमें हिन्दी का इस्तेमाल होगा या नहीं होगा। वहाँ सवाल ये है कि भाषा ने प्रयोग में क्या रूप अख्तियार किया है, किस हद तक उसने विस्तार हासिल किया है, कैसी सूक्ष्मता या बहुस्तरीयता हासिल की है। यानी माध्यम के रूप में हिन्दी भाषा ने इन कलाओं में पिछले 50 वर्षों में कोई कदम आगे बढ़ाया है या नहीं। मगर प्रदर्शनकारी कलाओं से संबंधित इन सवालों पर कुछ विचार करने से पहले हिन्दी भाषा की सामान्य स्थिति और समृद्धि के बारे में एक-दो बातों की ओर इशारा करना ज़रूरी है।

वास्तव में, हिन्दी के सन्दर्भ में भाषा के सवाल के दो-तीन स्तर हैं, जिनको कई बार ठीक से अलगाया नहीं जाता। जैसे, एक स्तर हिन्दी को राष्ट्रभाषा या राजभाषा बनाने का है जो बड़े राजनैतिक और आर्थिक सवालों से जुड़ा हुआ है। दूसरा है, हमारे देश की संपर्क भाषा के रूप में हिन्दी की स्थिति। यानी वह राष्ट्र की भाषा बने या न बने, पर हिन्दी का कोई लेखक या रंगकर्मी मलयालम, कन्नड़,

---

* साहित्यकार और सम्पादक, *नटरंग*

उड़िया, असमिया नाटककारों या रचनाकारों से मिलने पर उनसे किस भाषा में बात करें? अंग्रेजी में? हिन्दी में? उनकी अपनी भाषा में? या किसी तरह की मिली-जुली भाषा में? इस बात पर विभिन्न कलाओं के क्षेत्र में काम करने वाले लोगों के बीच गंभीरता से विचार होना चाहिए कि संपर्क की भाषा के रूप में हिन्दी की क्या स्थिति है और वह संपर्क उसके माध्यम से बढ़ता है या नहीं, बढ़ा है या नहीं। इस सवाल पर मौजूदा अनिश्चय और अनिर्णय का कलाओं के विकास और रूप पर बहुत असर पड़ता है।

इसके बाद भाषा के सवाल पर तीसरा स्तर है – रचना के माध्यम के रूप में हिन्दी की स्थिति का। एक हद तक यह कहा जा सकता है कि हिन्दी राजभाषा या राष्ट्रभाषा बने या न बने, भाषा की रचनात्मकता के लिए, उसकी वैचारिक सक्षमता के लिए, जो काम आवश्यक हैं वे किये जाने चाहिएं, और हिन्दी को सक्षम भाषा बनाने, आज के ज्ञान-विज्ञान के युग में उसको अधिक समर्थ और बहुआयामी साधन बनाने की कोशिश की जानी चाहिए। एक बहुत छोटा-सा उदाहरण है। अंग्रेज़ी के ऑक्सफ़ोर्ड कोश का थोड़े-थोड़े वर्षों के बाद नया संस्करण निकलता रहता है, जिसमें उस भाषा में आया हुआ कोई भी नया शब्द अपने अर्थ, स्रोत, व्यवहार के रूप आदि सहित मिल जाता है। मगर गणतंत्र बनने के 50 वर्ष बाद भी हिन्दी में किसी ऐसे कोश की व्यवस्था नहीं बन सकी जो विश्वसनीय हो, जिसके पीछे कोई सचमुच वैसा अध्यवसाय हो जो लगातार बदलती हुई स्थिति में हिन्दी भाषा के विकसित होते हुए स्वरूप को प्रस्तुत कर सके, और उस भाषा को इस्तेमाल करने वाले नये-पुराने शब्दों के अर्थ और व्यवहार का सारा संदर्भ देख सके। ऑक्सफ़ोर्ड कोश के लघु (शॉर्ट) या संक्षिप्त (कंसाइज़) संस्करणों में भी अंग्रेज़ी भाषा के बारे में जैसी जानकारी मिल जाती है, वह बेमिसाल है। हिन्दी में शायद यह काम इतनी सम्पूर्णता से इतनी जल्दी पूरा नहीं हो सकता था, पर कम से कम उसकी शुरूआत तो हो सकती थी पर वह भी नहीं हुई। इसी तरह हिन्दी में कोई ऐसा विश्वकोश नहीं बना जिसके माध्यम से समस्त नहीं तो सभी आवश्यक जानकारी अध्येता, छात्र या लेखक को सुलभ हो सके।

इस स्थिति का सीधा संबंध हिन्दी में वैचारिक साहित्य यानी विभिन्न विषयों पर मौलिक चिन्तन के साहित्य के लेखन से है, विज्ञान संबंधी लेखन से है, स्वयं साहित्य और कलाओं के बारे में मौलिक चिन्तन और सैद्धान्तिक विश्लेषणपरक लेखन से

है पर ऐसा मौलिक साहित्य लिखा कैसे जाये अगर उसके उपयोग की कोई संभावना ही न हो? किसी भी अनुशासन में, कोई भी लेखक सचमुच शोधमूलक अथवा सैद्धान्तिक लेखन, हिन्दी में क्यों और कैसे करे, यदि ऐसी रचना के लिए उसको कोई प्रकाशक या उपयोग करनेवाला ही नहीं मिलेगा? जो छात्र हैं, अध्यापक हैं, वे सभी अंग्रेज़ी किताबों का उपयोग करते रहेंगे। हिन्दी में ऐसी किताब को कोई छुएगा भी नहीं। ज़्यादा से ज़्यादा, अगर वह लेखक प्रभावशाली है तो, उसकी 100-200-500 प्रतियाँ सरकार खरीद लेगी और उसके बाद बात खत्म हो जाएगी। पर कलाओं सहित विभिन्न विषयों पर हिन्दी में मौलिक लेखन के लिए आवश्यक परिस्थितियाँ तैयार करना, उसके ज़रूरी साधन जुटाना, प्राथमिक महत्त्व का काम है जिसके बिना भाषा आगे नहीं बढ़ सकती।

यह बात इसलिए भी उठाना ज़रूरी है क्योंकि इसका असर रचनात्मक लेखन के ऊपर भी पड़ता है। रचनात्मक कार्य के लिए जो आवश्यक औज़ार चाहिएं, वे ज़्यादातर हिन्दी में नहीं मिलते। विदेशी रचनाकारों-विचारकों की पुस्तकें अगर हमें अंग्रेज़ी में ही पढ़नी पड़ेंगी तो हमारे चिन्तन और विचार की प्रक्रियाएँ भी अंग्रेज़ी में ही होंगी, हमारे अनेक प्रत्यय और बिंब अंग्रेज़ी के माध्यम से ही आयेंगे और हम उन्हीं का जाने-अनजाने अनुवाद अपने मन में करते रहेंगे। हिन्दी में हमें न तो अपने ही देश का अधिकांश प्राचीन साहित्य – संस्कृत, प्राकृत या अपभ्रंश में लिखा गया विविध विषयों का लेखन – उपलब्ध है, न पुराना या नया विदेशी ज्ञान-विज्ञान का साहित्य। ऐसी स्थिति में, जिनके मन में ज़रा भी जिज्ञासा होगी वे अन्ततः अंग्रेज़ी के माध्यम से ही संसार के सृजनात्मक और वैचारिक साहित्य और चिन्तन से अपने आपको थोड़ा बहुत परिचित रखने की कोशिश करेंगे। इस कठिनाई या संकट को ठीक से समझे बिना साहित्य अथवा अन्य कलाओं में हिन्दी की स्थिति का सही अन्दाज़ा नहीं हो सकता। यह बड़े दुर्भाग्य की बात है कि हिन्दी के संस्थान, विश्वविद्यालय आदि इन बुनियादी ज़रूरतों पर ध्यान नहीं देते।

जहाँ तक प्रदर्शनकारी कलाओं में हिन्दी की स्थिति का सवाल है, सबसे पहले तो हमें इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि इन कलाओं में भाषा मात्र की स्थिति वैसी न तो है न हो सकती है जैसी साहित्य में अनिवार्यतः है। इन कलाओं में अभिव्यक्ति का एक मात्र और केन्द्रीय माध्यम या साधन भाषा नहीं है। जैसे संगीत

में मुख्य माध्यम भाषा नहीं, कंठ है, स्वर है। नृत्य में देह है, भंगिमा है, चेहरा है। भाषा सहायक होती है, आवश्यक भी होती है, पर वह केन्द्रीय नहीं है। रंगकला यानी नाटक की स्थिति थोड़ी-सी भिन्न है। उसमें भाषाई तत्त्व के साथ-साथ ही दूसरे तमाम वाक्षुष तत्त्वों का, प्रयोग होता है। रंगकला में सामान्यतया भाषा का प्रयोग अनिवार्य ही है, हालांकि रंगकला के ऐसे बहुत सारे रूप हैं जिनमें भाषा का प्रयोग बिलकुल नहीं होता या वह बहुत ही कम काम आती है। जैसे, माइम या अभिनटन जिसमें भाषा की आवश्यकता नहीं होती। मंच पर नाटक के प्रदर्शन में भी शब्द आवश्यक तो हैं, पर एक हद तक अभिनेता अपने शरीर से, चेहरे से, व्यक्तित्त्व से, अपनी सूझ-बूझ से, अपनी क्षमता से, भाषा के प्रयोग को सीमित कर देता है। कई बार उसकी उपस्थिति, उसके उच्चारण, उसके लहजे, उसकी वेशभूषा आदि से ही ऐसा बहुत-कुछ अभिव्यक्त और सम्प्रेषित हो जाता है जिसके लिए साधारणतः भाषा की आवश्यकता होती है।

इसके बावजूद नाटक रंगकला का एक महत्त्वपूर्ण अवयव है। हमारे देश में हिन्दीभाषी क्षेत्र में – हिन्दी को अगर व्यापक रूप में देखें तो खड़ी बोली के क्षेत्र के बजाए पूरे हिन्दीभाषी क्षेत्र में – पुराने ज़माने से, बहुत सारे पारम्परिक नाट्यरूप मौजूद रहे हैं – रामलीला, रासलीला, भगत, स्वांग, नौटंकी, सांग, माच, ख्याल, या फिर नाचा, पंडवानी आदि। ये नाट्यरूप किसी न किसी तरह के आलेख पर आधारित रहे हैं, उनमें नियमित नाटकों का प्रयोग नहीं होता। ये आलेख नाट्यरूप के क्षेत्र-विशेष की बोली में तैयार होते और खेले जाते रहे हैं, जैसे, रासलीला ब्रजभाषा में, रामलीला अवधी में, सांग हरियाणवी में, नौटंकी/स्वांग ब्रज और उर्दू मिश्रित खड़ी बोली में, माच मालवी में, ख्याल राजस्थानी में, आदि।

पिछली शताब्दी में जब भारतेन्दु ने आधुनिक नाटकों की शुरुआत की तो उन्होंने नाटकों के लिए खड़ी बोली गद्य को सँवारा और साथ ही पद्यात्मक अंशों के लिए ब्रजभाषा का प्रयोग किया। मगर उसी समय पश्चिमी नाटक-रंगमंच से प्रेरित एक और रंगशैली शुरू हुई जिसको हम पारसी रंगमंच के नाम से, या देशव्यापी रूप में कंपनी रंगमंच के नाम से, जानते हैं। यह रंगशैली व्यावसायिक थी जिसमें उर्दू या उर्दूप्रधान खड़ी बोली का प्रयोग होता था। पारसी रंगमंच की भाषाशैली लगभग सौ वर्ष तक चलती रही। साथ ही कलात्मक दृष्टि से, सांस्कृतिक अभिव्यक्ति की दृष्टि

से, जिस नाटकशैली की शुरूआत भारतेन्दु ने की थी वह भी चलती रही। पर उसमें जो नाटक लिखे गए उनमें से अधिकतर रंगमंच पर नहीं पहुँच सके, थोड़े-बहुत स्कूल-कॉलेजों में पढ़े और खेले जाते रहे।

वास्तव में, आज़ादी के बाद, पिछले पचास वर्ष के दौर में ही, बहुत दिनों के बाद, हिन्दी क्षेत्र में नाटक की फिर से प्रतिष्ठा हुई। अब खड़ी बोली हिन्दी में नये ढंग से नाटक लिखे जाने लगे और रंगकला का विस्तार हुआ। नाटक के इस विस्तार का यह बहुत ही दिलचस्प पक्ष है कि शुरू में जो नाटक हिन्दी में सुलभ थे उनकी संख्या बहुत कम थी और वह पूरे हिन्दीभाषी क्षेत्र की नयी-नयी उभरती नाटक मंडलियों के लिए नाकाफ़ी थी। इसलिए यह बहुत आवश्यक हुआ कि विदेशी भाषाओं से अनुवाद किये जायें। फिर कुछ लोगों को यह लगा कि विदेशी भाषाओं की अपेक्षा दूसरी भारतीय भाषाओं के नाटकों के अनुवाद किये जायें तो वे हमारे ज़्यादा नज़दीक होंगे, हमारी सांस्कृतिक और अन्य सामाजिक परिस्थितियों के अधिक अनुकूल और इसलिए अधिक प्रभावी हो सकेंगे। इस तरह भारतीय भाषाओं के नाटकों के हिन्दी में अनुवाद की प्रक्रिया शुरू हुई जो पिछले 30-40 वर्ष में अटूट रही है।

इस प्रक्रिया के कई महत्त्वपूर्ण परिणाम हुए। जैसे, देश की दूसरी भाषाओं का सर्वश्रेष्ठ नाट्य साहित्य, लगभग सारा, हिन्दी में सुलभ हो गया है और केवल हिन्दी में उपलब्ध नाटकों से पूरे भारतीय नाटक की स्थिति से परिचित हुआ जा सकता है, भले ही देशव्यापी हिन्दी रंगमंच की अपनी ज़रूरत के कारण ही हिन्दी में इतने सारे नाटकों का अनुवाद हुआ। बाद में यह भी कहा जाने लगा कि हिन्दी के मूल नाटककार को किसी तरह का सहारा नहीं मिलता, उसकी उपेक्षा होती है, और हिन्दी का रंगमंच अनुवाद का रंगमंच होता जा रहा है, जिसके कई तरह के हानिकारक परिणाम हिन्दी नाटक और रंगकर्म के लिए हुए हैं। मगर दूसरी ओर इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि देश की किसी भी भाषा में इतनी शैलियों के इतने उत्कृष्ट नाटक मौजूद नहीं हैं जितने हिन्दी में हैं। बांग्ला में विदेशी अनुवाद बेशुमार मिल जायेंगे, देश की कुछ दूसरी भाषाओं में भी मिल जायेंगे, पर भारतीय भाषाओं के श्रेष्ठ नाटक जितनी संख्या में हिन्दी में उपलब्ध हैं, उतने और किसी भाषा में नहीं हैं। यानी हिन्दी नाटक का देश की दूसरी तमाम भाषाओं से बड़ा व्यापक संपर्क हुआ।

इस तरह जहाँ तक भारतीय नाटक और रंगमंच का सवाल है, हिन्दी एक संपर्क-भाषा का काम करती है। हिन्दी में देश के सभी श्रेष्ठ नाटककारों के नाटक जगह-जगह खेले गये हैं जिससे अनेक क्षेत्रीय नाटककारों को भारतीय नाटककार का दरजा मिला है। उदाहरण के लिए, गिरीश कर्नाड अब तो फ़िल्म के कारण भी जाने जाते हैं, पर एक ऐसा वक्त था जब वह इसलिए जाने जाते थे क्योंकि उनके नाटक *तुगलक* या *हयवदन* पहली पहली बार हिन्दी में ही खेले गये थे – पहले महानगरों में, बाद में कई अन्य हिन्दीभाषी नगरों में। इस कारण देश भर में उनके नाम से लोग परिचित हुए। यह हिन्दी का बड़बोलापन नहीं माना जाना चाहिए कि उसके कारण विभिन्न भाषाओं के नाटकों और नाटककारों को एक तरह की राष्ट्रीय स्वीकृति मिली। केवल यही नहीं, तमाम भाषाओं के ऐसे अनेक नाटककार हैं – मराठी के विजय तेंदुलकर, चिंतामणि खानोलकर, जयवंत दलवी, महेश एलकुंचवार, गोविन्द देशपांडे, बांग्ला के बादल सरकार, शम्भु मित्र, उत्पल दत्त, मोहित चट्टोपाध्याय, आदि – जिनके नाटक हिन्दी में अनूदित हुए और खेले गए जिससे उनकी एक भारतीय नाटककार की छवि बनी।

संभवतः केवल नाटक ही ऐसा क्षेत्र है जिसमें हिन्दी के माध्यम से भारतीयता का एहसास, भारतीय नाटक और रंगमंच का एहसास पैदा हुआ। साथ ही, इसका एक और पक्ष है जिसने थोड़ी उलझन पैदा की। 20-25 वर्ष पहले दिल्ली में एक अखिल भारतीय परिसंवाद आयोजित किया गया, जिसका विषय था – हिन्दी रंगमंच ही भारत का राष्ट्रीय रंगमंच है। परिसंवाद में देश की कई भाषाओं के रंगकर्मी/समीक्षक मौजूद थे, हिन्दी के तो थे ही। भाग लेनेवालों में से बहुतों ने इस विचार का समर्थन किया कि हिन्दी रंगमंच को राष्ट्रीय रंगमंच का दर्जा दिया जाना उचित होगा। पर कुछ लोगों ने इसका विरोध किया और कहा कि देश की प्रत्येक भाषा का रंगमंच राष्ट्रीय रंगमंच है, और केवल हिन्दी को राष्ट्रीय रंगमंच कहना उचित नहीं है। इन पंक्तियों का लेखक इस विरोध से सहमत था, क्योंकि अगर राष्ट्रीय रंगमंच का सवाल भी राष्ट्रभाषा के सवाल की तरह ही हिन्दी में उठाया जाता तो हिन्दी के रंगमंच को जो देशव्यापी स्वीकृति आज मिल रही है वह समाप्त हो जाती, और विरोध बढ़ जाता। उससे हिन्दी रंगमंच का कोई लाभ नहीं होता। यह खुशी की बात है कि उस वक्त इस आशय का जो प्रस्ताव उस परिसंवाद में पेश होने वाला था, उसे नहीं रखा गया। बल्कि वह विचार ही नहीं स्वीकार किया गया, और यह माना गया कि हमारे देश में बहुत-सी ऐसी भाषाएं

हैं जिनमें रंगमंच समृद्ध है। कई भाषाएं तो ऐसी हैं जिनमें रंगमंच हिन्दी से ज्यादा समृद्ध है। उनके रंगमंच को राष्ट्रीय न मानकर हिन्दी के रंगमंच को राष्ट्रीय मानना, जबकि हिन्दी में अपने मौलिक नाटकों की संख्या अपेक्षाकृत उस समय तक और भी कम थी, किसी तरह संगत नहीं है। उस संयमपूर्ण निर्णय का जो नतीजा हुआ वह ध्यान देने योग्य है। राष्ट्रभाषा का आन्दोलन जिस तरह चलाया गया उसने एक तरह से हिन्दी को दूसरी भाषाओं के विरुद्ध खड़ा कर दिया या दूसरी भाषाओं को हिन्दी के विरुद्ध खड़े हो जाने दिया, और पूरा मुद्दा राजनीति का सवाल, राजनीतिक श्रेष्ठता और अधिकार का, बराबरी का, सवाल बन गया। सौभाग्य से रंगमंच में यह नहीं हुआ और हिन्दी रंगमंच को स्वीकृति लगातार मिलती गई।

इस सन्दर्भ में एक और बहुत दिलचस्प तथ्य यह भी है कि हिन्दी के नये रंगमंच की शुरूआत पूरी तरह से हिन्दीभाषी क्षेत्रों में नहीं हुई। वह महानगरों में हुई – बंबई में, कलकत्ते में, दिल्ली में। दिल्ली भी इसलिए कि वह तब तक तो एक पंजाबी शहर बन चुका था। पचास के दशक में दिल्ली हिन्दीभाषी शहर सिर्फ कहने के लिए ही था। आज़ादी के पहले ज़रूर वह हिन्दीभाषी शहर रहा होगा, पर 1950-54 तक, वह मुख्यतः पंजाबीभाषी शहर हो गया था। बहरहाल, हिन्दी रंगमंच की या हिन्दी नाटक की जो प्रगति हुई वह बहुत हद तक महानगरों में हुई, यानी दूसरी भाषाओं के गढ़ों में, केन्द्रों में हुई। इस तरह हिन्दी रंगमंच का दूसरी भाषाओं के रंगमंच के साथ यह जो लेन-देन है वह लगातार बना रहा और इसने पूरे देश के रंगमंच के विकास पर बहुत असर डाला।

हिन्दी रंगमंच का यह बहुत ही अनूठा पक्ष है कि देश की भाषाओं के और विदेशी भाषाओं के भी, सर्वश्रेष्ठ नाटक हिन्दी में अनूदित हुए और प्रस्तुत किए गए। यही नहीं, अनेक अहिन्दीभाषी निर्देशकों ने लगातार हिन्दी नाटक खेलने का काम किया। ऐसे प्रमुख निर्देशकों की सूची बहुत बड़ी है और केवल निर्देशक ही नहीं, हिन्दी रंगमंच पर काम करने वाले ऐसे अभिनेताओं की संख्या भी बहुत बड़ी है जिनकी मातृभाषा हिन्दी नहीं है। कन्नड़भाषी ब. व. कारंत का नाम बहुत लोग जानते होंगे। वह हिन्दी नाटकों के निर्देशन के लिए तो मशहूर हैं ही, अभिनय भी हिन्दी में करते हैं और हिन्दी के छात्र एवं विद्वान रहे हैं। इसी तरह अनेक मराठीभाषी और गुजरातीभाषी हिन्दी में अभिनय करते हैं, बांग्लाभाषी, मलयालमभाषी,

असमिया बोलने वाले हिन्दी में अभिनय करते हैं। देश की विभिन्न भाषाओं के बीच ऐसा मेलजोल, हिन्दी रंगमंच, हिन्दी अभिनय और समस्त हिन्दी रंगकला का बहुत ही सार्थक पक्ष है। इसका एक महत्त्वपूर्ण परिणाम यह भी हुआ कि हिन्दी रंगसृष्टि का, हिन्दी में नाटक के प्रस्तुतीकरण का स्तर बहुत ऊँचा उठ गया। बल्कि शायद यह बिना किसी संकोच के कहा जा सकता है कि कई प्रकार से सर्वश्रेष्ठ भारतीय रंगसृष्टि का बहुत बड़ा अंश हिन्दी में ही हुआ है। दूसरी भाषाओं में बड़े अभिनेता हैं, बड़े नाटककार भी हैं, पर रंगकला की श्रेष्ठतम उपलब्धि में बहुत बड़ा योगदान हिन्दी रंगसृष्टि का है, जिसमें हबीब तनवीर जैसे शीर्षस्थ रंगकर्मी का काम शामिल है। उन्होंने जिस तरह की नयी राह दिखाने वाला, आगे का रास्ता दिखाने वाला, काम किया है उसको देश में ही नहीं पूरी दुनिया में मान्यता और स्वीकृति मिली है।

हिन्दी में भारतीय तथा विदेशी भाषाओं के सर्वश्रेष्ठ नाटक सुलभ होने के नतीजों के बारे में कुछ लोगों की यह राय भी है कि इससे हिन्दी नाटककार की प्रतिभा कुंठित होती है, देशव्यापी रचनात्मक चुनौती के कारण उसका आत्मविश्वास कम होता है। पर यह तर्क सुचिंतित तो है ही नहीं, साथ ही हिन्दी नाटककार की प्रतिभा और क्षमता के साथ बड़ा अन्याय भी करता है। हिन्दी कवि और कथाकार को अंग्रेज़ी के माध्यम से सारी दुनिया के प्राचीन और समकालीन सर्वश्रेष्ठ रचनाकारों का कृतित्व सुलभ है, पर उससे हिन्दी रचनाकार की प्रतिभा कुंठित नहीं, समृद्ध ही हुई है। वास्तविक स्थिति यह है कि वैचारिक साहित्य की रचना में, ज्ञान-विज्ञान की दिशा में, कार्यालयों में, दूसरी जगहों में, हिन्दी के विस्तार की जो भी हालत हो, जहाँ तक रंगमंच का सवाल है, हिन्दी ने पूरे देश के साथ अपने आपको संयुक्त करके रखा है और उस संपृक्ति से उसने बड़ी प्रौढ़ता और शक्ति हासिल की है, श्रेष्ठता के नये प्रतिमान स्थापित किए हैं। यहाँ इस बात का भी ज़िक्र किया जा सकता है कि हिन्दी और उर्दू के बीच जो एक तरह की टकराहट-जैसी राजभाषा या सम्पर्क भाषा के मामले में कई बार होती है, वह नाटक के क्षेत्र में नहीं के बराबर है। हिन्दी और उर्दू रंगमंच के बीच कोई दरार नहीं है।

सच बात यह है कि हिन्दी रंगकला में, हिन्दी नाटक-लेखन में भी, जो विविधता और समृद्धि आयी है वह दूसरी भाषाओं के साथ संपर्क के कारण भी आयी है। तरह-तरह के अभिनेताओं, निर्देशकों के काम के कारण भी हिन्दी रंगकला की

भाषा में वह लचीलापन आया है जो रंगमंच की भाषा के लिए बहुत ज़रूरी होता है। इस दृष्टि से यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि जहाँ तक नाटक का क्षेत्र है, हिन्दी ने विस्तार भी हासिल किया है और संस्कार भी। दिल्ली का ही उदाहरण लें तो, 50 के दशक में यहाँ बोलबाला अंग्रेज़ी में नाटक करने वालों और विदेशी नाटकों का ही था। राजधानी का उच्च वर्ग, सुविधा प्राप्त वर्ग, या सत्ताधारी वर्ग, अंग्रेज़ी नाटक ही देखता था। उन दिनों वही थोड़ा-बहुत यहाँ होता था। पर धीरे-धीरे हिन्दी नाटक ने अंग्रेज़ी नाटक को अपदस्थ कर दिया और जो लोग पहले अंग्रेज़ी नाटक देखने जाते थे वे सब हिन्दी नाटक देखने आने लगे। बेशक वह दर्शक समुदाय छोटा था, आज भी वह बहुत बड़ा नहीं है।

पर दर्शकों की कमी के और भी कारण और पक्ष हैं। एक तो यही कि जिस तरह से साहित्य में पाठक की कमी की शिकायत लगातार बनी रहती है उसी तरह नाटक में दर्शकों की कमी की शिकायत भी बनी रहती है। बल्कि नाटक में तो यह कमी बहुत ही घातक है। साहित्य के लिए, किसी श्रेष्ठ रचना के लिए, पाठक तो कभी न कभी मिल ही जाएगा, आज नहीं तो दस-पचास या सौ साल बाद मिल जाएगा। लेकिन नाटक के लिए दर्शक का होना अनिवार्य है। अगर सामने दर्शक मौजूद न हों तो नाटक हो ही नहीं सकता। इसलिए दर्शक की कमी बड़ी भारी चुनौती है नाटक में। पर फिर भी पिछले कुछ दशकों में हिन्दी नाटक को जो दर्शक मिले वे इस कारण मिले कि हिन्दी के नाटक की क्षमता का उन तमाम क्षेत्रों में विस्तार हुआ जहाँ पहले अंग्रेज़ी का वर्चस्व था। यहाँ तक कि दिल्ली में अंग्रेज़ी में नाटक करने वाले जो दल थे उन्होंने हिन्दी में नाटक करना शुरू किया। अंग्रेज़ी के नाटकों का निर्देशन करने वाले लोग हिन्दी में नाटकों का निर्देशन करने लगे। इसमें कोई संदेह ही नहीं कि उस दौर में दिल्ली में हिन्दी रंगकला ने अंग्रेज़ी को सृजनात्मक स्तर पर अपदस्थ किया और जहाँ अंग्रेज़ी मौजूद थी वहाँ हिन्दी आ गयी।

यह कुछ दुर्भाग्य की ही बात है कि इस मामले में पहिया पूरा घूमकर पुरानी जगह पहुँचता दीखता है। अब एक नया दौर हिन्दी नाटक-जगत में, बल्कि पूरे देश के, हर भाषा के नाटक-जगत में, शुरू हो रहा है जिसमें अंग्रेज़ी नाटक फिर से हिन्दी और भारतीय भाषाओं के नाटक को पीछे धकेल रहा है। इस समय एक बड़ी भारी चुनौती हिन्दी रंगमंच के सामने, बल्कि पूरे भारतीय

रंगमंच के सामने है कि हर जगह श्रेष्ठता, वरीयता अंग्रेज़ी नाटक को हासिल होती जा रही है। अंग्रेज़ी नाटक करनेवालों को सब तरह के साधन सुलभ हो रहे हैं। दिल्ली में ही, जहाँ पहले उनको कोई पूछता नहीं था, उनकी कोई कद्र नहीं रह गई थी, वे अब नये साधनों-संरक्षकों से लैस होकर सामने आ रहे हैं। आजकल अंग्रेज़ी के प्रदर्शनों में अंग्रेज़ीदां सत्ताधारी वर्ग के दर्शक बड़ी संख्या में आते हैं। इन प्रदर्शनों के 500-200-100 रु. तक के टिकट होते हैं फिर भी उनके एक साथ दस-बीस प्रदर्शन लगातार होते हैं और वे दर्शकों से भरे रहते हैं, जबकि हिन्दी नाटक के एक-दो प्रदर्शनों के लिए भी दर्शक जुटाना मुश्किल होता है। रंगकला में, प्रदर्शनकारी कला में, हिन्दी और भारतीय भाषाओं के फिर से पीछे हटने का यह एक नया सिलसिला शुरू हुआ है। अगर हिन्दीभाषी कलाप्रेमी इसके बारे में सतर्क न होंगे, इसका सामना करने की कोशिश नहीं करेंगे तो रंगकला को जीवित रखने के लिए आवश्यक सारे साधन अंग्रेज़ी में नाटक करने वालों के हाथ में चले जायेंगे।

यहाँ यह बात कहना उपयोगी होगा कि नाटक-रंगमंच ऐसा क्षेत्र है जिसमें सामाजिक स्वीकृति, सहायता और सक्रिय संरक्षण अनिवार्य है। दुनिया में कहीं भी सामाजिक सहयोग और संरक्षण के बिना अच्छा कलात्मक रंगमंच नहीं चलता। यह संभव है कि वह फिल्मों की तरह व्यावसायिक रूप अख्तियार कर ले और वैसे ही नुस्खों और मसालों के सहारे चलता रहे। पर श्रेष्ठ कलात्मक रंगमंच के लिए, जीवन को दिखाने वाले, हमारे लिए आईना बनने वाले रंगमंच के लिए, सामाजिक सहयोग और सहारा आवश्यक है। स्वाधीनता के बाद प्रारंभिक दशकों में ऐसे साधन भारतीय तथा हिन्दी रंगमंच को थोड़े-बहुत मिले थे जिसके कारण पिछली प्रगति संभव हुई। पर अब ये साधन फिर से सीमित होने लगे हैं, कम होने लगे हैं। आज इसका प्रतिकार करना रंगकर्मियों के लिए, रंगकला में लगे लोगों के लिए, सबसे ज़रूरी काम है।

रंगकला में हिन्दी की स्थिति के कई और भी व्यावहारिक तथा सृजनात्मक पक्ष हैं, पर यहाँ उस विस्तार में जाना संभव नहीं है। पर थोड़ी-सी चर्चा नृत्य और संगीत में हिन्दी की स्थिति के बारे में करना उपयोगी होगा। सृजनात्मक स्तर पर नृत्य में भाषा की ज़रूरत नाटक की तुलना में और भी कम है। नृत्य का अधिकतर अंश तो संगीत और लय से नियंत्रित गतियों, भंगिमाओं, हस्तकों और मुद्राओं का ही होता

है। शब्दों की ज़रूरत सिर्फ अभिनय के लिए ही होती है। जैसे, कत्थक को ही लें। कथक में पहले अभिनय के लिए ब्रजभाषा या खड़ीबोली-मिश्रित ब्रजभाषा की शृंगार या भक्तिपरक रचनाओं का व्यवहार होता था। पर पिछले 50 वर्ष के दौर में ब्रजभाषा की गतानुगतिक पारंपरिक रचनाओं के साथ-साथ अन्य श्रेष्ठ रचनाओं का भी व्यवहार बढ़ा है। जैसे, *रामचरितमानस* के प्रसंगों और सूरदास के पदों या अन्य कवियों की रचनाओं का प्रयोग कत्थक में हुआ। आधुनिक कवियों में निराला की कविता *जुही की कली* तथा *तारक रुमालिन चारी*, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना की *खोट*, धर्मवीर भारती की *कनुप्रिया* के अंशों का तथा माखनलाल चतुर्वेदी एवं अशोक वाजपेयी की कविताओं का उपयोग विभिन्न कत्थक नृत्यकारों ने किया। इस प्रकार हिन्दी का प्रसार नृत्य के क्षेत्र में, शास्त्रीय नृत्य के क्षेत्र में बढ़ा है। कत्थक ही नहीं, दूसरी नृत्य-शैलियों में भी इसका उपयोग होना शुरू हुआ है। भरतनाट्यम में, ओडिसी में, कुचीपुडी में भी कुछ हिन्दी कवियों की रचनाएं अभिनय के लिए चुनी गयी हैं। इनमें तुलसीदास के *रामचरितमानस* ने बहुत नृत्यकारों को आकृष्ट किया। जहाँ पर केवल संस्कृत या क्षेत्रीय भाषा का उपयोग होता था – जैसे, ओडिसी में उड़िया रचनाओं का, या दूसरी भाषाओं को अपने-अपने क्षेत्र के नृत्यों में – उनमें भी हिन्दी की रचनाओं के प्रति अनुराग बढ़ा है, उनकी स्वीकृति बढ़ी है। स्थिति यह नहीं है कि कुछ लोगों ने केवल नवीनता के लिए ऐसा किया हो। ऐसी रचनाएं वास्तव में लोकप्रिय हुई हैं, दर्शकों ने सराही हैं।

शास्त्रीय नृत्यों के अलावा, इस बीच नृत्य के क्षेत्र में एक और नये रूप का प्रसार हुआ है, जिसे नृत्य-नाटिका कह सकते हैं। उदयशंकर ने इसकी शुरूआत तीस के दशक में की थी। उदयशंकर के बहुत-से नृत्यों के आलेख हिन्दी में होते थे। उसके बाद विशेष रूप से जन नाट्य संघ (इप्टा) ने जो तमाम नृत्य-नाटिकाएं तैयार कीं – *अमर भारत, भारत की आत्मा, कश्मीर को सलाम, नया गाँव*, तथा अन्य बहुत सारी नयी नृत्य-नाटिकाएं – उनके नाट्यालेख तथा गीत आदि हिन्दी में ही लिखे गये। उदयशंकर के शिष्य नरेन्द्र शर्मा जो कुछ समय तक इप्टा के केन्द्रीय नृत्य-नाट्य दल से सम्बद्ध थे, कई दशकों से दिल्ली में हैं। उन्होंने जो नयी नृत्य-नाटिकाएं तैयार कीं वे सब हिन्दी में हैं। उनकी सुपरिचित संस्था भूमिका की सभी रचनाओं में जहाँ भी भाषाई आधार आवश्यक होता है वहाँ हिन्दी का ही व्यवहार किया जाता है। यानी कला के एक नए क्षेत्र में हिन्दी भाषा का

प्रवेश पिछले 40-50 वर्षों में हुआ है। कत्थक नृत्य के शीर्षस्थ गुरु बिरजू महाराज की नृत्य-नाटिकाओं के सभी आलेख हिन्दी में होते हैं। दिल्ली की विख्यात संस्था भारतीय कला केन्द्र हर वर्ष बड़े फलक पर हिन्दी में *रासलीला* नृत्य-नाटिका प्रस्तुत करता है। इसके अलावा भी केन्द्र की तमाम रचनाओं के आलेख हिन्दी में ही होते हैं। इस तरह प्रदर्शनकारी कलाओं के साथ हिन्दी का एक नया रिश्ता इस दौर में बढ़ा है।

संगीत में भी कमोबेश हालत यही है, हालांकि संगीत में शब्द की ज़रूरत और भी सीमित होती है। हमारे देश के सम्पूर्ण शास्त्रीय नृत्य का मूल सैद्धांतिक आधार एक ही होने पर भी उसकी दो विशिष्ट शैलियां या पद्धतियाँ हैं – कर्नाटक और हिन्दुस्तानी। इनमें से हिन्दुस्तानी पद्धति का विस्तार पूरे उत्तर भारत में है और उसकी सारी बंदिशें यानी आधारमूलक शाब्दिक संरचनाएं ब्रजभाषा मिश्रित हिन्दी में ही हैं जो देश भर में गायी जाती हैं। हिन्दीभाषी क्षेत्र ही नहीं, महाराष्ट्र, गुजरात, बंगाल, असम, उड़ीसा, उत्तरी कर्नाटक, पंजाब, हिमाचल में भी जहाँ हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत का प्रचार है, वहां के सभी गायक निरपवाद रूप से हिन्दी रचनाओं, गीतों या बन्दिशों का ही प्रयोग करते हैं। इस तरह हिन्दुस्तानी शास्त्रीय गायन में हिन्दी की स्थिति हमेशा से प्रमुख रही है और हर शास्त्रीय गायक हिन्दी जानने और बोलने वाला होता है, यद्यपि हिन्दुस्तानी संगीत में गायी जाने वाली लगभग सभी रचनाएं ब्रज या अवधी मिश्रित हिन्दी में होती है। रोचक बात यह है कि पिछले दिनों में शास्त्रीय संगीत में भी आधुनिक रचनाओं के इस्तेमाल की कोशिश की गई है, जैसे गुंदेचा बंधुओं ने ध्रुपद में निराला की एक रचना का इस्तेमाल किया है।

इसके अलावा संगीत का एक नया विस्तार पिछले दिनों में हुआ है, जिसे समवेत गायन या कोरस गायन कह सकते हैं। इसकी शुरूआत तो स्वाधीनता आन्दोलन के दिनों में ही हो गयी थी जब प्रभात-फेरियों में या जनसभाओं में राष्ट्रभक्ति के गीत सामूहिक रूप से गाये जाते थे। पाँचवें दशक में जन नाट्य संघ (इप्टा) की प्रेरणा से बड़ी संख्या में हिन्दी में गीत लिखे और समवेत ढंग से मंच पर प्रस्तुत किए गये थे। यह गतिविधि धीरे-धीरे व्यापक हुई है और पिछले वर्षों में समवेत गायन या कोरस गायन का प्रचार बढ़ा है। देश भर में कई दल या समूह बने हैं जो कई प्रकार से समवेत गायन करते हैं। ऐसे कार्यक्रमों में बड़ी

संख्या हिन्दी के नये-पुराने गानों की ही होती है। विशेषकर महानगरों में ऐसे प्रतिष्ठित गायक दल संगठित हुए हैं जो विभिन्न उपयुक्त अवसरों पर समवेत गायन हिन्दी में प्रस्तुत करते हैं। इसलिए यह कहना बहुत अनुपयुक्त न होगा कि प्रदर्शनकारी कलाओं के एक नए क्षेत्र में हिन्दी का विस्तार हुआ है।

कुल मिलाकर हम देख सकते हैं कि जहाँ तक प्रदर्शनकारी कलाओं का क्षेत्र है, उसमें हिन्दी को आगे बढ़ने में, अपने लिए स्वीकृति प्राप्त करने में और देश की दूसरी भाषाओं के साथ बेहतर रिश्ता कायम करने में, बहुत कामयाबी मिली है।

विश्व हिन्दी सम्मेलनों ने हिन्दी को क्या दिया?

विष्णु खरे*

10-12 जनवरी 1975 को नागपुर में हुए पहले विश्व सम्मेलन के बाद से 14-18 सितम्बर 1999 को लंदन में आयोजित विश्व हिन्दी सम्मेलन तक दोनों को मिलाकर ऐसे छह समारोह हो चुके हैं। आधा दर्जन बार यह अंतर्राष्ट्रीय आयोजन हुआ है और ऐसी उम्मीद की जाती है कि अब तक उसका संगठनात्मक पहलू बहुत ठोस रूप ले चुका होगा, किन्तु हैरत है कि लगभग एक चौथाई सदी के दौरान भी इसे लेकर कोई तथ्य स्पष्ट नहीं हुए हैं। नागपुर सम्मेलन का उद्घाटन भारत की प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी ने किया था और उसकी अध्यक्षता मॉरीशस के भारतवंशी प्रधानमंत्री सर शिवसागर रामगुलाम ने की थी। इससे ऐसा लगता है कि इस सम्मेलन का कोई संबंध कम-से-कम भारत सरकार से होना चाहिए लेकिन अब तक न तो इसके किन्हीं आयोजकों ने यह बताया है कि इन आयोजनों में देशी-विदेशी सरकारों की क्या भूमिका रही है और न ही भारत, मॉरीशस, त्रिनिदाद और ब्रिटिश सरकारों ने यह सूचना दी है कि विश्व हिन्दी सम्मेलनों से उनका क्या रिश्ता रहा है। नागपुर सम्मेलन राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा के तत्वावधान में किया गया था। यह संस्था 1936 से गांधीजी तथा अन्य राष्ट्रीय नेताओं की प्रेरणा से हिन्दीतर क्षेत्रों में हिन्दी के कथित प्रचार-प्रसार के लिए सक्रिय है किन्तु उसने विश्व हिन्दी सम्मेलन आयोजित करने का संकल्प क्यों और कैसे किया, आज़ादी के बाद लगातार प्रभावहीन बनाई गई इस संस्था को भारत या मॉरीशस सरकार से क्या प्रेरणा या सहायता मिली, यह आज 24 वर्ष बाद भी कहीं स्पष्ट नहीं है। यदि तमिलनाडु के वरिष्ठ हिन्दी सेवी र. शौरिराजन के कथन को विश्वसनीय माना जाए तो तत्कालीन तमिलनाडु सरकार द्वारा विश्व तमिल सम्मेलन का सफल आयोजन किए जाने के बाद इंदिरा गांधी के नेतृत्व

* कवि और पत्रकार

वाली केन्द्र की कांग्रेस सरकार स्वनिर्मित या दूसरों के इस दबाव में आ गई कि उसे जवाबी कार्रवाई के रूप में विश्व हिन्दी सम्मेलन बुलाना चाहिए और चूंकि वर्धा की राष्ट्रभाषा प्रचार समिति जन्म से ही कांग्रेस-प्रेरित रही है इसलिए इस कार्य के लिए उसे उत्तरदायी संस्था के रूप में चुना गया। यदि यह सच है तो इससे दो दुर्भाग्यपूर्ण तथ्य निकलते हैं – हिन्दी को तमिष के विरुद्ध खड़ा किया गया था और यह निर्णय किसी वास्तविक हिन्दी-प्रेम से नहीं बल्कि राजनीतिक लाभ उठाने के लिए लिया गया था, और विश्व हिन्दी सम्मेलन के आयोजन के पीछे हिन्दी भाषाविदों, साहित्यकारों या हिन्दी प्रेमियों की कोई माँग नहीं थी।

बहरहाल, नागपुर में 'हिन्दी की अंतर्राष्ट्रीय स्थिति', 'विश्व मानव की चेतना तथा भारत और हिन्दी', एवं 'आधुनिक युग और हिन्दी' जैसे तीन मुख्य विषयों पर चर्चा हुई थी, ऐसा कहा जाता है। वहाँ तीन प्रस्ताव पारित हुए थे – हिन्दी को राष्ट्रसंघ में मान्यता दिलवाई जाए, वर्धा में विश्व हिन्दी विद्यापीठ की स्थापना की जाए (कारण शायद यह थे कि गांधीजी वर्धा से जुड़े हुए थे और आयोजक-संस्था वर्धा की थी) और उस पहले सम्मेलन की उपलब्धियों को, वे जैसी भी रही हों, स्थायी रूप देने के लिए ठोस कार्यक्रम बनाया जाए। कुतूहल, आशा और महत्त्वाकांक्षा की मिश्रित भावनाएं लिए हुए हिन्दी के प्राध्यापकों के अलावा कई साहित्यकारों ने भी सम्मेलन में भाग लिया किन्तु कई लेखक, शिक्षक तथा विद्यार्थी आदि इस आयोजन को लेकर सशंकित और असंतुष्ट थे तथा उन्होंने नागपुर पहुँचकर समारोह-स्थल के पास ही एक मुक्ताकाश समांतर सम्मेलन किया था जिसमें हिन्दी के नाम पर किए गए उस पहले कथित विश्व सम्मेलन के बारे में कई सवाल उठाए गए थे। इस अल्पावधि समांतर सम्मेलन में व्यापक हिस्सेदारी का प्रतीक यह है कि उसमें स. ही. वात्स्यायन 'अज्ञेय' और नामवर सिंह दोनों उपस्थित थे। इस तरह विश्व हिन्दी सम्मेलनों और हिन्दी साहित्यकारों के बीच आकर्षण-विकर्षण की विडम्बना प्रारंभ से ही चली आ रही है।

पहले सम्मेलन के बीस महीने के भीतर ही दूसरा विश्व हिन्दी सम्मेलन 28-30 अगस्त 1976 को मॉरीशस में बुलाया गया जिसका उद्घाटन वहाँ के प्रधानमंत्री सर शिवसागर ने किया और अध्यक्ष नियुक्त हुए भारत के स्वास्थ्य-मंत्री डा. कर्ण सिंह, मुख्य विषय थे 'हिन्दी की अंतर्राष्ट्रीय स्थिति, शैली और स्वरूप', 'संचार माध्यम और हिन्दी', 'हिन्दी के प्रचार-प्रसार में स्वैच्छिक संस्थाओं की

भूमिका' तथा 'विश्व में हिन्दी के पठन-पाठन की समस्याएँ'। मॉरीशस में विश्व हिन्दी सचिवालय की स्थापना तथा 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना को प्रसारित करने वाली एक अंतर्राष्ट्रीय हिन्दी पत्रिका के प्रकाशन के प्रस्ताव पारित किए गए। मॉरीशस के इस सम्मेलन का आयोजन वहाँ की या भारत की किन्हीं संस्थाओं ने अलग-अलग या सम्मिलित रूप से किया था या सरकारों ने इसका पता नहीं चलता है।

28 से 30 अक्टूबर 1983 को दिल्ली में आयोजित तीसरे सम्मेलन का उद्घाटन प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी ने किया और इसकी अध्यक्षता केम्ब्रिज के हिन्दी विद्वान आर. एस. मैकग्रेगर ने की। इसकी संचालक संस्थाओं का भी कहीं उल्लेख नहीं मिलता। इस सम्मेलन के प्रमुख विषय थे 'हिन्दी के अंतर्राष्ट्रीय भाषा के रूप में प्रसार तथा विकास की संभावनाएं', 'वैज्ञानिक तथा तकनीकी क्षेत्रों में हिन्दी की प्रगति', 'पत्रकारिता का सशक्त माध्यम हिन्दी', 'हिन्दी के प्रचार-प्रसार में शैक्षिक संस्थाओं का योगदान' तथा 'मानव-मूल्यों की स्थापना में हिन्दी की भूमिका'। इस सम्मेलन में एक ही प्रस्ताव रखा गया लगता है, जिसका अनुठायन चौंकाता है, कि पिछले सम्मेलनों में पारित प्रस्तावों की पुष्टि की जाए।

चौथा विश्व हिन्दी सम्मेलन 2 से 4 दिसम्बर 1993 को फिर मॉरीशस में हुआ जिसका उद्घाटन तो वहाँ के तत्कालीन भारतवंशी प्रधानमंत्री अनिरुद्ध जगन्नाथ ने किया किन्तु उसके अध्यक्ष को लेकर तस्वीर साफ़ नहीं है यद्यपि वहाँ के राष्ट्रपति तथा उपराष्ट्रपति की उपस्थिति का उल्लेख होता है। इस सम्मेलन में जो प्रस्ताव स्वीकृत हुए थे वे थे भारत और मॉरीशस के प्रधानमंत्रियों से परामर्श करके (यह उच्चस्तरीय परामर्श कौन से व्यक्ति या संगठन करेंगे यह स्पष्ट नहीं है) तीन माह के भीतर एक स्थायी समिति और सचिवालय का गठन करना जो ऐसे भावी सम्मेलनों को आयोजित करें और हिन्दी का अंतर्राष्ट्रीय भाषा के रूप में उत्थान और विकास करें, वर्धा में विश्व हिन्दी विद्यापीठ स्थापित हो, भारत और भारतवंशियों के बीच संचार-संपर्क सुदृढ़ हों (यह स्पष्ट नहीं है कि क्या ऐसा सिर्फ हिन्दी के माध्यम से किया जाए), आकाशवाणी, दूरदर्शन तथा समाचार-एजेंसियों को एक-दूसरे के समीपतर लाना (इसमें हिन्दी की भूमिका क्या हो यह साफ नहीं है), राष्ट्रीय-अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर हिन्दी का प्रयोग और प्रभाव बढ़ाना, मॉरीशस में विश्व हिन्दी केन्द्र बनाया जाना, हिन्दी प्रेमियों से कहना कि वे सार्वजनिक स्तर पर हिन्दी का

अधिकाधिक प्रयोग करें तथा निमंत्रण-पत्रों, दुकानों, व्यवसायों तथा निवासों पर लिखावट के लिए हिन्दी का इस्तेमाल करें। इस सम्मेलन के बारे में भी कहा नहीं जा सकता कि किन संस्थाओं ने इसका आयोजन किया था।

पांचवाँ सम्मेलन भारत और मॉरीशस से अलग त्रिनिदाद और टोबैगो की राजधानी पोर्ट ऑफ़ स्पेन में बुलाया गया था। 4 से 8 अप्रैल 1996 तक हुए इस आयोजन में जो प्रस्ताव अनुमोदित हुए वे थे भारतवंशियों और हिन्दी के बीच "समीकरण" का समर्थन और संसार भर के भारतवंशियों से कहना कि वे हिन्दी को अपनी संपर्क-भाषा के रूप में अपनाएं, एक विश्व हिन्दी मंच बने, मॉरीशस में सम्मेलन का स्थायी सचिवालय स्थापित हो और उसके लिए भारत-मॉरीशस सरकारों की समिति गठित हो तथा विशेषतः भारतवंशियों की आबादी वाले देशों में हिन्दी की पढ़ाई-लिखाई की व्यवस्था हो, और संसार-भर की हिन्दी स्वयंसेवी संस्थाएं तथा हिन्दी विद्वान अपनी-अपनी सरकारों से कहें कि वे हिन्दी को राष्ट्रसंघ की भाषा बनाने के लिए समर्थन दें। त्रिनिदाद में हुए इस सम्मेलन के बारे में यह पता नहीं चलता है कि उसका उद्घाटन किसने किया और अध्यक्ष कौन बनाया गया। केवल दो नामों का उल्लेख होता है – कथित संयोजन समिति के अध्यक्ष चनका सीताराम, जो त्रिनिदाद के एक धनाढ्य सज्जन हैं और अपने हिन्दी अज्ञान के बावजूद हिन्दी को समर्पित हैं, और दूसरे हैं रवि महाराज जिनके बारे में जानकारी और भी कम है।

किसी आरंभ को ही उपलब्धि मानना बहुत अधिक अनुचित नहीं कहा जा सकता – जिस पहले सम्मेलन में एक स्वदेशी और एक भारतवंशी विदेशी प्रधानमंत्री आए हों वह भला असफल कैसे हो सकता है? इसलिए नागपुर आयोजन का हो जाना ही उसकी सफलता है। दूसरा सम्मेलन भी इसलिए कामयाब माना जा सकता है कि किसी विदेश में, भले ही वहाँ भारतवंशी बहुत रहते हों, होने वाला यह पहला हिन्दी समारोह था जिसमें नागपुर की तरह बहुत से भारतीय हिन्दी लेखक-प्राध्यापक-शोधार्थी पहली बार भारत से बाहर अपनी भाषा और साहित्य के लिए एकत्र हुए थे। यह तो स्पष्ट है कि सरकारों की दिलचस्पी के बिना विदेशों में ऐसे सम्मेलन मुश्किल से ही हो सकते हैं। किन्तु इन दोनों समारोहों में कुतूहल, उत्कंठा तथा उत्साहातिरेक ही थे। कुछ प्रस्ताव अवश्य पारित हुए थे किन्तु सिर्फ बीस महीनों में पहले सम्मेलन के राष्ट्रसंघ की मान्यता और विश्व हिन्दी विद्यापीठ की स्थापना के प्रस्तावों पर क्या अमल हो सकता था?

दूसरे तथा तीसरे सम्मेलन के बीच के सात वर्षों में कम-से-कम एक और सम्मेलन हो सकता था किन्तु कोई भी यह नहीं जानता कि वैसा क्यों नहीं हो पाया। कोई स्थायी समिति नहीं बनी, एक प्रतीकात्मक सचिवालय तक स्थापित नहीं हुआ और 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के संदेश वाली पत्रिका जन्म से पहले ही मृत्यु को प्राप्त हुई। सात वर्ष बाद भी तीसरा सम्मेलन भी यही कह सका कि पिछले दो के प्रस्तावों पर, यदि वे किसी को याद थे तो, अमल होना चाहिए। दूसरे सम्मेलन की एक ही सम्मेलन-पूर्व उपलब्धि थी जिसे भारतीय भागीदारों की स्मृति में अमर बताया जाता है और वह है मॉरीशस जाते समय हिन्द महासागर के ऊपर से गुजरते एअर इंडिया के वायुयान में स्वास्थ्य-मंत्री तथा "राजपुरुष" कर्ण सिंह की प्रेरणा से किया गया विश्व का पहला उड्डीयमान हिन्दी कवि सम्मेलन जिसका संचालन शिवमंगल सिंह सुमन ने निबाहा। किन्तु तीसरे तक आते-आते भारतीयों और विशेषतः हिन्दी सेवियों का स्थायी कारनामा, अव्यवस्था, उस पर हावी हो चुका था। कहा जाता है कि दिल्ली के इंद्रप्रस्थ स्टेडियम में हुए इस सम्मेलन में 6,566 प्रतिनिधियों ने भाग लिया जिससे उसका व्यवस्था-तंत्र चरमरा गया। आश्चर्य इस बात का है कि पिछले दो सम्मेलनों को हुए 7-8 वर्ष हो चुके थे किन्तु उनमें जो कुछ हुआ या नहीं हुआ उसके कारण कम-से-कम विदेशी मूल के हिन्दी विद्वान और विदुषियाँ यह धारणा बना चुके थे कि ऐसे हिन्दी आयोजनों से कुछ भी सार्थक हासिल नहीं होता। वे यदि इनमें आते हैं तो पूरी गंभीरता से पर्चे आदि की तैयारी करके आते हैं किन्तु अंत में उनका मोहभंग ही होता है। कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय में हिन्दी के प्राध्यापक सत्येंद्र श्रीवास्तव अपना अनुभव बताते हैं कि जब वे दिल्ली के सम्मेलन में आ रहे थे तो कदाचित् हीथ्रो हवाई अड्डे पर उन्होंने एक विदेशी हिन्दी विद्वान को दूसरे से यह पूछते सुना कि क्या आप भी दिल्ली का तमाशा देखने जा रहे हैं। डा. श्रीवास्तव को दिल्ली सम्मेलन तमाशा तो नहीं लगा किन्तु उनका कहना है कि जो गोष्ठियाँ वहाँ हुई थीं उनसे अधिक ज्ञान प्राप्त करना असंभव-जैसा था और उसका मुख्य कारण था समुचित व्यवस्था का न होना। उनका अनुमान था कि दिल्ली सम्मेलन में अन्य भारतीय भाषाओं के लोगों ने कम भाग लिया – यह बात सम्मेलन की महत्ता को कम कर रही थी। ऐसा लग रहा था कि हिन्दी भारत की राष्ट्रभाषा नहीं है बल्कि हिन्दी प्रदेश की राष्ट्रभाषा है।

बताया जाता है कि दिल्ली सम्मेलन में विदेशी विद्वानों को कुछ विशेष महत्त्व दिया गया। निस्सदेह वे आदर के योग्य हैं किन्तु भारतीय या भारतवंशी हिन्दी विद्वानों से अधिक या कम नहीं। भारत अतिथियों का सम्मान करता है किन्तु सिर्फ उन्हें केन्द्रीय महत्त्व देना विचित्र था। यहाँ तक कि किसी को कहना पड़ा कि गोरी चमड़ी अब भी भारत में ज़ोर से बोलती है। विदेशी विद्वानों को महँगे होटलों में ठहराया गया था और उनके ही देशों और संस्थाओं से आए भारतवंशियों को निचले दर्जे के होटलों में। इस पर ब्रिटेन के एक गोरे हिन्दी-कर्मी ने मंच से कहा कि यदि हमारे यहाँ ऐसा होता तो हम रेस रिलेशंस बोर्ड में शिकायत करते और आयोजकों पर कानूनी कार्रवाई करवाते।

त्रिनिदाद सम्मेलन की एक बात चौंकाने वाली थी और भारतवंशी-बहुल विदेशों में भारतवंशियों के बीच हिन्दी की स्थिति को लेकर विडम्बना का सूचक है। वहाँ हिन्दी भाषा और साहित्य पर हुए लगभग सारे भाषण अंग्रेज़ी में हुए और अधिकांश पर्चे भी अंग्रेज़ी में पढ़े गए। कारण यह था कि सम्मेलन की कार्यकारिणी के सदस्य (वे कौन थे यह अज्ञात है) इस मत के थे कि त्रिनिदाद के 95 प्रतिशत भारतवंशी वह हिन्दी नहीं समझ पाएंगे जो हिन्दी प्रतिनिधिगण बोलते या लिखते हैं। सदस्यों ने हिन्दी में बोलने से मना नहीं किया किन्तु अपने देश में हिन्दी ज्ञान और व्यवहार की वास्तविकता को सामने रखा। मॉरीशस और फीजी आदि हिन्दी प्रेमी देशों में कैसी हिन्दी बोली और समझी जाती है इसकी पड़ताल भी होनी चाहिए। ब्रिटेन सरीखे देश में भी, जहाँ अच्छी आधुनिक हिन्दी जानने वाले अपेक्षाकृत अधिक हैं, हिन्दी क्षेत्रों से आए हुए लोगों सहित लगभग सभी भारतीय हिन्दी के प्रति उदासीन रहते हैं ऐसा अनुभवी व्यक्ति बताते हैं।

संभव है कि पहले पाँच विश्व हिन्दी सम्मेलनों के बारे में सारी सूचनाएं कहीं उपलब्ध हों किन्तु इस लेखक को कई प्रयत्नों के बाद भी वे प्राप्त नहीं हुईं। सभी प्रतिनिधियों के नाम और पते भी कहीं दर्ज होंगे किन्तु उन्हें भी हासिल करना कठिन है। कुछ वरिष्ठ साहित्यकारों, हिन्दी सेवियों, देशी-विदेशी प्राध्यापकों के नाम मिलते हैं किन्तु पूरी सूची नहीं मिलती। मॉरीशस में दिया गया हज़ारीप्रसाद द्विवेदी का भाषण प्रकाशित हुआ है किन्तु पिछले पाँच सम्मेलनों के उद्घाटकों, अध्यक्षों, मुख्य अतिथियों तथा प्रमुख विद्वानों के भाषण शायद वर्षों के परिश्रम और शोध से ही प्राप्त हो सकें। भारत एक महान देश है, हिन्दी उसकी सबसे बड़ी भाषा है, उसका एक विश्व

सम्मेलन होता है, किन्तु अविश्वसनीय बात यह है कि इसके कोई अभिलेख हासिल नहीं होते। यदि सचमुच में इन सम्मेलनों में पर्चे पढ़े गए तो उनकी संख्या अब तक एक हज़ार के करीब हो जानी चाहिए लेकिन उन्हें कहीं मुद्रित-प्रकाशित रूप में हासिल कर पाना तो दूर की बात है, उन्हें किसने लिखा और पढ़ा तथा उनके शीर्षक क्या थे यह भी शायद कहीं दर्ज नहीं है। विश्व हिन्दी सम्मेलन की कोई प्राथमिक सूचना पुस्तिका भी नहीं है। वह हो भी कैसे, जब कोई भी सम्बद्ध सरकार उससे अपने संबंध स्पष्ट नहीं करती और न उसके लिए कोई संस्था उत्तरदायी है। परिणाम यह है कि पिछले पाँच सम्मेलनों की पूरी जानकारी देने वाला कोई प्रकाशन नहीं है और उनमें पढ़े गए निबंधों के संकलन, जो हिन्दी को लेकर उनकी उपादेयता जानने में सहायक होते और यह भी दिखाते कि सम्मेलनों के स्तर में कोई उतार-चढ़ाव हुआ है या नहीं, शायद कभी छपे ही नहीं। उनकी प्रतियाँ भी आयोजकों के पास हैं या नहीं यह कहा नहीं जा सकता। एक महत्त्वपूर्ण पहलू इन सम्मेलनों के अर्थशास्त्र का भी है। जो संस्थाएं इन्हें आयोजित करने के लिए ज़िम्मेवार थीं उन्होंने इनमें कितना पैसा लगाया और वह कहाँ से आया? भारत, मॉरीशस तथा त्रिनिदाद की सरकारों ने प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से कितनी राशि इन सम्मेलनों पर खर्च की? जो प्राध्यापकगण इसमें हिस्सा लेते हैं क्या विश्वविद्यालय अनुदान आयोग या उनके विश्वविद्यालय आदि उनका व्यय वहन करते हैं? एक तर्क दिया जा सकता है कि अब तक तो विश्व हिन्दी सम्मेलन सचिवालय ही नहीं बना है फिर सारी जानकारी कौन रखे और दे किन्तु संबद्ध सरकारें कार्यान्वयक संस्थाओं से सूचनाएं प्राप्त कर सकती हैं और अपने से संबद्ध तथ्य दे सकती हैं। वे यह भी बता सकती हैं कि यदि संस्थानों को अनुदान दिया जाता है तो उनके आय-व्यय की जाँच-परख होती है या नहीं।

लंदन में हुए छठे विश्व हिन्दी सम्मेलन के बारे में एक बात स्पष्ट है कि उसे ब्रिटेन की 'हिन्दी समिति', बर्मिंघम के 'गीतांजलि' बहुभाषीय साहित्यिक समुदाय, वहीं की एक और संस्था 'संपर्क' तथा यॉर्क के 'भारतीय भाषा संगम' ने मिलकर आयोजित किया था। यह जानना दिलचस्प होगा कि इन संस्थाओं को, उनके पदाधिकारियों में सबसे सक्रिय पद्मेश गुप्त को तथा ब्रिटेन को यह सम्मेलन कैसे मिला। कहा जाता है कि यह सम्मेलन अमेरिका में होने वाला था किन्तु किसी कारण वहाँ नहीं हो पा रहा था। एक छोटी-मोटी पहेली यही है कि अमेरिका में उसे कौन

आयोजित करवा रहा था और अंततः क्यों नहीं करवा पाया। बहरहाल, पद्मेश गुप्त का कहना है कि लखनऊ, भारत के निवासी उनके साहित्य-प्रेमी पिता दाऊजी गुप्त ने उन्हें सूचना दी कि अमेरिका का नाम कट गया है और सम्मेलन का आयोजन उपलब्ध है। इस पर पद्मेश गुप्त ने तत्काल विदेश मंत्रालय के हिन्दी प्रभारी उप-सचिव रतन लाल भगत को लिखा कि वे ब्रिटेन में सम्मेलन की सारी ज़िम्मेदारी लेने को तैयार हैं और भगत ने शीघ्र उन्हें हरी झंडी दिखा दी। दाऊजी गुप्त, जो लखनऊ के व्यापारी हैं, पूर्व महापौर हैं, यूरोप और अमेरिका की यात्राएं करते रहते हैं, शायद इस समय भाजपा समर्थक हैं यद्यपि उनकी राजनीतिक पक्षधरता कभी सुस्पष्ट नहीं रही। उन्होंने कविताएं वगैरह भी लिखी हैं किन्तु राजनीतिक स्थिति की तरह उनकी साहित्यिक स्थिति भी संदिग्ध है। पद्मेश गुप्त ब्रिटेन में बस गए हैं और शायद ज़मीन-जायदाद की खरीद-फ़रोख्त का व्यवसाय करते हैं किन्तु हिन्दी एवं साहित्य-प्रेम उन्हें पिता से ही मिला होगा। उनका कहना है कि उनकी संस्था 'हिन्दी समिति' ब्रिटेन में एक 'चैरिटी' (धर्मादा) के रूप में पंजीकृत है। शायद अन्य तीन संस्थाएं भी वैसी हों या अब हो रही हों। ब्रिटेन में पंजीकृत ऐसी संस्थाओं का भारत में क्या कानूनी रुतबा है यह कहना कठिन है। भारत सरकार का विदेश मंत्रालय या प्रधानमंत्री कार्यालय क्या ऐसी संस्थाओं को विश्व हिन्दी सम्मेलन का संचालन सौंप सकता है यह भी साफ़ नहीं है। स्वयं पद्मेश गुप्त का कहना है कि इन संस्थाओं को कुछ परिवार ही चलाते हैं।

दिल्ली या भारत में जो सैकड़ों निमंत्रण लंदन के इस सम्मेलन के लिए हिन्दीकर्मियों तथा अन्य व्यक्तियों को भेजे गए थे वे आयोजकों के वास्ते भारत के विदेश मंत्रालय के हिन्दी विभाग ने भेजे थे। ये सूखे निमंत्रण थे जिनसे यह स्पष्ट था कि आप स्वयं या कहीं और से टिकट प्राप्त कर सकें और ठहरने के लिए 100 पाउंड (करीब 7 हजार रु.) जमा कर दें तो आप सम्मेलन के प्रतिनिधि बन सकते हैं। निमंत्रण के साथ एक पुस्तिका थी जिसमें एक आवेदन-पत्र था जिसमें यह पूछा गया था कि आप कौन से विषय पर पर्चा पढ़ना चाहेंगे। आवेदन के साथ उसका सारांश भेजना था ताकि पर्चे को स्वीकृति मिल सके। यों लंदन सम्मेलन का केन्द्रीय विषय था 'हिन्दी और भावी पीढ़ी' जिसका निर्धारण किसने किया था यह स्पष्ट नहीं था किन्तु संभवतः उसे लंदन के आयोजकों ने ही तय किया होगा।

हिन्दी के सामने कम-से-कम भारत में अभी यह समस्या उतनी विकराल नहीं है कि देश की भावी पीढ़ी हिन्दी का क्या करेगी, किन्तु लंदन के आयोजकों को चिंता यह लगी कि विदेशों में रहने वाली भारतवंशी हिन्दीभाषी आबादी की संतानें हिन्दी से दूर होती जा रही हैं और इससे एक सांस्कृतिक संकट पैदा हो रहा है। आयोजकों की समस्या यह नहीं थी कि भारत में हिन्दी भाषा तथा साहित्य का भविष्य क्या है बल्कि वह ऐसा चाहने लगे कि विदेशी भारतवंशियों के बच्चों में हिन्दी बचाने के लिए सारा हिन्दी विश्व जुट जाए। भारतवंशी बच्चे हिन्दी से क्यों दूर होते जा रहे हैं, हिन्दी के माध्यम से भारतीय संस्कृति कैसे बचेगी और केवल हिन्दी भाषियों में उसे क्यों बचाया जाए, हिन्दी जानने के और क्या लाभ विदेशों में स्थायी रूप से बसे भारतवंशी किशोर-किशोरियों, युवक-युवतियों को मिलेंगे, किस तरह से विदेशों के स्कूलों-कॉलेजों में हिन्दी की पढ़ाई स्वीकृत करवाई जाए, भारत सरकार या भारतीय हिन्दीभाषी उसमें क्या और कैसे मदद कर सकते हैं, उसकी राजनीतिक, राजनयिक और आर्थिक ज़िम्मेदारियां क्या होंगी आदि विषयों पर कोई विचार नहीं हुआ। आयोजक या ब्रिटेन की हिन्दी भाषी युवा पीढ़ी – यदि ऐसी कोई चीज़ वहाँ है तो–वे कितने कटे हुए हैं यह इसी से साबित था कि पाँच दिन के सम्मेलन में पाँच किशोर या युवक भी आयोजन-स्थल के आसपास फटकते नज़र नहीं आए। विदेशी भारतवंशी भावी पीढ़ी में हिन्दी को लेकर कोई स्नेह, रुचि या कुतूहल है इसका कोई जीवंत प्रमाण नहीं मिला। जब हिन्दी भारत की नई पीढ़ी पर ही नहीं थोपी जा सकती तो ब्रिटेन, मॉरीशस, फीजी आदि के युवकों को उसकी ओर कैसे और क्यों प्रेरित किया जा सकता है?

पिछले पाँच सम्मेलनों के समय केन्द्रीय भारत सरकार कांग्रेस की थी इसलिए अधिकांशिक प्रतिनिधिमंडलों में कांग्रेसी अथवा कांग्रेस-विचारधारा से परहेज़ न करने वाले राजनेताओं, प्राध्यापकों तथा लेखकों का प्राधान्य होता होगा। स्व. बच्चू प्रसाद सिंह तथा स्व. भगवती प्रसाद सिंह जैसे हिन्दीकर्मी उसमें निर्णायक भूमिका निभाते रहे होंगे। इस छठवें सम्मेलन के समय भाजपा सरकार थी जिसके सामने आम चुनाव था। सरकारी प्रतिनिधिमंडल में विख्यात वामपंथी आलोचक तथा प्रगतिशील लेखक संघ के राष्ट्रीय अध्यक्ष नामवर सिंह को छोड़कर शेष या तो सरकारी-अर्धसरकारी पदाधिकारी थे, भाजपा के सांसद, भाजपा-समर्थक लेखक-पत्रकार थे या उनके कृपापात्र। प्रतिनिधिमंडल की औपचारिक नेता तत्कालीन विदेश राज्य मंत्री वसुंधरा राजे थीं किन्तु बौद्धिक उत्तरदायित्व हिन्दुत्ववादी भाषाविद्

विद्यानिवास मिश्र ने संभाल रखा था। पूर्व कांग्रेसी प्रधानमंत्री नरसिंह राव द्वारा ब्रिटेन में उच्चायुक्त बनाए गए लक्ष्मीमल्ल सिंघवी, जो अपनी मियाद पूरी करने के बाद भारत लौटकर भाजपा में शामिल हो गए और आजकल उसी पार्टी से राज्य सभा के सदस्य हैं, प्रतिनिधिमंडल के दूसरे प्रमुखतम सदस्य थे। उन्हीं की प्रेरणा से पद्मेश गुप्त जैसे हिन्दीकर्मियों ने ब्रिटेन की हिन्दी संस्थाओं को सक्रिय किया और लंदन को सम्मेलन दिए जाने में भी उनकी भूमिका संभाव्य है।

चूंकि वर्तमान प्रधानमंत्री अटल बिहारी वाजपेयी हिन्दी भाषी, हिन्दी प्रेमी तथा राष्ट्रवादी एवं लोकप्रिय कविता के रचयिता हैं और या तो आयोजक संस्थाओं की आस्था सत्तारूढ़ पार्टी और उसकी सहयोगी संस्थाओं में थी या वे भारतीय उच्चायोग के पूर्व या वर्तमान अधिकारियों, सत्तारूढ़ दल के सदस्यों या सांसदों, लेखकों-बुद्धिजीवियों तथा स्वयं प्रधानमंत्री की कृतज्ञ अथवा कृपापात्र थीं इसलिए पूरे लंदन सम्मेलन पर भाजपा शैली के हिन्दुत्व तथा अटल बिहारी वाजपेयी के कृतित्व की सम्मिलित छाया रही। प्रधानमंत्री का वीडिओ-संदेश सुनाया गया, उनकी कविताएं उद्धृत हुईं, बजाई गईं, गाई गईं। अंतिम दिन उनका दूसरा संदेश भी आपा ऐसा बताया गया। उच्चायोग के संदेश में सम्मेलन को "पवित्र यज्ञ" कहलवाया गया जिसमें "अनेक चिंतकों के विचारों की आहुति पड़ी" बताई गई। "अकादमिक समिति" के अध्यक्ष ने भी हिन्दी सम्मेलनों को "महायज्ञ" का नाम दिया। "कार्यकारिणी समिति" के "चेयर मैन" ने सगर्व कहा कि यह सम्मेलन "धृतराष्ट्र-सा... अडिग खड़ा" है और "मैं यह प्रतिपादित करना चाहता हूँ कि आगामी सहस्राब्दी के प्रारंभ में ही हम लोगों को बहुमत के आधार पर एक समुचित राष्ट्रभाषा का चयन कर लेना चाहिए"। उन्होंने "हरिकृपा से सातवें विश्व हिन्दी सम्मेलन में पुनः सबसे मिलने की इच्छा" प्रकट की। हिन्दी पर एक अभिशाप यह भी है कि 'भारतमाता' या 'माँ सरस्वती' से उसे जोड़कर जब हिन्दुत्ववादी तत्सम शब्दावली का प्रयोग किया जाता है तो किसी किस्म के आधुनिक, वैज्ञानिक, विश्लेषणात्मक तथा व्यापक सामाजिक सोच-विचार की गुंजाइश नहीं रह जाती। नामवर सिंह, केदारनाथ सिंह और अशोक वाजपेयी के भाषणों को छोड़ दें तो ऐसी ही तत्समी हिन्दी लंदन सम्मेलन पर छाई रही।

विदेशी मूल के जितने प्रतिनिधि आए थे वे गंभीरतापूर्वक अपने पर्चे या भाषण तैयार करके लाए थे, किन्तु कुल मिलाकर सम्मेलन में बौद्धिक दारिद्र्य व्याप्त था। अधिकांश 'प्रतिनिधि' ऐसे थे जिनका कोई सरोकार हिन्दी भाषा या साहित्य

से नहीं था। वे हिन्दुत्व समर्थक अवश्य थे और सस्ती सामूहिक सपरिवार इंग्लैंड तथा यूरोप यात्रा के लिए आए थे। आमंत्रित देशी-विदेशी हिन्दीकर्मियों के नाम सूचना-सामग्री में ग़लत छपे थे। स्त्रियों को पुरुष और पुरुषों को स्त्री बना दिया गया था। नरेश मेहता, रामविलास शर्मा, कल्याणमल लोढ़ा तथा मैनेजर पाण्डेय सरीखे सुपरिचित व्यक्तित्व लंदन में नहीं थे किन्तु उनके नाम मंच से पुकारे जाते रहे। मुख्य कार्यक्रम 'स्कूल ऑफ ओरिएंटल एंड आफ्रिकन स्टडीज़' परिसर में हुआ जिसके कुछ कक्षों को कबीर, मीरा, रसखान आदि नाम दिए गए थे। प्रमुख कबीर कक्ष में कुछ भाषण सार्थक हुए किन्तु अधिकांश समय उस पर प्रतिक्रियावादियों का आधिपत्य रहा जो इतने समय तक बोलते थे कि उसी समय और उसके बाद चलने वाले अकादमिक सत्रों के लिए वक्त रह ही नहीं जाता था। वैसे भी वहाँ अराजकता व्याप्त थी। अध्यक्षों, सह-अध्यक्षों तथा वक्ताओं से पूछे बिना उन्हें मनमाने विषय पकड़ा दिए गए थे। मैंने समसामयिक युवा हिन्दी कविता पर बोलने को लिखा था लेकिन मेरा नाम स्वदेश भारती की अध्यक्षता में 'पत्रकारिता' सत्र में पाया गया। फिर देखा कि नरेश मेहता की अनुपस्थिति में मुझे 'स्वायत्त संस्थाएं और हिन्दी' सत्र की अध्यक्षता करनी है। इस सत्र में "अकादमिक समिति" की "उपाध्यक्ष" तथा "कार्यक्रम उप-समिति" की "अध्यक्षा" (जो एक ही महिला थीं) ने कहा कि 'गर्व से कहो हम हिन्दू हैं' यह नारा एकदम सही है और हिन्दी का प्रचार-प्रसार उसका अंग है। बहरहाल, यदि हिन्दुत्ववादी दृष्टिकोण से लिखे गए उच्चस्तरीय पर्चे होते तब भी उनसे बहस की जा सकती थी किन्तु इस सम्मेलन ने फिर सिद्ध कर दिया कि बौद्धिक स्तर पर प्रतिगामी हिन्दुत्ववादी दिमाग कितना दीवालिया है। जो आयोजक 'हिन्दी एवं भावी पीढ़ी' सत्र की अध्यक्षता कुंअर बेचैन और 'व्याकरण तथा भाषा-विज्ञान' सत्र की अध्यक्षता अभिमन्यु अनत को सौंपते हों – ऐसे उदाहरण और भी हैं – उनके अज्ञान की थाह पाना मुश्किल है। यदि पर्चे पढ़नेवालों तथा अध्यक्षों आदि की पूरी सूची दी जाए तो सम्मेलन की अधोगति से रोंगटे खड़े हो जाएँगे।

संकेत तो पहले भी मिलते रहे थे किन्तु इस लंदन सम्मेलन के प्रत्यक्ष अनुभव से यह स्पष्ट हो गया कि विदेशों में बसे हिन्दू भयावह मनुवादी जातिवाद और सवर्ण हिन्दूवाद से ग्रस्त हैं। हिन्दुत्ववादी शक्तियों का भारत में सत्ता में आना उन्हें खुलकर खेलने की स्वतंत्रता देता है। वे हिन्दू जो मॉरीशस, फ़ीजी, त्रिनिदाद, सूरीनाम आदि देशों में बहुमत, बहुमत के आसपास अथवा सांस्कृतिक प्रभुत्व में

है वे सामान्यतः फ्रेंच या अंग्रेज़ी का प्रयोग करते हैं किन्तु राजनीतिक कारणवश हिन्दुत्व और हिन्दी को अपने हथियार बनाए हुए हैं जबकि इन्हें पश्चिमी सभ्यता ही अधिक आकृष्ट करती है। अपने देशों के अल्पसंख्यकों या दूसरी कौमों को वे बहुत पसंद नहीं करते, बल्कि गोरे नस्लवादियों की तर्ज़ पर इनमें एक हिन्दू नस्लवाद जड़ें जमा चुका है। काले रंग और काले लोगों से हम भारतीय कितनी घृणा करते हैं यह जगज़ाहिर है। उसी मनोरोग से ग्रस्त इन भारतवंशियों के लिए हिन्दी एक साम्राज्यवादी, औपनिवेशिक साधन मात्र है। कुछ प्रबुद्ध, प्रगतिशील, धर्मनिरपेक्ष भारतवंशी इनमें अवश्य होंगे किन्तु हिन्दी सम्मेलनों तथा अन्य मंचों पर वे दिखाई-सुनाई नहीं देते। अपनी अस्मिता बनाए रखने के लिए शायद विदेशों में रहने वाले भारतवंशी हिन्दुओं को (मुस्लिमों का कभी उल्लेख क्यों नहीं होता यह एक रहस्य है) हिन्दुत्व की जरूरत पड़ती होगी किन्तु यदि उन्हें पश्चिमी सभ्यता के बीच रहना है तब तो उन्हें हिन्दुत्व, भारतीयता तथा हिन्दी की प्रतिक्रियावादी व्याख्या और भी तजनी होगी – भारत में तो धर्मनिरपेक्षता संविधान में स्थापित है। किन्तु हिन्दी सम्मेलन में उनकी ओर से प्रच्छन्न या प्रकट हिन्दुत्ववादी शब्दावली ही सुनाई देती है। विडम्बना यह है कि उनकी युवा पीढ़ी स्वभावतः अधिकाधिक पश्चिमोन्मुख हो रही है और कभी भारत नहीं लौटेगी तो हिन्दी का वह क्या इस्तेमाल करेगी? और हिन्दी तो भारत में ही विपन्नग्रस्त है और सत्तारूढ़ पार्टी भी अखिल भारतीय गठबंधन में मतभेद पैदा न करने के लिए अब हिन्दी को राजभाषा-राष्ट्रभाषा बनाने पर जोर नहीं देना चाहती। उधर जिन भारतीय क्षेत्रीय भाषाओं और बोलियों को लेकर विदेशी भारतवंशियों में विशेष गिरमिटिया अतीत-मोह है, भारत में तो उनकी हालत हिन्दी से भी करुण है यद्यपि हिन्दी के चालाक पेशेवर भोजपुरिये और अवधिये इन देशों की यात्रा के लिए उसे लगातार भड़काते रहते हैं। भोजपुरी और अवधी आदि के इन अंतर्राष्ट्रीय मंचों पर हिन्दी सम्मेलन वाले प्रच्छन्न रूप से हिन्दी की मुखालफ़त करते सुनाई देते हैं।

लंदन में हुए 8वें विश्व हिन्दी सम्मेलन की अकादमिक और बौद्धिक असफलता की गाथा बहुत लंबी है। भारत के विदेश मंत्रालय, सम्मेलन की तैयारी-समिति (यदि कोई रही हो तो) तथा सरकारी प्रतिनिधिमंडल से पूछा जाना चाहिए कि इतना निम्नस्तरीय आयोजन कैसे हुआ? विश्व हिन्दी सम्मेलन का सचिवालय मॉरीशस में स्थापित किया जा रहा है किन्तु सच्चे हिन्दी हितैषियों को

देखना होगा कि वह हिन्दुत्ववादियों तथा हिन्दू या भारतीय साम्राज्यवाद का मुख्यालय न बन जाए। आवश्यक यह है कि हिन्दी का राजनीतिक और साम्प्रदायिक दुरुपयोग रोकने, उसे देश की अन्य भाषाओं के समीपतर लाने और प्रत्येक हिन्दीभाषी छात्र को एक आधुनिक गैर-हिन्दी भाषा अनिवार्यतः सिखाने के लिए हिन्दी के ईमानदार भाषाविदों तथा साहित्यकारों को माँग करनी चाहिए कि ऐसे निकृष्ट, प्रतिक्रियावादी, विचारशून्य तथा विघटनकारी सम्मेलनों को अविलम्ब बंद कर दिया जाए। विश्व हिन्दी सम्मेलन भारत और हिन्दी की सामासिक आत्मा की अभिव्यक्ति हो। बेहतर तो यह होगा कि उनका सचिवालय भारत में ही हो।

सब जानते हैं कि ऐसे आयोजनों की दुरवस्था सुधारने के लिए क्या करना चाहिए फिर भी कुछ उपाय सुझाए जा सकते हैं। सम्मेलनों का स्थान, रूपरेखा, विषय-उपविषय, प्रतिनिधिगण आदि चुनने के लिए हिन्दी के देशी-विदेशी लेखकों-प्राध्यापकों तथा उनके संगठनों, विश्वविद्यालयों, पत्रकारों तथा हिन्दी प्रचार-संस्थाओं के चुने हुए प्रतिनिधियों की एक सामान्य-सभा सम्मेलन की तिथि से दो वर्ष पहले बुलाई जानी चाहिए। उसमें सरकार के प्रतिनिधि भी हों किन्तु इन सबका भी एक उद्देश्य विदेश-यात्रा न हो। फार्म भरने वाला हर व्यक्ति सम्मेलन का हकदार न समझा जाए। पर्चों के सारांश छह महीने पहले मंगाए जाएं और एक उच्चस्तरीय लेखक-आलोचक-प्राध्यापक समिति उनमें से चुनाव करे। जो पर्चे एक महीने पहले अंतिम प्रारूप में उपलब्ध न हों उनके वचनदाताओं को सम्मेलन में आमंत्रित न किया जाए। सामान्य प्रतिनिधियों के चुनाव में भी कुछ न्यूनतम सर्जनात्मक-बौद्धिक-शोधपरक मानदंड रखे जाएं। राजनेताओं की उपस्थिति प्रार्थनीय रहे, उद्घाटन तथा अध्यक्षता असली हिन्दी लेखकों, प्राध्यापकों, प्रचारकों तक सीमित रहे। अकादमिक सत्र सर्वोच्च गंभीरता से लिए जाएं और प्रत्येक की ईमानदारी से रपट दी जाए। प्रस्ताव ठोस हों जिन पर अमल संभव हो। सम्मानित लोगों का वाकई सम्मान हो, उन्हें कुरुचिपूर्ण स्मारिकाएं आदि न दी जाएं, उनका एक विशद् परिचय दिया जाए। सम्मेलन होने के एक वर्ष के भीतर उसमें पढ़े गए पर्चों के सारांशों की पुस्तक प्रकाशित हो, जिसमें प्रमुख लेख तथा भाषण आदि भी हों। सभी प्रतिनिधियों के नाम और पतों की पुस्तिका उपलब्ध हो। हिन्दी के प्रकाशकों तथा सॉफ्टवेयर आदि बनाने वालों को सम्मेलन से जोड़ा जाए और एक अच्छी पुस्तक प्रदर्शनी लगे। भारत की अन्य आधुनिक भाषाओं, बोलियों और विदेशी भाषाओं के प्रतिनिधि भी सम्मेलन में

निमंत्रित किए जाएं। पिछले सभी सम्मेलनों के जो भी दस्तावेज़ उपलब्ध हैं उन्हें प्रकाशित किया जाए। क्या यह लज्जा और आश्चर्य की बात नहीं है कि सम्मेलनों की कोई भी सामान्य या वीडियो फिल्म या वृत्तचित्र उपलब्ध नहीं है? सच तो यह है कि मात्र लंदन सम्मेलन की गड़बड़ियों से कुछ देर तक उद्वेलित होकर बैठ जाना बौद्धिक आलस्य का प्रतीक होगा – हिन्दी के हर तरह के लेखकों, प्राध्यापकों, प्रचारकों को, जिनमें हिन्दुत्ववादी भी शामिल हों, चाहिए कि वे भाषा और साहित्य के हर पहलू पर जागरूक रह कर सक्रिय रहें क्योंकि हिन्दी उसके नाम से होने वाले किसी भी सम्मेलन से करोड़ों गुना महत्त्वपूर्ण है। हिन्दी किन्हीं भी सरकारों से भी ऊपर है।

(इस लेख को लिखने में रतन लाल भगत, हरीश नवल तथा सत्येंद्र श्रीवास्तव के उन निबंधों से सहायता ली गई है जो भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद् द्वारा प्रकाशित तथा कन्हैयालाल नंदन द्वारा संपादित पत्रिका *गगनांचल* के जुलाई–सितम्बर, 1999 के 'विश्व हिन्दी विशेषांक' में प्रकाशित हुए हैं। ओम थानवी द्वारा संपादित दैनिक *जनसत्ता* में प्रकाशित लंदन के विश्व हिन्दी सम्मेलन की अपनी रपटों और अपने एक लेख का भी उपयोग किया गया है। लेखक सम्पादकों-लेखकों का आभारी है किन्तु इस लेख में व्यक्त किए गए विचारों के लिए वह स्वयं उत्तरदायी है: वि. ख.)

हिन्दीतर भाषियों में हिन्दी

र. शौरिराजन

बात अतीत के इतिहास से शुरू करूँ? ....या वर्तमान के इतिवृत्त से? इतिहास या इतिवृत्त के निमित्त और नियामक प्रबुद्ध मानुष अवश्य हैं, लेकिन विडम्बना है, उनकी विश्वसनीयता और विश्वजनीनता पर हमेशा प्रश्न-चिह्न लगे रहते हैं; इसी चिन्ता के साथ, यहाँ हिन्दी की अर्थात् वर्तमान राष्ट्रभाषा एवं राजभाषा हिन्दी की चर्चा हिन्दीतर भाषियों के संदर्भ में करना चाहता हूँ।

हिन्दी भाषियों का धरातल पंच द्राविड प्रदेशों – तमिलनाडु, केरल, आन्ध्र प्रदेश, कर्नाटक और महाराष्ट्र तक सीमित रखना चाहता हूँ, कारण, 'हिन्दी' शब्द संज्ञा का शैशव पारकर विशेषणों का वैशिष्ट्य पा चुका है – भले ही वह विदेशी और विधर्मी अधिनायकों द्वारा प्रदत्त नामधेय कहा जाए। हिन्दी परिवारों की व्याप्ति पूरे उत्तरापथ में हो गई है। अब राष्ट्रभारती के रूप में जनमत और जनतंत्र के सहारे दक्षिणापथ में ही नहीं, विश्व के विभिन्न भागों में भी बढ़ने लगी है।

तथाकथित हिन्दी के मूल भारोपीय भाषा कुल संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंश-देशी और विदेशी की दशा-दिशा पर बहस छिड़वाने में मेरी कोई दिलचस्पी नहीं है। बहरहाल, कुछ अतीत की ओर झाँकते है—

ईस्वी पूर्व सातवीं सदी से क्रमशः धार्मिक, साम्प्रदायिक, भाषिक, साहित्यिक, सांस्कृतिक सरोकार बढ़ाने, शुरू में अभिभावक, बाद में अधिनायक के रूपों में आर्यकुलीन संस्कृत भाषियों का आगमन उत्तरापथ से दक्षिणापथ में शुरू हुआ। इनका समाज-प्रमुखों और प्रशासकों के द्वारा स्वागत किया गया और स्वीकारा भी गया। धीरे-धीरे प्राचीन द्राविडी भाषाओं के साथ संस्कृत ने तद्भव-तत्सम शब्दों के सहारे

---

* तमिल-हिन्दी के रचनाकार और पत्रकार

सांकर्य स्थापित कर लिया। साथ ही, आगत आर्यकुलीन प्रमुख स्थानीय प्रमुख-प्रधानों के साथ आदर और प्रेमपूर्वक बन्धुत्व संबंध स्थापित करने में सफल हुए। बस, "यथा राजा, तथा प्रजा" का संस्कार जड़ पकड़ता हुआ फैल गया। धर्म, भाषा, व्यवस्था और आचार-विचार में संस्कृत-प्रभाव का संक्रमण बढ़ने लगा। अधिनायक-तंत्र में पराधीन प्रजाजन के आक्षेप का असर कमज़ोर पड़ जाता है। दक्षिणी भाषाएं, जनजीवन, शिक्षा-संस्कार, अपने पारंपरिक धरातल पर आर्य जाति की वाणी, वृत्ति और विचारों को अपनाने लगीं – कुछ स्वेच्छा से, बहुत कुछ लाचारी से जो सत्ता प्रेरित थीं।

द्राविडकुल की भाषाएं आर्य भाषा-परिवार की प्राकृत एवं संस्कृत के समान प्राचीन है, संपन्न भी है। प्राचीन आर्य और आर्येतर (द्रविड आदि) जातियों में कौन अधिक शक्तिशाली, सभ्य, संपन्न और समर्थ थीं – इस विवाद में पड़ने की आवश्यकता नहीं। इतना मानना उचित होगा कि दोनों स्वतंत्र, संपन्न, सभ्य जातियाँ थीं। एक दूसरे के साथ मिली थीं, लड़ी थीं, जुड़ी थीं, फिर एक दूसरे को आत्मसात् करके आगे बढ़ीं, पनपी थीं। साहित्य, भाषा, संस्कृति, संप्रदाय, आचार-विचार सभी क्षेत्रों में समन्वयी संवृद्धि हुई। दोनों भारत को अपना देश मानती थीं, भारतीयता के नाते 'अविभक्तम् विभक्तेषु' के उदाहरण हैं आर्य-द्राविड जातियाँ।

भारतीय द्रविड (तमिष़) जाति की प्राचीनता के प्रामाणिक साक्ष्य तमिष़ के प्राचीनतम लक्षणग्रन्थ *तोलकाप्पियम्* में मिलते हैं। यह ईस्वी पूर्व छठी सदी का रीतिग्रंथ है। इसमें तमिष़ भाषा के नाम, स्वरूप, व्याकरण, रचना विधाएं, अर्थालंकार, छंद, जन-जीवन, लोकाचार आदि विषय प्रतिपादित हुए हैं। मान्यता है, इस ग्रंथ के रचयिता तोलकाप्पियर आर्य महर्षि अगस्त्य के बारह शिष्यों में से प्रधान थे। महर्षि अगस्त्य जो विन्ध्याचल पारकर दक्षिण आये थे, तमिष़ भाषा के प्राचीनतम वैयाकरण माने जाते हैं। किन्तु उनके रचित ग्रंथ का उल्लेख मात्र मिलता है, न कोई ग्रन्थांश।

अगस्त्य महर्षि ऋग्वेद के प्रख्यात मंत्र-द्रष्टाओं में से एक हैं। भारतीय संस्कृतियों में समन्वय, जातियों में स्नेह-संपर्क और भाषाओं में प्रभावशाली विकास लानेवाले सर्वप्रथम, आदर्श भारतीय महामानव अगस्त्य ही थे। आप ने उत्तर और दक्षिण को जोड़ा, दोनों के दुर्गम पथों को मिलाया। उत्तर से कहीं अधिक आदर, आत्मीयता

उन्होंने दक्षिण में पाई। दक्षिण की विशेषकर तमिष प्रदेश की भाषा-संस्कृति को संपन्न किया। आज भी कई दक्षिण भारतीय देवालयों में अगस्त्य महर्षि की मूर्ति पूजी जाती है।

अगस्त्य को हम सबसे पहले ऋग्वेद में आर्य एवं आर्येतर जातियों के मध्यस्थ, हितैषी, संयोजक के रूप में पाते हैं। ऋग्वेद काल में प्रचलित दो वर्णों– आर्यवर्ण और दासवर्ण के संरक्षक समन्वयकारी के रूप में अगस्त्य का वर्णन किया गया है। विरोधी दलों या पक्षों के बीच में मेल कराकर स्नेह–सौजन्य बढ़ाने की अद्‌भुत कुशलता उनमें थी। इस बात का वर्णन एक ऋग्वेद-सूक्त में है–

अगस्त्यः खनमानः खनित्रैः
प्रजामपत्यं बलमिच्छमानः।
उभौ वर्णौ ऋषिरुग्रः पुपोष
सत्या देवेषु आशिषो जगाम।

(ऋग्वेद 1,179,6)

अगस्त्य अपने दल के साथ तमिष देश में आये और यहीं बस गये – पोतिय मलै पहाड़ी प्रदेश में। यह मलयगिरि या मलपक्कूट के नाम से भी जाना जाता है। इसी कारण अगस्त्य का नाम तमिल में 'पोतिय मुनि', (मलयगिरि निवासी मुनि) पड़ा। आर्य भाषा-संस्कृति का प्रवेश और प्रसार सबसे पहले मिशनरी ढंग से अगस्त्य के द्वारा ही दक्षिण में हुआ था।

तोलकाप्पियम् के समय में (ई० पू० छठी सदी) आर्य वर्णीय ऋषि, मुनि, ब्राह्मण और परिजन लोग दक्षिण में सम्मान्य स्थिति में रहते थे। सामाजिक व्यवस्था में उनका अनुकरण स्वीकार्य था, पर सुधार के साथ।

तोलकाप्पियम् ग्रन्थ से ज्ञात होता है कि तत्कालीन तमिष समाज में चार वर्णों या जातियों की व्यवस्था प्रचलित थी। यह आर्य नीति (मनुनीति) का परिमार्जित संस्करण था। चार वर्णों के नाम थे– अन्तणर, अरशर, वैश्किर, वेलालर। ये ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र के रूपांतर नहीं हैं, नाम-क्रम भले ही समान हो। 'अन्तणर' सदाचारी, धर्मनिष्ठ, विद्वान व्यक्ति थे, जो तमिष जाति के अभिजात थे– जन्म से नहीं, योग्यता के आधार पर अभिजात हुए। 'अरशर' राजा और राजपरिवार के

व्यक्ति। 'वैश्शिकर' वैश्य थे जो वाणिक व्यापारी थे। चौथे वर्ग के 'वेलालर' सम्मान्य कृषक और 'भूस्वामी'। *तोल्काप्पियम्* और *परवर्ती* साहित्यग्रंथों के अनुसार कृषक भूस्वामी है, शान्त, सभ्य, शिक्षित और वीर योद्धा हैं, दानी पुरुष हैं।

आर्य कुलीन ब्राह्मणों के लिए *तोल्काप्पियम्* में 'पार्पनर', पार्पार (ब्राह्मण का अपभ्रंश रूप) शब्द दिये गये है। ये अपने धर्म के अनुसार वेद-अध्ययन/अध्यापन, यजन-याजन, धर्मोपदेश, भिक्षाटन में लगे रहते थे। कालांतर में, लगभग ई० पाँचवीं सदी से सनातनियों के सत्ताश्रयी प्रभाव के बढ़ने से वर्णभेद का मनुवादी प्रचलन तमिष प्रदेश में शुरू हो गया। दक्षिण के इतर प्रान्तों में इसके पूर्व ही मनुवादी वर्ण-व्यवस्था अपनी दूषित दशा में ही कायम हो गई।

इसके फलस्वरूप, इतर धर्म, संप्रदाय, भाषा, आचार, संस्कार, साहित्य के आगमन और आक्रमण पर स्वीकार और तिरस्कार के संघर्ष होते रहे। ऐसे संघर्षों के कारक-घटक थे – इस्लाम, ईसाई, धर्म-संप्रदाय इनसे द्राविड प्रान्तरों के भाषा-साहित्य, जन-जीवन, व्यवस्था, आस्था, सत्ता सब प्रभावित हुए, परिवर्तित हुए। इस अनिवार्य परिवर्तन के अच्छे-बुरे परिणाम, अवशेष अब भी पाये जा सकते है।

यह दशा प्रायः पूरे दक्षिणापथ (महाराष्ट्र समेत) की अतीत परम्परा है। तमिष भाषा को छोड़कर इतर सभी दक्षिणी भाषाएं आगत और आक्रांत संप्रदायों के व्याघात से बच नहीं पाई। इतर भाषाई व्याघात का विरोध तमिष भाषी ई० प्रारंभिक सदी से ही करते आ रहे है। वह विरोध कभी प्रबल, कभी दुर्बल हुआ करता था, जो सत्ता और संप्रभुता पर आश्रित था। बीसवीं सदी के प्रारंभ में स्वेदशी, स्वराज और स्वाभिमान की प्रदीपित चेतना के सहारे 'निजभाषा उन्नति' की भावना जनाधार पा सकी। फिर भी 'निज' और 'परायी' की परिभाषा घटिया राजनीति से प्रेरित होकर दूषित होने लगी।

अब वर्तमान के इतिवृत्त की ओर आना चाहता हूँ—

पूरे भारत में ई० पूर्व सदियों से लेकर ई० तेरहवीं सदी तक संस्कृत और प्राकृत ही संपर्क भाषा के रूप में प्रचलित थीं। ये प्रायः सवर्ण अभिजात वर्ग के शिक्षितों के द्वारा प्रयुक्त थीं। उत्तर भारत की तुलना में दक्षिण भारत में इन शिक्षितों की संख्या कम थी। मुख्यतया संस्कृत भाषा को सर्वत्र भारतीय विद्या, शिक्षा, धर्मज्ञान, साहित्य

और शास्त्रों की प्रामाणिक, परिनिष्ठित माध्यम के रूप में स्वीकृत किया जा चुका है। मात्र तमिषनाडु में, उन्नीसवीं सदी के मध्य से संस्कृत को आर्यों के – अर्थात मनुवादी ब्राह्मणों के आक्रमण और आधिपत्य की निशानी माना जाने लगा। तमिषेतर भाषा के प्रति विरोध-प्रतिरोध यहीं से शुरू होने लगे।

चौदहवीं सदी से उन्नीसवीं सदी के पूर्व भाग तक फ़ारसी–कादिमी (उर्दू) भारत भर में (जहाँ-जहाँ मुसलमानों के राज थे) संपर्क भाषा और राजभाषा थी। यही बाद में हिन्दुस्तानी कहलाने लगी। इसका व्यापक प्रचलन उत्तर भारत में लोक भाषा और साहित्य भाषा के रूप में भी रहा था। दक्षिण में (महाराष्ट्र मिलाकर) सिर्फ वाकया नवीस, खुफिया नवीस, मुंशी, मुंसिफ, दुभाषिये, मुल्ला, मौलवी आदि लोगों तक सीमित थी।

उन्नीसवीं सदी में कंपनी सरकार 'इंडिया सरकार' कायम कर चुकी है। पराधीन भारत पर हुकूमत चलाने के लिए अंग्रेज़ी राजभाषा बना दी गई। शिक्षा और संप्रेषण की सशक्त माध्यम भी बन गई। धीरे-धीरे देशी भाषाएं तिरस्कृत होती रहीं। यह दुर्दशा अब भी कमोबेश जारी है।

पुरानी हिन्दी या अपभ्रंश परिवार की बहुप्रचलित भाषा साधु-संतों, बैरागियों, तीर्थयात्रियों, वणिक-व्यापारियों के माध्यम से पूरे भारत में संवाद का माध्यम रही। अब खड़ी बोली हिन्दी का परिनिष्ठित स्वरूप राष्ट्रीय संपर्क भाषा के रूप में हिन्दीतर प्रदेशों में अधिक फैल रहा है और शिक्षा का प्रमुख विषय बन चुका है। राजनीतिक विरोध-अविरोध के बावजूद हिन्दी का प्रचार-प्रसार जनाधार के सहारे बढ़ रहा है।

सुप्रसिद्ध भाषा शास्त्री डा. सुनीति कुमार चटर्जी का पुराना मंतव्य अब भी प्रासंगिक है–

"हिन्दुस्तानी (हिन्दी) भाषा के माध्यम से प्रायः समस्त उत्तर भारत और अधिकांश दक्षिण भारत के निवासी परस्पर भाषागत अन्तर का उतना अनुभव नहीं करते। कम से कम बर्मा सीमांत से अफगान सीमांत तक और कश्मीर और नेपाल से गोवा-गंजाम तक एक अंचल से दूसरे अंचल में यात्रा में छोटे-छोटे विषयों में बातचीत की जो आवश्यकता पड़ती है, वह इसी हिन्दी भाषा की सहायता से ही हुआ करती है। दक्षिण भारत के प्रधान नगरों, तीर्थस्थलों में हिन्दी कुछ-कुछ बोली-समझी जाती है।"

इसी प्रसंग पर डा. धर्मवीर भारती के यह उद्‌गार भी वरणीय हैं:-

"मध्यकाल से जब से यह सारा भारतवर्ष एक सांस्कृतिक इकाई बना है, तब से इसी प्रदेश की कोई न कोई लोकभाषा सारे देश के बाजारों, मठों, मंदिरों और राजदरबारों के पारस्परिक संपर्क और विचारों के आदान-प्रदान की भाषा रही। चाहे वह भगवान बुद्ध की पालि हो, भगवान महावीर की प्राकृत हो, आंध्र प्रदेश (तमिलनाडु समेत), उड़ीसा और गुजरात तक के चौरासी सिद्धों की संध्या भाषा हो, चाहे द्वारिका से पुरी तक गूंजने वाली 'ब्रज बुलि' हो, चाहे विद्यापति की 'देसिल बयना' हो, या मानस की अवधी हो या गोरखनाथ से कबीर तक की सधुक्कड़ी भाषा हो।"

"...इसलिए हम पाते हैं कि चाहे सौराष्ट्र के स्वामी दयानन्द हों, या बंगाल के केशव चन्द्र सेन या सिंध के ओबेदुल्लाह सिन्धी या महाराष्ट्र के लोकमान्य तिलक सभी ने राष्ट्र के व्यक्तित्व को उजागर करने के लिए राष्ट्रभाषा का उत्थान अनिवार्य माना और हिन्दी में ही उन्होंने इस पद का दायित्व वहन करने की क्षमता बताई। हमारे राष्ट्रीय संग्राम के महान नायक राष्ट्रपिता गांधी ने हिन्दी प्रचार के कार्य को केवल भाषा-प्रचार का कार्य न मानकर, उसे आत्महारा राष्ट्र को नयी आत्मा देने के पक्ष के रूप में परिकल्पित किया।"

(रचनाकाल : नवंबर, 1974)

सत्रहवीं सदी में, मराठा दलपति, वीर शिवाजी ने विदेशी सत्ता-शासन के विरुद्ध लड़ते हुए स्वदेशी और स्वातंत्र्य-चेतना को जनमानस में जगाया। छत्रपति होकर सर्वप्रथम परायी भाषा फ़ारसी की जगह निजभाषा मराठी को प्रतिष्ठित किया, जो कि निज भाषाभिमान का पहला शानदार उदाहरण था।

आक्रमण और अधिग्रहण की कूटनीति पर जमी-जमायी अंग्रेज़ी साम्राज्यशाही के खिलाफ हुई लड़ाइयाँ – जो पूरे भारत में सत्तामोही सामंतों के द्वारा छेड़ी गई थीं, और सैनिक क्रांतियाँ (गदर), जो तमिलनाडु के वेलूर दुर्ग में (ई० 1806), बंगाल की छावनी में (1828), हैदराबाद में (1853), बारकपुर में मंगल पाण्डे द्वारा (1857) में भड़क उठीं – राष्ट्रीय मुक्तिनीति, लक्ष्य पर न होने पर भी, आगे चलकर कांग्रेस महासभा के राष्ट्रव्यापी स्वतंत्रता-संग्राम में व्यापक जनसमर्थन की प्रेरक रही हैं।

राष्ट्रीय जागरण का युग प्रारंभ हुआ। कांग्रेस महासभा की स्थापना और राष्ट्रव्यापी कार्यवाही के प्रेरणास्रोत रहे ये भारतीय संगठन-ब्रिटिश इंडियन असोसिएशन, कलकत्ता (ई० 1851), बाम्बे असोसिएशन, बंबई (मुंबई), हिन्दु असोसिएशन, मद्रास (1857), इंडियन असोसिएशन, बंगाल (1876), मद्रास महाजन सभा (1882), एलेन ऑक्टोवियन ह्यूम के प्रयास से संस्थापित इंडियन यूनियन (1885) जो आगे चलकर भारतीय कांग्रेस महासभा का रूप ले सकी।

कांग्रेस महासभा का प्रथम अधिवेशन 24 दिसंबर 1885 को दिन के 12 बजे मुंबई के गोकुलदास तेजपाल संस्कृत कॉलेज के विशाल भवन में श्री उमेश बैनर्जी के सभापतित्व में सम्पन्न हुआ। प्रवक्ता थे मि. ह्यूम, दादाभाई नौरोजी, एस. सुब्रह्मण्य अय्यर, काशीनाथ त्र्यंबक तैलंग, श्रीमती एनी बेसेण्ट, जी. सुब्रह्मण्य अय्यर, अनंताचार्लु, रंगैया नायडु, फिरोज़शाह मेहता, नरेन्द्रनाथ सेन आदि। इस अधिवेशन के द्वारा पारित प्रस्ताव थाः–

"समस्त राष्ट्रप्रेमियों के हार्दिक मैत्रीपूर्ण व्यवहार द्वारा वंश, जाति, धर्म और प्रांत संबंधी पूर्वदूषित सारे संस्कारों को (दुर्भाव) मिटाना और राष्ट्रीय एकता की समस्त भावनाओं का पोषण और परिवर्धन करना।"

"महत्त्वपूर्ण और आवश्यक सामाजिक प्रश्नों पर भारत के शिक्षित लोगों में अच्छी तरह चर्चा होने के बाद परिपक्व सम्मतियाँ प्राप्त करना और उनका प्रामाणिक संग्रह करना।"

"उन तरीकों और दिशाओं का निर्णय करना, जिनके द्वारा भारत के राजनीतिज्ञ (नेता लोग) देश हित के कार्य करें।"

इसमें और आगे कई अधिवेशनों में देशी भाषाओं पर कोई विचार व्यक्त नहीं किया गया। पूरी कार्यवाही अंग्रेज़ी में ही चलती थी। इस संदर्भ में एक दिलचस्प घटना का उल्लेख करना चाहता हूँ।

मई 1887 को भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का तीसरा वार्षिक अधिवेशन मद्रास महानगर में (चेन्नई) हुआ था। श्री बदरुद्दीन तैय्यबजी अध्यक्ष चुने गये। विभिन्न प्रान्तों से 607 प्रतिनिधियों ने भाग लिया, जिनमें पं. मदन मोहन मालवीय, सुरेन्द्र नाथ बैनर्जी, जोसफ ह्यूम, एनी बेसेण्ट आदि प्रमुख थे। इसमें तमिलनाडु के एक कारीगर

प्रतिनिधि श्री मुक्कण्णाचारी ने पहली बार तमिल में भाषण दिया। इसकी प्रशंसा प्रमुख सदस्यों ने और स्थानीय पत्रिकाओं ने की थी। अगले साल (1888) चौथा वार्षिक अधिवेशन इलाहाबाद में हुआ। जार्ज यूल नामक अंग्रेज़ी अध्यक्ष बनाये गये। 1248 प्रतिनिधियों ने भाग लिया, जिनमें उत्तर भारतीय अधिक थे। प्रस्तावों पर प्रतिनिधि हरबमामूल अंग्रेजी में बोले। सिर्फ लाला लाजपतराय हिन्दी में, मौलवी सज्जाद हुसैन ('पंच' पत्रिका के संपादक) उर्दू में बोले। तब अध्यक्ष जार्ज यूल ने आरोप जताते हुए स्पलिंग किया, "आने से कोई प्रतिनिधि अंग्रेज़ी के सिवाय 'किसी देशी भाषा' में नहीं बोलेगा। सबको समझ में आने वाली काबिल जबान अंग्रेज़ी ही है।"

अधिकांश प्रतिनिधि सदस्यों ने तालियाँ बजाकर "क्वाइट राइट!" का नारा लगाया!

इस प्रकरण में, मार्के की बात यह है कि पूरे भारत में 'निज भाषा की उन्नति ही सब उन्नतियों का मूलाधार है'– इस स्वाभिमानी चेतना को प्रभावी स्वर संधान चढ़ाने वाले प्रथम राष्ट्रवादी कवि थे भारतेन्दु हरिश्चन्द्र। आपकी यह उद्बोधिनी वाणी–

बिन निजभाषा ज्ञान के, मिटत न हिय का सूल।
भाषा सोधहु आपनी, होइ सबै एकत्र।।
पढ़हु पढ़वाहु लिखहु, मिलि छपवहु कछु पत्र।
विविध कला शिक्षा अमित ज्ञान अनेक प्रकार।।
सब देसन से लै करहु भाषा माहि प्रचार।
अंग्रेज़ी पढ़के जदपि सब गुण होत प्रवीण।।
पै निज भाषा ज्ञान बिन रहत हीन के हीन।
कहहु सबै भारत जयां भारत जयां भारत जय!।।

उनके समय में (ई० 1850-1884) भले ही पूरे भारत में यह वाणी न गूंज उठी हो, बाद में (30-35 वर्षों के बाद) तमिष के राष्ट्रकवि सुब्रह्मण्य भारती ने "देशाभिमानम्, भाषाभिमानम्, मताभिमानम्" के उद्घोष के साथ अपनी ओजस्वी गीतों-कविताओं के जरिए मुखरित किया और घर-घर गुंजा दिया। निजभाषा के साथ, राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रचार में भी वे अग्रणी थे – सन् 1906 से 1917 तक।

भाषा जिसकी क्षेत्रीयता और जातीयता सीमित हो या विस्तृत, वह जनसमाज की अस्मिता, अभियान और चेतना की निशानी होती है। वह अपने संगमी रूप में समाज को जोड़ती है, धारण करती है और अभिव्यक्ति भी देती है। अपने समाज के (व्यक्तिगत भी) अनुभव, चिंतन, संवेदन और संघर्ष भाषा से संप्रेषित होते हैं, निर्देशित भी होते हैं। यह भाषिक तत्त्व बृहत्तर समुदाय के पक्ष में भी सार्थक है। आचार्य दंडी ने कहा था:–

इदं अंधं तमः कृत्स्नं जायते भुवनत्रयम्।
यदि शब्दाह्वयं ज्योतिः आसंसारं न दीप्यते।।

यदि शब्दमयी ज्योति (भाषा) संसार को प्रकाश (ज्ञान) न देती, तो निश्चय ही तीनों लोक अंधकार में डूब जाते।

हिन्दी भाषा जो प्रदीप का प्रतीक है, उसे प्रान्तीय समाज से राष्ट्रीय समुदाय तक लाने का उपक्रम – सापेक्ष सम्भारंभ 15 अगस्त, 1905 को बाल गंगाधार तिलक ने आम सभा में घोषित किया:–

"भारतवासियों को यह चार सूत्री आन्दोलन राष्ट्रव्यापी कार्यक्रम के रूप में तीव्रता से अपनाना है। वे हैं– विदेशी बहिष्कार, स्वदेशी स्वीकार, राष्ट्रीय शिक्षा और स्वराज्य प्राप्ति, इन चारों सशक्त साधनों से हम यह साबित कर सकते हैं– स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है। इतिहास साक्षी है कि गुलाम जनता कितनी भी असहाय क्यों न हो, वह एकता, साहस और दृढ़ निश्चय के बल पर हथियार उठाये बिना ही अपने मदोन्मत्त शासकों को परास्त कर सकती है।"

राष्ट्रीय शिक्षा के अंतर्गत राष्ट्रीय संपर्क भाषा को ले लिया – वह हिन्दी थी। दिसंबर 1905 में नागरी प्रचारिणी सभा के सम्मेलन में तिलकजी ने कहा:–

"यदि आप राष्ट्र में एकता लाना चाहते हैं, तो इसके लिए एक सामान्य भाषा के व्यवहार से अधिक शक्तिशाली और कोई वस्तु नहीं है। कोई मानक लिपि और भाषा मानक समय से भी अधिक आवश्यक और महत्त्वपूर्ण है। जिस 'मानक समय' (स्टैण्डर्ड टाइम) को इन दिनों सारे भारत में लार्ड कर्ज़न ने लागू किया है। हम भारतवासियों के लिए एकता एवं एकात्मकता लाने में देवनागरी लिपि में लिखित हिन्दी ही 'राष्ट्रभाषा' बनकर सहायता पहुँच सकती है।"

पूरे देश में हिन्दी राष्ट्रीयता की निशानी और अनिवार्य साधन मानी गई। हिन्दी की पढ़ाई आन्दोलन के रूप में फैलने लगी। गांधीजी ने आगे चलकर हिन्दी प्रचार को राष्ट्रीय निर्माणकारी योजना का रूप दिया। हिन्दी और हिन्दीतर प्रदेशों में हिन्दी प्रचारिणी संस्थाएं शुरू की गईं। तीव्रता से हिन्दी शिक्षा बढ़ी, फैली, पनपी।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग द्वारा इस दिशा में ठोस कदम उठाये गये तिलकजी की प्रेरणा से।

मार्च 1918 को इंदौर में हिन्दी साहित्य सम्मेलन का आठवाँ अधिवेशन गांधीजी के सभापतित्व में हुआ, जो ऐतिहासिक महत्त्व का था। दक्षिण में हिन्दी प्रचार को बढ़ावा देने संस्थागत कार्यक्रम यहीं से शुरू हुआ। राष्ट्रीय कांग्रेस महासभा ने पहले ही हिन्दी को राष्ट्रीय कार्यक्रम में शामिल कर लिया। इससे लोकप्रियता और लोक समर्थन बढ़ते रहे।

उक्त सम्मेलन-अधिवेशन में गांधीजी का भाषण महत्त्वपूर्ण था। संक्षिप्त रूपः–

"भाषा माता के समान है। माता पर हमारा जो प्रेम होना चाहिए, वह हम लोगों में नहीं है। ...यदि हिन्दी भाषा की भूमि सिर्फ उत्तर प्रदेश होगी, तो साहित्य का प्रदेश संकुचित रहेगा। यदि हिन्दी भाषा राष्ट्रीय भाषा होगी, तो साहित्य का विस्तार भी राष्ट्रीय होगा। जैसे भाषक, वैसी भाषा। भाषा वही श्रेष्ठ है, जिसको जनसमूह सहज में समझ ले।

"हम पर और हमारी प्रजा के ऊपर एक बड़ा आरोप है कि हमारी भाषा में तेज नहीं है। जब हममें तेज आएगा, तभी हमारी प्रजा में और हमारी भाषा में तेज आएगा। विदेशी भाषा द्वारा आप जो स्वतंत्रता चाहते हैं, वह नहीं मिल सकती क्योंकि उसमें हम योग्य नहीं हैं। ...

"हमारा शिक्षित वर्ग अंग्रेज़ी के मोह में फँस गया है और अपनी राष्ट्रीय भाषा और मातृभाषा से उसे अविश्वास हो गया है। जो अंधा है, वह देख नहीं सकता और गुलाम नहीं जानता कि अपनी बेड़ियाँ किस तरह तोड़ूँ? पचास वर्ष से हम अंग्रेज़ी के मोह में फँसे हैं। हमारी प्रज्ञा अज्ञान में डूब रही है। अब हमें अपनी मातृभाषा को और नष्ट करके उसका खून नहीं करना चाहिए। ...मैं आप

लोगों से प्रार्थना करता हूँ कि आप हिन्दी को भारत की राष्ट्रभाषा बनाने का गौरव प्रदान करें। हिन्दी सब जानते हैं। इसे राष्ट्रभाषा बनाकर हमें अपना कर्त्तव्य-पालन करना चाहिए।"

गांधीजी के प्रयास से मद्रास महानगर में हिन्दी साहित्य सम्मेलन की दक्षिणी शाखा खोली गई। गांधीजी ने अपने पुत्र देवदास गांधी को, बाद में स्वामी सत्यदेव परिव्राजक को मद्रास भेजकर हिन्दी प्रचार शुरू कराया। गांधीजी की प्रेरणा से सैकड़ों युवक-युवतियाँ हिन्दी पढ़ने लगे, बाद में हिन्दी प्रचारक बनकर हिन्दी सिखाने में लग गये। दक्षिण के सभी प्रांतों में हिन्दी विद्यालय खोले गये। नगरों, ग्रामों, कस्बों में हिन्दी विद्यालय शुरू किये गये। राष्ट्रवादी नेता, कार्यकर्ता, समाजसेवी हिन्दी प्रचार को फैलाने में सहयोग देते थे। सन् 1926 में गांधीजी के मार्गदर्शन में सम्मेलन की शाखा दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा के नाम से स्वायत्त स्वयं-सेवी संस्था के रूप में राष्ट्रभाषा हिन्दी के साथ, प्रांतीय भाषाओं के प्रचार में लगी रही। दक्षिण के चारों प्रान्तों में – आन्ध्र प्रदेश, कर्नाटक, केरल, तमिलनाडु में शाखाएं खोली गईं और उनके द्वारा हर जगह हिन्दी वर्ग चलाने के अभियान ने जोर पकड़ा था।

आज दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा स्वायत्तशासी स्वयं-सेवी संस्था के रूप में राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रचार-प्रसार में शानदार कीर्तिमान स्थापित कर रही है। अब तो दक्षिण भारत में सैकड़ों शाखा-प्रशाखाओं में फैलकर बृहद् वटवृक्ष की तरह परिव्याप्त है। सन् 1920 से अब तक चार करोड़ लोगों को हिन्दी सिखा चुकी है, पचास हजार हिन्दी प्रचारकों, प्रशिक्षित हिन्दी अध्यापकों को तैयार कर चुकी है। दो हजार परीक्षा-केन्द्रों में, बारह हजार सक्रिय हिन्दी प्रचारकों, वर्ग केन्द्रों के द्वारा परीक्षार्थी अनुस्तरित हिन्दी परीक्षाओं में हर साल दो बार शामिल होते हैं। सभा की साहित्यिक, सांस्कृतिक और उच्च शिक्षा प्रशिक्षण के क्षेत्रों में भी समन्वयी संवृद्धि हो रही है। दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा और इसकी भगिनी हिन्दी संस्थाएं दक्षिण भारत में हिन्दी को राष्ट्रीय चेतना और राष्ट्रीय एकता के साधक-संबल के रूप में फैला रही हैं। विकल्प और विरोध की राजनीति में न पड़कर, संकल्प की सकारात्मक नीति का प्रायोजन ही इन स्वैच्छिक हिन्दी प्रचारिणी संस्थाओं का नैतिक सिद्धांत है, कार्य कौशल है।

इसी सेवा-संकल्प में लगी इतर हिन्दी प्रचारिणी संस्थाओं में: महाराष्ट्र की – राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा; महाराष्ट्र राष्ट्रभाषा सभा, पुणे; सौराष्ट्र हिन्दी प्रचार समिति, राजकोट; हिन्दुस्तानी प्रचार सभा, मुंबई; मुंबई हिन्दी विद्यापीठ; गुजरात की – गुजरात प्रांतीय राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, अहमदाबाद; गुजरात हिन्दी विद्यापीठ, अहमदाबाद; आन्ध्र प्रदेश की – हिन्दी प्रचार सभा, हैदराबाद; कर्नाटक की – मैसूर हिन्दी प्रचार परिषद, बेंगलूर; कर्नाटक महिला हिन्दी सेवा समिति, बेंगलूर; मैसूर रियासत हिन्दी प्रचार समिति, बेंगलूर; राष्ट्रभाषा हिन्दी प्रचार समिति मैसूर; केरल की – केरल हिन्दी प्रचार सभा, तिरुवनंतपुरम्; केरल हिन्दी विद्यापीठ, तिरुवनंतपुरम्; और असम राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, गुवाहाटी; मणिपुर हिन्दी परिषद्, इम्फाल; उत्कल हिन्दी प्रचार सभा, पुरी आदि अपनी बहुआयामी हिन्दी सेवाओं के लिए विख्यात हैं। हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग की परिव्याप्त हिन्दी प्रचार सेवा जो दक्षिण में भी प्रशस्त थी, उल्लेखनीय है। केवल तमिलनाडु को छोड़कर दक्षिणी इतर प्रान्तों के सरकारी स्कूलों में हिन्दी शिक्षा-पाठ्यक्रम में निषत है। राजनीति प्रेरित विरोध के बावजूद तमिलनाडु में हिन्दी पढ़नेवालों की संख्या बढ़ रही है, जो दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा के द्वारा संभव है।

दक्षिण में वर्तमान स्थिति यह है, प्रान्तीय भाषाओं का विकास, समादर हो रहा है। धीरे-धीरे अंग्रेज़ी का स्थान शिक्षा और शासन के क्षेत्र में क्षेत्रीय भाषाएं ले रही हैं। अंग्रेज़ी आवश्यक क्षेत्रों में साधन के रूप में इस्तेमाल की जा रही है। केन्द्रीय और राष्ट्रीय प्रयोजनों में अंग्रेजी को हटाकर हिन्दी को – राजभाषा हिन्दी को – पूर्णतया अपनाने की मानसिकता अब तक बनी नहीं, निकट भविष्य में बन जाने की उम्मीद भी नहीं है।

दक्षिण के हिन्दी भाषी, हिन्दी सेवियों की धारणा और भावना है, जो हिन्दीतर भाषी भी हैं– "हिन्दी के कारण समस्त भारतीय भाषाओं को राष्ट्रभाषा का गौरव तो मिला है, किन्तु वे अपने क्षेत्र में नियत आधिकारिक पद-प्रतिष्ठा नहीं पा रही हैं। स्वार्थी, सुविधालोभी और सत्तालोलुप राजनैतिक पार्टियों के सिर पर राष्ट्रीयता के स्थान पर दूषित प्रान्तीयता, जातीयता और सांप्रदायिकता सवार हो गई हैं। विदेशी अंग्रेजों के चंगुल से निकाली गई हमारी स्वाधीन भारतीय सत्ता, स्वदेशी अंग्रेजीदासों के हाथों में फँस गई है, जो प्रच्छन्न हिन्दी विरोधी हैं। 'अविभक्तं विभक्तेषु' का

संकल्प और संगठन भारत का राष्ट्रीय चरित्र है। इसकी अस्मिता और अमलदारी को दुर्बल बनाने वाले षड्यंत्र को, जो भाषा, धर्म, प्रान्त, जाति और राजनीति के सहारे रचा जा रहा है, ध्वस्त करना हिन्दी सेवी संस्थाओं और हिन्दी प्रेमी राष्ट्रवादियों का कर्तव्य है।"

"राष्ट्रवाणी हिन्दी पर्यटन, दूरसंचार, कला-जगत, उद्योग-व्यापार, साहित्यिक आदान-प्रदान, समाचार-माध्यम, फिल्मी संसार आदि क्षेत्रों में सशक्त, सफल साधन बन चुकी है। यह अच्छा मौका है, हिन्दी का इस दिशा में हिन्दी भाषी, भारतीय-चेतना, समर्पित सेवाव्रतियों की संख्या बढ़नी चाहिए। राष्ट्रवादी, हिन्दी प्रेमी, हिन्दी भाषी, हिन्दी सेवियों को एकजुट होना है। भावात्मक एकता को भारतीय संस्कृति, साहित्य, भाषा, कला, विज्ञान के क्षेत्रों में स्थापित करने, समृद्ध करने का दायित्व इन हिन्दी भाषियों का है। 'हिन्दी भाषी' से हमारा तात्पर्य है, जो राष्ट्रीय चेतना के साथ हिन्दी में बोलना, पढ़ना, लिखना जानते हैं और जानने का प्रयास करते हैं– वे सब राष्ट्रभाषा हिन्दी के हैं।"

अंग्रेज़ी प्रेमियों, हिन्दी विरोधियों के विचार हैं– "हिन्दी और किसी भी प्रांतीय भाषा की अपेक्षा अंग्रेज़ी सक्षम, संपन्न और लाभदायी साधन है। उर्दू की तरह विदेशी होते हुए भी स्वदेशी समान है। हिन्दी प्रांतों को उर्दू को अपनाने की जो लाचारी आ पड़ी है, वही मज़बूरी अंग्रेज़ी के साथ हम हिन्दीतर भाषी (दक्षिण के) राज्यों की भी है। केन्द्रीय शासन के कार्यकलाप में अंग्रेज़ी का स्थान हिन्दी के साथ प्रान्तीय भाषाओं को भी साधिकार मिलना चाहिए। राज्य के केन्द्रीय शासन के कार्यालयों में हिन्दी के साथ राज्यभाषा को भी वैकल्पिक भागीदारी अनिवार्य होनी चाहिए। हम अंग्रेज़ी का अपेक्षित उपयोग अनंत काल तक करते रहेंगे। हिन्दी भारत के सामाजिक संपर्क, सांस्कृतिक समन्वय, साहित्यिक अदान-प्रदान की माध्यम बनी रहे– राष्ट्रीय संपर्क भाषा के रूप में, हमारा समर्थन भी प्राप्त होगा। हिन्दी को अंग्रेज़ी के साथ स्पर्धा-भर्त्सना का दुर्भाव छोड़कर 'राष्ट्रीय संपर्क-संवाहन की सक्षम भाषा' का व्यक्तित्व और चरित्र अर्जित करना आवश्यक है। हिन्दी अपने राज्यों में सामाजिक नीति की संवाहिका बने, बहुजन समाज, दलित-गलित समुदाय की संजीवनी बने, अंग्रेज़ी आदि विदेशी-विधर्मी भाषाओं की मोह-मद मर्दिनी बन जाए – हमें कोई आक्षेप या आपत्ति नहीं है...।"

ऐसे प्रत्यक्ष और प्रच्छन्न हिन्दी विरोधियों की खासी संख्या सभी हिन्दीतर प्रान्तों में पाई जाती है – तमिलनाडु और बंगाल में थोड़ी अधिक। राष्ट्रवादी, हिन्दी प्रेमी वर्तमान हिन्दीतर भाषियों के लिए हिन्दी एक साधन है, राष्ट्रीयता का प्रतिमान है और प्रयोजन-मूलक संबल भी है। जहाँ तक राजभाषा हिन्दी का संबंध है, उसके मानक, परिनिष्ठित स्वरूप की अपेक्षा की जा रही है। इस दिशा में चल रही भाषिक अराजकता से हम परेशान हैं। परिनिष्ठित, मानक हिन्दी ही संस्कृत, अंग्रेज़ी की तरह सार्वभौम स्वीकृति, समान व्यवहार और सुलभ प्रसार पा सकती है। इस दिशा में द्विभाषा-सूत्र उपयुक्त होगा, जो कि स्पर्धा, विरोध और असमानता को दूर करने में कारगर सिद्ध होगा। कविवर जायसी की यह सूक्ति यहाँ स्मरणीय है–

तुरकी अरबी, हिन्दुई, भाषा जेती आहि।
जेहि मँह मारग प्रेम का, सबै सराहे ताहि।।

हिन्दी साहित्य और कला के क्षेत्रों में भी हिन्दीतर भाषी हस्तियों का प्रदेय महत्त्वपूर्ण है:–

मराठी के – माधव राव सप्रे (*छत्तीसगढ़ मित्र, हिन्दी ग्रन्थ माला, हिन्दी केसरी* के संपादक), बाबूराव विष्णु पराडकर (*आज* के संपादक), मुक्तिबोध, प्रभाकर माचवे, चन्द्रकान्त बांदिवडेकर, गुणाकर मुले, विष्णु खरे, यदुनाथ दत्ते, दिनकर सोनवलकर, लता मंगेशकर, शांताराम, नाना पाटेकर आदि।

तेलुगू के – बालकृष्ण राव (*माध्यम* के संपादक), कवि बैरागी, आरिगपूडि रमेश चौधरी, बालशौरि रेड्डी, भीमसेन निर्मल, पाण्डुरंगराव, इब्राहीम शरीफ, दंडभूरि महीधर, दयावंती, आदेश्वर राव, विजय राघव रेड्डी, जयशंकर बाबू, मोट्टुरि सत्यनारायण, ज्वालामुखी, नरसा रेड्डी, जयप्रदा, श्रीदेवी आदि।

कन्नड़ के – प्रो. नागप्पा, सरगू कृष्णमूर्ति, पुराणिक, बी. आर. नारायण, श्रीमती राधाकृष्णमूर्ति, वासुदेव शानबाग, प्रभा भट्ट, तिप्पेस्वामी, श्री निवास शेणवी, प्रभाशंकर प्रेमी, रसिक पुत्तिगे, इसपाक अली, सच्चिदानंदन, पी. आर. श्रीनिवास शास्त्री, कटील गणपतिशर्मा, गिरीश कर्नाड, रजनीकांत आदि।

मलयालम के – पी. नारायण, रवि वर्मा, विश्वनाथ अय्यर, तंगमणि अम्मा, आरसु, गोपीनाथन, एन. वी. कृष्ण वारियर, राधामणि, अरविन्दालन, आर. शङ्करन, चंद्रशेखरन नायर, बीना ईप्पन, विश्वम्भरन्, येसुदास, प्रेमनज़ीर, मम्मुट्टी, पद्मिनी, मोहनलाल आदि।

तमिष़ के – रांगेय राघव, का. श्री. श्रीनिवासाचार्य, रा. वीलिनाथन, सरस्वती रामनाथ, आनंदी रामचन्द्रन, एन. पी. राजगोपालन, पी. जयरामन, तुलसी जयरामन, जमुना, सुमति अय्यर, एन. सुंदरम्, सुब्रह्मण्यम् विष्णुप्रिया, एम. शेषन, एच. बालसुब्रह्मण्यम्, के. आर. मंजुण्डन, इ. दुरैस्वामी, विजयलक्ष्मी, रा. शारंगपाणी, र. शौरिराजन, कम्मल हासन, कोमला वरदन, उषा उतुप, वैजयंतीमाला, हेमामालिनी, मीनाक्षी शेषाद्रि, माधवन आदि।

मैं इस निवेदन का समापन साहित्य शिल्पी श्री धर्मवीर भारती के वर्चस्वी वचनों के साथ करना चाहता हूँ–

"भाषा की प्रतिष्ठा मूलतः इस आधार पर हो पाती है, जो उसे बोलते हैं, उनमें तनकर खड़े होने की रीढ़ है या नहीं; अपने जातीय स्वाभिमान की रक्षा करने की आन है या नहीं; उनमें साहस-संवेदना, मौलिक चिन्तन, बौद्धिक जागरूकता है या नहीं; उनमें अपने मूल्यों और अपनी आस्थाओं के लिए बलिदान दे सकने की क्षमता है या नहीं?"

"बुनियादी संकट यही चरित्र का संकट है। हममें एक राष्ट्र को एक राष्ट्रभाषा में बाँधने और अपनी ऐतिहासिक नियति के साक्षात्कार करने का संकल्प जगाना ज़रूरी है। अपनी भाषा के प्रति प्रेम को अपने संपूर्ण चरित्रबल और मूल्यबोध से संपृक्त करना ज़रूरी है। जिस दिन हम यह कर लेंगे, हम पायेंगे कि विश्व की महान शक्तियों में हमारी गणना होने लगी है।"

(साभार–विश्व हिन्दी दर्शन (1975), नागपुर)

जय हिन्द! जय हिन्दी!

मीडिया में हिन्दी : मार्केट, मीडिया और मध्यवर्ग की हिन्दी

सुधीश पचौरी*

भाग 1
भूमिका

मास-मीडिया का अर्थ यहाँ सिर्फ तीन प्रकार के मास-मीडिया तक सीमित समझा जाना चाहिए। चूंकि मीडिया एक बहुवचन और बहुचलनवादी प्रक्रिया-रूप है और उन सबको यहाँ समेटा नहीं गया है इसलिए यह परिसीमन जरूरी होना चाहिए। इस परचे में इसीलिए सिर्फ तीन बड़े मास-मीडिया के कुछ यादृच्छिक नमूने पढ़े गए हैं। प्रिंट-मीडिया वर्ग में यों तो पोस्टर-पैम्फलेट्स से लेकर मासिक, पाक्षिक और साप्ताहिक आ जाते हैं। लेकिन हमने यहाँ दिल्ली से प्रकाशित पाँच दैनिकों, *हिन्दुस्तान, जनसत्ता, नवभारत टाइम्स, पंजाब केसरी, दैनिक नवज्योति* के कुछ नमूनों को अपने अध्ययन का विषय बनाया है।

मीडिया का दूसरा वर्ग रेडियो का है जिसमें समाचारों को छोड़ हमने एफएम रेडियो के कुछ प्रसारण अंशों को अपना विषय बनाया है। इस चुनाव के पीछे हिन्दी के बदलते वाक्यों और उसमें आती नई अभिव्यक्ति क्षमता को देखने परखने की कोशिश प्रमुख है। एफएम रेडियो ने हिन्दी को निर्णायक ढंग से बदल दिया है।

मीडिया का अंतिम वर्ग टी. वी. से संबंधित है जिसमें हिन्दी के बदलते मिजाज़ के कुछ नमूने इकट्ठे किए गए हैं।

मीडिया का काम अनुभव को सूचना के न्यूनतम गणक में बदलकर अधिकतम संचार में करने का होता है। मीडिया लघुत्तम समापवर्त्य की तरह काम करता

* समीक्षक, रीडर, हिन्दी विभाग, डा. ज़ाकिर हुसैन पोस्ट ग्रेजुएट कॉलेज (सांध्य) दिल्ली विश्वविद्यालय, नई दिल्ली

है। इस प्रक्रिया में भाषा का उपक्रम/मोड/, अर्थ में 'सूचना का उपक्रम/मोड/अर्थ' बन जाता है। इस उपक्रम में भाषा ठीक उसी तरह नहीं रह जाती और न काम कर पाती है, जिस तरह हम गैर-मीडिया समाजों में होते पाते हैं।

भाषा में परिवर्तन समाज परिवर्तन की तरह सतत और अंतर्ग्रथित होते हैं। भाषा स्वयं एक मीडियम है और साधन निर्भर मीडिया यथा प्रिंट-मीडिया आदि उस 'प्रथम मीडियम' यानी भाषा को अपने भीतर लाकर गुणात्मक परिवर्तन करते हैं। भाषा को मीडिया में बदलते साफ साफ देखा जा सकता है। यह हमेशा से है, लेकिन आज इसे और साफ समझा जा सकता है।

मीडिया में भाषा संचार का और इस तरह समाज में चलन का और उसे चलाने का मौलिक काम करती है। उसके भीतर ही भाषा के अनगिनत प्रयोग होते हैं। वहाँ उसकी अपनी नैतिकता काम करती है यानी भाषा की अपनी नीति काम करती रहती है। उसे बाहर बेड़ी हुई नैतिकता की ज़्यादा परवाह नहीं रहती इसीलिए वहाँ भाषा लगातार मिश्र और भ्रष्ट रूप में ही उपलब्ध रहती है। वहाँ एक सतत और सदैव अपभ्रंश की लीला चलती है। वहाँ एक भाषा कभी नहीं होती। दिखने वाली या सुन पड़नेवाली 'एक' भाषा बाहरी धोखा होती है। वहाँ हमेशा 'एक भाषा' में नाना भाषाओं का मिक्स मौजूद रहता है। हम मुस्तकिल तौर पर 'भाषाओं में' रहते हैं। सिर्फ 'भाषा में' नहीं रहते – भाषा सुविधा भर के लिए एक वचन होती है।

मीडिया का अर्थ भी हमेशा बहुवचनवादी होता है। एक मीडिया में होते या रहते हुए भी हम एक ही वक्त में बहुत से मीडियाओं में रहते हैं, इसका कारण मीडिया का अपना 'संहिता मूलक' स्वभाव है। मीडिया खास कर मास-मीडिया कई तरह की संहिताओं का उपयोग एक साथ करता है। मसलन प्रिंट-मीडिया लंबाई-चौड़ाई संबंधित संहिताओं को उपयोग में लाता है। वह रंगों की संहिता और चित्र संबंधी और रेखांकन संबंधी संहिताओं का सहारा लेता है जबकि रेडियो स्वर और समय संबंधी संहिताओं का ज्यादा सहारा लेता है और टी. वी. इन तमाम के अलावा इन सबकी मिक्सिंग का सहारा लेता है। ये संहिताएं भाषा को लगातार रद्दोबदल में रखती हैं और उसे लगातार बहुमुखी बनाती चलती हैं। ये संहिताएं ही मीडिया का अनुशासन हैं जो भाषा को स्थिर करती हैं और अस्थिर भी करती हैं।

मीडिया में भाषा को 'पढ़ना' एक लगातार बदलती हुई भाषा को पढ़ना है। लेकिन असल चुनौती बदलते शब्दों और अर्थों को चिन्हित करने की होती है क्योंकि मीडिया जितनी तेज़ गति से बदलता है उस गति से बदलते शब्दार्थों को पकड़ा नहीं जा सकता। वह नए पदों, शब्दों को लाकर स्थिर करके चलन में ला देता है और प्रायः मानकीकृत कर देता है क्योंकि उसमें आए शब्द 'कोश' में जाएं न जाएं, जनता के दैनिक चालू शब्दकोशों में जगह बना लेते हैं।

जैसा कि पाठक इस अध्ययन में पाएंगे, एक भाषा में दूसरी भाषा के शब्द जब आते हैं तो उनके आने के ठोस कारण होते हैं। वे बताते हैं कि समाज में उनकी ज़रूरत है और उनका कोई विकल्प नहीं है और उपलब्ध भाषा में अर्थ देने वाले शब्दों का अभाव है।

मीडिया यद्यपि भाषा में 'अनुवाद' को अनिवार्य बनाता है लेकिन वह अनुवाद की सीमाओं को भी बताता है। इन दिनों हिन्दी में अंग्रेज़ी अनूदित समाचारों की भरमार रहती है, साथ ही अब ऐसी हिन्दी आने लगी है जो अक्षरशः अनुवाद की पुरानी शैली की जगह अंग्रेज़ी के शब्दों को लेकर नई हिन्दी बनकर समाचार बनाती है जिसे 'हिंग्रेजी' कहा जाता है। यह अनुवाद को छोड़ एक नयी हिन्दी गढ़ने का प्रयत्न भी है। इस तरह हिन्दी अपने संचार के तेज़ क्षणों में अंग्रेजी से अनुवाद के ग़ैर ज़रूरी होने और कुछ लेन-देन करके अपने ढंग की मौलिक हिन्दी बनाने की खबर दे रही है। अनुवाद की भाषा का अतिक्रमण करते हुए मीडिया जब दूसरी भाषाओं के शब्दों को जस का तस या थोड़े उच्चारण या पाठ-भेद से उठा लेता है और चलाता है तो वह बताता है कि अनुवाद अपर्याप्त है और मामला सिर्फ किसी शब्दकोश का नहीं है बल्कि समाज में हो रही जबरदस्त मिक्सिंग और रद्दोबदल के संचार का है।

ऐसा माना जाता है कि मीडिया स्वयं भाषा में ऐसे खेल पैदा करता है। वह अन्य भाषा के शब्दों को चला देता है। यह सच है लेकिन ऐसा वह 'लघुतम समापवर्त्य' के नियम से करता है और अधिकतम संचार करने के लिए करता है। लेकिन हर सूरत में उसके द्वारा बदल दी जाती भाषा में और उसके पाठक या श्रोता या दर्शक की वास्तविक जरूरतों में सीधी पूरकता अनिवार्य है। एक वक्त में समाजवादी किस्म के ग़ैर कांग्रेसवाद के दौर में रघुवीर सहाय के *दिनमान* की भाषा में जो बदलाव हिन्दी में हुए, वे अब इन दिनों के बदलाव के लिए ग़ैर

मुनासिब ही नहीं हास्यास्पद भी हो सकते हैं। मीडिया चूंकि दैनिक बदलाव और सिर्फ बदलाव में यकीन करता है इसलिए वहाँ भाषा के शब्दकोश हमेशा अपर्याप्त और अस्थिर रहते हैं।

मीडिया में भाषा के उपद्रवों का लगातार होना और तेज़ गतिवाले भाषाई परिवर्तनों का होना बताता है कि समाज में बहुत कुछ तेज़ी से बदल रहा है। देखा गया है कि समाज में समूहों की सांस्कृतिक पहचानों की और परिवर्तन की अनंत इच्छाओं की ज्यों-ज्यों मिक्सिंग और हरकत होती है भाषा भी उतनी ही बदलती जाती है। उसके बदलते शब्दकोश से पता चल सकता है कि जनक्षेत्रों में सिर्फ भाव परिवर्तन ही नहीं हो रहा, जनक्षेत्रों का साक्षात भूगोल भी बदल रहा है। वह जनता के स्थानांतरण और सत्ता के नए वितरण की भी खबर देती है।

जब भी समाज छोटे समाज से बड़े बनते हैं या सामूहिक समाज जनसमाजों में बदलते हैं तो मास-मीडिया ही उनकी बदलती जरूरतों और भाषा की खबर देता है और ऐसा करके उन्हें बदलता है। मीडिया और विकास के संबंधों का अध्ययन करने वाले विद्वानों के यहाँ इस बदलाव को हमेशा महत्त्व दिया जाता है। इस प्रक्रिया को 'षड्यंत्र' समझकर चलना मीडिया और समाज के परस्पर परिवर्तन मूलक रूप को नहीं समझना है।

आगे के अध्ययन के पहले इन कुछ बातों का स्पष्टीकरण इसलिए ज़रूरी है कि परिवर्तन को सहज माना जाए और षड्यंत्र न माना जाए। अंध स्वदेशीवादी भाव में, हिन्दी के 'अन्य' को दुश्मन न माना जाए।

चूंकि हिन्दी भाषा के उपलब्ध और पिछले दिनों के मीडिया में उपलब्ध रूपों को सुविधा के लिए एक रूप मान कर चला गया है और हिन्दी में आ रहे अनेक परिवर्तनों को इस छोटे से प्रस्तुतीकरण में मुश्किल पाकर सिर्फ अंग्रेज़ी के शब्दों के उपयोग को चिन्हित करने की कोशिश की गई, इसलिए भी यह विवेक ज़रूरी है कि हिन्दी में 'अंग्रेज़ी' के आने को लेकर हम अवांछित उत्तेजना का शिकार न हो जाएं और जो हो रहा है उसे समझा जाए, क्योंकि जो हो रहा है उससे हिन्दी भाषा का एक नितांत नया और जबरदस्त ढंग से सामर्थ्यवान और निर्भय रूप उभर रहा है। मीडिया ने हिन्दी का रक्षात्मक भाव निकाल दिया है और वह बराबर बताने लगी है कि अंग्रेज़ी से उसे डर नहीं है। यह पहली बार है कि अंग्रेज़ी की पदावली से कई तरह की अभिमुखता और समरूपता संभव करते हुए

भी हिन्दी संचार के जटिल क्षेत्रों में लज्जित नहीं है बल्कि अधिक अभिमानी हुई दिखती है। इस अध्ययन में इसीलिए अंग्रेज़ी के उन शब्दों को रेखांकित किया गया है, जो हिन्दी के शब्दकोश के हिस्से नहीं है, लेकिन जो हिन्दी बरतने वाले आदमी के दैनिक जीवन के हिस्से बन चले हैं।

भाग 2

उदाहरण

दैनिक जागरण: 6/11/99

मुखपृष्ठः मिशनरी, एजेंडा, वर्क्स, सी.बी.आई., ब्यूरो, एजेंसी, ट्रांसपोर्टर, हाईकोर्ट, इंटरनेट, मीडिया, हाउस, कॉलेज, गवर्निंग बॉडी, फीस, स्टाफ क्वार्टर, डेमोक्रेटिक टीचर्स फ्रंट, लाइब्रेरियन, डीन ऑफ कॉलेज।

कुल 18 शब्द

अंदर के पृष्ठः वार्ड, अटेंडर, आई.सी.यू., कमेटी, रपट, बर्न विभाग, लाइसेंस, सेंट्रल, डिस्पे, कॉलेज बोर्डबैच, जाम, डॉक्टरों, हाईटैंशन, ऑटो, ऑइल, डी. टी. सी., टेंपो, पोस्टमार्टम, गैस सिलैंडर, स्कूटर, बस ट्रैफिक, पुलिस, ब्रेकिंग, स्ट्रोक, सैंसेक्स, ब्राइबरी, ग्रेटर, बॉलीवुड, सीट, डायरी, हाईस्कोरिंग, पॉलिसी, कैरियरिस्ट, सिटी, कियोस्क, मैच, मैन ऑफ द मैच, ग्रुप, मेनेजर।

कुल 39 शब्द

विज्ञापनः इंजीनियरिंग, स्लीपवैल मैट्रस, स्टॉक, रैफ्रिजरेटर, मोबाइल, कलर, रिटर्न टिकट, ऑफर, ग्रुप हाउसिंग, मिलेनियम, शॉप, एक्सचेंज, डिस्काउंट, ट्रिप, टेलीफोन, स्पेशल, कार, कूपन, वाकी, केबल, ट्रेन, वैन, एक्सप्रेस, फोरम, ट्रेवलिंग बैग, वाईटूके, ओ.के, रिपोर्ट, प्रमोटरों, पार्टी, आइटम, पेट्रोल पंप, सिंथेटिक, कांपैक्ट।

कुल 35 शब्द

पंजाब केसरी: 30/10/99

मुखपृष्ठः सेमिनार, ऑटिज़्म, पर्सनल, एक्सीडेंट, कूपन, ऑक्सीजन, कॉलस्ट्रॉल, प्लेट, ग्लूकोज़, हाईइम्पैक्ट, मेकअप, इनसैट, ग्राम, मिसेज, मिस्टर, टिप्स, डीलर।

कुल 17 शब्द

अंदर के पृष्ठ: वारंटी, ब्लैक एंड व्हाइट, स्क्रीन, राशन, मोबाइल, एजेंट, टैक, कंप्यूटर, रेल, क्रेडिट कार्ड, बुकिंग, फील्ड इंटैलिजेंस, टैक्सी, वर्क बुक, न्यू प्रैक्टिस, टिकट, तकनीकी, स्पीड, मॉडल, बैंक, क्लेरिकल, मजिस्ट्रेट, मास्टर, हैलिकॉप्टर, बोतल, शेयर, गेट, स्टॉक एक्सचेंज, यूनियन, अपील, पार्टी, टिकट, पोस्टर, इंटरनेट, फैक्स।

कुल 36 शब्द

विज्ञापन: ऑफर, सिगरेट, रेड एंड व्हाइट, फैब्रिक्स, पैंशन, क्लर्क, पेजर, नोटिस, माइक्रोवेव ओवन, प्रोग्राम्स, बास, पर्सनल, शार्प, टेलीफोन डायरेक्ट्री, कंट्रोल, रिमोट, हाइपर बैंड, साउंड स्पेशलाइज़र, प्रोग्राम एडिट, चाइल्ड लॉक, हायर परचेज़, प्लेबैक, फ्लैश बैक, फाइन ट्यूनिंग, मकेनिज़्म, मल्टी सिस्टम, बैंड, ऑटो ट्रैकिंग, बैंजर, विज़ुअल आडियो, वाइटूके, डोमेस्टिक टर्म डिपोजिट्स, वैलफेयर सोसाइटी, स्टंप, डी.टी.सी., क्लासिफाइड, मास्टर, इंटीरियर डैकोरेशन, डायरेक्ट, ग्रेजुएट, पॉकेट, ट्यूब लाइट चोक, क्वार्टर, पैलेस, गारंटी, ड्रेनेज, सिविल लाइन, बोनस, ज़ोनल, एक्युप्रेशर, मैच्योरिटी, फ्लोर, हैल्पर, क्लीनर, कंडक्टर, सुपर वाइज़र, रिसेप्शनिस्ट, टर्मिनल, अनट्रेड, सिक्योरिटी, वाइन शॉप, प्लाट, फ्लैट, किलोमीटर, डिटैक्टिव, जनरेटर, डिस्काउंट, नेटकॉम, फिमेल फ्रेंडशिप, फोन, पर्सनल, क्रीम, रिपेयर, लेडिज़ संगीत, मार्केट, डबल बैडशीट, हाइटैक, कंप्रेसर, रिटेक, लीडर, फोर इन वन, हेयर वाईटलाइज़र, क्वालिटी, इंसपैक्टर, प्रैशर कुकर।

कुल 86 शब्द

नवभारत टाइम्स: 24/10/99

मुखपृष्ठ: फिटनैस, लेज़र, ट्रक ऑपरेटर, लाइसेंस कोटा, टैंपो, रिपोर्ट, फाइल, होलोग्राफिक पैक, माउथ फ्रेशनर, टाइम्स लाइन, क्रॉकरी, स्टेनलैस स्टील, स्टैंडर्ड, किलो, ग्राम, जी.डी.पी., सिक्यूरिटीज़, क्लब, कॉलोनी, ओरिजनल, बुकिंग, प्लाज़ा, एंट्रेंस, ग्रुप, शॉपिंग सैंटर, कमर्शियल, साईट, सोसाइटियों, ऑफिसों, कैबिनेट, सी.टी.बी.टी., ब्यूरो, ऑडिट, रिपोर्ट, टेलीफोन, सी.बी.आई., ट्रांसपोर्टरों।

कुल 38 शब्द

अंदर के पृष्ठः विज्ञापनः वर्कशॉप, कार, पुलिस, किचन, हैंडब्लेडर, चटनी मेकर, स्लीक, नंबर वन, टैकर, गेट, सेल, कैबिनेट, सेक्स, ऑपरेशन, मार्बल, सिल्क, कॉटन, एक्सपो, रेट, फेस्टिवल, फ्रेंडली, प्रीटिंग कार्ड, फैक्ट्री, कंपनी मेनेजमेंट, ट्रेनिंग, इंस्टीट्यूट, कमिशन, कनवैस, लिमिटेड, प्रूफरीडर, इंटरनेशनल, आफिस, लेडिज़, मार्किटिंग, स्मार्ट, डीलक्स, हैलपरो, सुपरवाइज़रो, फील्ड ऑफिसरो, बोनस, फंड, गार्डस, फीमेल रिसेप्शनिस्ट, ब्रांच मेनेजर, टेलीमार्किटिंग, ट्रेड, अनट्रेड, सेल्स रिप्रेजेंटेटिव, वेअर, सर्विस ब्वाय, अंडरगारमेंट, पैटर्न मास्टर, डिज़ाइनर, कंपनी, ट्रेनीज़, पोस्ट, एकाउंटेट, ड्राइवर, टेलर मास्टर, लेडी सर्चर, सर्टिफिकेट, राशन कार्ड, ड्युटी, डायरेक्ट, डिप्लोमा, सिस्टम मैनेजर, हार्डवेयर, सॉफ्टवेयर, स्क्रीन प्रिंटिंग, ब्यूटीशिशन, कोर्स, बिजनेसमैन, मैरिज, ब्यूरो, कार, गैस, पेस्टकंट्रोल, ऑटोगैस कनवर्टर, हैल्थ फ्रिटनेस, इंपोर्टेड, रजिस्ट्रेशन, मैट्रिमोन्यल, डायमंड, इंजीनियर, यू. डी. सी., बैंक, बी. ए., एम. ए., कानवेंट, स्कूल, बॉक्स, डबल, सिल्ककैब, मेगा ऑफर, स्कूटर, बंपर, कूपन, मिक्सर, ग्राइंडर, पीस, पैटीज़, मैट मशीन, सुपर क्लासिक, पब्लिक स्कूल, मैजिक व्हर्लपूल, स्टील आइरन, होममेकर, क्विक चिल, कांउटर, लाइन, लोन मेला, एक्सचेंज, फाइनैंस, कंप्यूटर, बैंक स्टेटमेंट, पोलिथे, हॉल, ऑपरेटर, वोल्टेज, सैक्टर, क्लिनिक, म्यूजिक डांस, लोअर डिवीजन क्लर्क, एसिडिटी, पायलट, पेटेंट, हाईफाई मदर, रोल, जूनियर, साईज़, कैरेट, गारंटी, वाटरप्रूफ, कलैक्शन, ड्रिलर।

कुल 140 शब्द

दैनिक नवज्योतिः 6/10/99

मुखपृष्ठः डीज़ल, तेलपूल, ओ.सी.सी., यूनिट, इलैक्ट्रानिक मशीनें, बूथवार, वोट, सीटें, एजेंसियां, एक्ज़िट पॉल, सैलों, कॉलेज, मिक्स, क्वालिटी, शेयर, मार्शल ला, पार्टी।

कुल 18 शब्द

अंदर के पृष्ठः सीनेटर, कुरिअर, सर्विस, ट्यूशन, कन्फ्यूज्ड, कांफ्रेंस, फीट, यूनिवर्सिटीज़, ऑडिटोरियम, सर्वे, एड्स।

कुल 11 शब्द

विज्ञापनः क्लासिफाईड, टैक्स फ्री, रेडीमेड, प्लास्टिक, ड्राइवर, कांस्टेबल, बटालियन, मिशन, चैक, रैली, मिलिट्री ट्रक, स्टिकर, फाउंडेशन, टायर, स्मैक, एलोपैथिक, रोडवेज़, बोर्ड हाउसिंग, बाईपास, ट्रेनों, टीम, टैस्ट, शेयर, स्टॉक, क्विंटल, मास्टर साइकिल, मेगा मिलेनियम ऑफर, सेल्यूलर फोन, हैड सैट, मल्टीमीडिया, कंप्यूटर डिजिटल, फोल्डर, कैमरा, वायरलैस, शोरूम, रिकार्ड, पेजर, फिटनेस, चैनल, स्क्रीन।

कुल 41 शब्द

मैगज़ीनः फारेन यूनिवर्सिटी, एडमिशन, ब्रांड, जीन्स जेनरेशन, फ्रैचकट, कैरियर, इंगलिश, च्यूइंगम, सिंबल, मिनी स्कर्ट, फैशन, ब्वाय फ्रेंड, कंपटीशन, बोल्ड एंड ब्यूटीफुल, फास्टफूड सैंटर, वेस्टर्नाईज़ड, गुडमार्निंग, मॉम डैड, नूडल्स, चाइनीज़।

कुल 20 शब्द

दैनिक हिन्दुस्तानः 7/11/99

मुखपृष्ठः डॉलर, पैकेज, मास्टर प्लान, अफसरों, फार्महाउस, होटल, क्लब, रेस्टारेंट, ब्रांड, फोन, रेट, बुक, डिस्कोथेक, पब, कैब्रे, लाइसेंस, हाइवे, बार, फार्महाउसों।

कुल 19 शब्द

अंदर के पृष्ठः परफ्यूम, गिफ्ट, क्रेज, टेंडर फिक्सिंग, जोन, फैशन, वायरलेससैट, मेडीकल, गोल्डन जुबिली, फाइनैस, स्कूटर, डिलीवरी, क्रीम, बॉक्स ऑफिस, बसरूट, कमर्शियल, जस्टीफाई, रैंज, मिशनरी, ग्लोब, सी.टी.बी.टी.।

कुल 22 शब्द

दैनिक हिन्दुस्तानः 30/10/99

मुखपृष्ठः ग्रीटिंग कार्ड, आर्ट गैलरी, ड्राइंगरूम, क्रिकेट, स्कोर, इंटरनेट, पोर्टल, टेस्टमैच, वैब दुनिया, पेंटिंग, डिजाइनों, ऑनलाइनों, इंटरनेट, शो, टिकट, टेक्नॉलॉजी, बांडिंग, साइबर कैफे, इलैक्ट्रॉनिक पेंफ्लेट, फोल्डर, यूज़र, रेडीमेड, हिट, ई-मेल, टाइपिंग, रोमन, कंम्प्यूटर, गिफ्टपैक, पार्टी, सी.आर.आर., बैंकिंग,

मोबाइल, बैक, ड्राफ्ट, रेलिंग, परफैक्ट हैल्थ, हैडलूम, पैशन, बिल, नर्सिंगहोम, बॉस, आंसरिंग मशीन, ट्रेवल एजेंट, कस्टमर क्लीयरैंस, फैक्स, आर्डर, कनैक्ट, डाउनलोड, कॉल कांफ्रेंस, नेटवर्क, म्यूचुअल फंड।

कुल 51 शब्द

जनसत्ता: **8/10/99**

मुखपृष्ठः टैपिंग

कुल 1 शब्द

अंदर के पृष्ठः फायर, डी. टी. सी., पासपोर्ट, वीज़ा, होटल, करंट, गारंटी, फुट, डीज़ल, एटमी हथियार, रिपोर्ट, जनरल।

कुल 12 शब्द

खेल पृष्ठः बॉक्सिंग, चैंपियनशिप, मैच, मेराथन, इंडियन, विकेट, ताइक्वोंडो, टीम, हैट्रिक, हॉकी, सीनियर, ओपन, एथलैटिक्स, ग्रुप, फुटबाल, कप्तान, बिजनैस, सिस्टम्स।

कुल 18 शब्द

जनसत्ता: **30/10/99**

मुखपृष्ठः कंपनियों, एलआईसी, जीआईसी, बिल, स्टांप, चार्जशीट, सीआरआर, बैंकिंग, म्यूचुअल फंड्स, बैंक, एफसीएनआर-बी, एनबीएफसी, एजंसी, सीबीआई, कालम, डीडीसीए।

कुल 16 शब्द

हिन्दुस्तान: **18/10/99**

मुखपृष्ठः पेज, टैंक, फोन, एनेक्सी, सर, फाइल, केबिनेट।

कुल 7 शब्द

अंदर के पृष्ठः पुलिस टीम, सीट, करंट, डीजल, प्लास्टिक, इंस्पेक्टर।

कुल 6 शब्द

टेलीविजन कार्यक्रम:

सोनी: 22/10/99

9.45 प्रातः एक बातचीतः आप बेसिक सिस्टम पर बात करें। एजूकेशन प्राइआरिटि है। एक बैच में चालीस बच्चे होने चाहिए। टीच करना डिफीकल्ट होता। अटेंडेंस लेने में टाइम निकल जाता। आपकी कोचिंग क्लास में कितने स्टूडेंट्स हैं? वर्किंग पैटर्न क्या है? हम वीकली रिटिन टेस्ट लेते हैं। यूनिट को देखते हैं। सिलेबस जब कंपलीट हो जाता है तो फिर टेस्ट लेते हैं। हम नया क्वश्चन पेपर बनाते हैं और सॉल्व कराते हैं, ताकि रिजल्ट अच्छा रहे। कोचिंग क्लासेस स्कूल अवे फ्रॉम स्कूल हैं। ये डेमेज नहीं करते हैं।

दूरदर्शन समाचार: 22/10/99

10.30 प्रातः का बुलेटिन संदर्भ कुतुबमीनार कांड के बारे में बातचीत गांव के लोग बोलते हुएः गेट बंद कर दिया। किसी की शरारत हुई, बच्चे घबरा के भागे, भगदड़ में दब गए। प्रैशर में मर गए।

स्टार:

10.33 प्रातः गुडमॉर्निंग इंडियाः दस्तकारी हाट में एक कारीगर का कथनः इंटरनेशनल स्टेंडर्ड का बने हम कुछ पैसा कमाना चाहते, मार्किटिंग एरिया ठीक है, खेल होगा तो बिजनैस होगा।

दूरदर्शन मैट्रो:

10.35 प्रातः एक विज्ञापन– इस्ट से एलर्जी है? इतनी सफाई वैक्यूम क्लीनर है। ट्वेंटीफाइव परसैंट ज्यादा पावर फुल, ये अटैचमेंट, अच्छी इनवेस्टमेंट की। शोरूम से परचेज़ किया। मल्टी परपज़ किट है।

एफ़ एम रेडियो: 12/11/99

7.30 प्रातः और 10.20 प्रातः 'नमस्कार' दिल्ली 2 की संयोजिकाः कीटाणु रहित घर प्रोवाइड करना ज़रूरी है। घर की कॉमन जगहों की सफाई हमेशा की जानी चाहिए। कुछ टाइम के बाद कोई फ्रेंड मिलने आ रहा है और ट्रेन लेट हो तो यह जानने के लिए कि ट्रेन कितनी लेट है सुनिए ट्रेन बुलेटिन।

वाचक: दिस इज़ ए आई आर एफएम राउंड दि क्लॉक।

विज्ञापन:

सिम्को एक्सट्रा केयर नेचुरल हर्बल शैंपू एक्स्ट्रा केयर शैंपू ...।
कलिंगा आई एस आई अप्रूव्ड सीमेंट।
मेधना शोरूम टॉप क्लास वैराइटी वूलन्स की।
मोर पॉर मोर क्वालिटी फ्री डिलीवरी प्लाजा सरिया।

गाने का कार्यक्रम – दो औरतें संवाद करती हुईं:–

हैलो मैडम कैसी हैं आप?
वैल बट व्हाट अबाउट यू?
मैडम माई रिपोर्ट।
जस्ट शटअप।
गिव मी रिपोर्ट
यह रिपोर्ट पंचतंत्र की है। यह ग्रंथ पाँच तंत्रों में बटा संकलन है। पशु-पक्षियों को सिंबलाइज किया गया है।
यू ऑल्सो स्टार्ट रीडिंग दैम
यस मैडम।

भाग 3
निष्कर्ष:

यह एक यादृच्छिक उदाहरण है।

एक अखबार में आम तौर पर एक पृष्ठ पर छह-सात हजार के आस पास शब्द छपते हैं। औसत दस पेज का अर्थ हुआ कि एक दैनिक में कोई सत्तर हजार शब्द संभव है। सत्तर हजार के बीच ये अंग्रेज़ी के शब्द कोई बड़ा प्रतिशत नहीं बनाते लेकिन इनकी दृश्यमानता उनकी संख्या से ज्यादा ही है। इससे हिन्दी के अंग्रेज़ीकरण की अवधारणा कुछ अतिरंजित लगती है।

इन कुछ दैनिकों के कुछ अंकों में अंग्रेज़ी के शब्दों को चुनते हुए पहली बात यह नजर आती है कि लीडस्टोरी में और मुखपृष्ठ की राजनीतिक कथाओं में प्रायः वे ही अंग्रेज़ी शब्द आते हैं जो चलन में आने लगे हैं। प्रमुख कथाओं में अनुवाद को खास जगह दी जाती है। जैसा कि ऊपर की लिस्ट से जाना जा

सकता है। मुखपृष्ठ पर हिन्दी का एक अनुशासन सा दिखता है। अंग्रेज़ी के वे ही शब्द आते हैं, जो बेहद ज़रूरी हों और जो अनुवाद से अर्थ न देते हों या कि जहाँ हिन्दी शब्द अंग्रेज़ी के शब्द से ज्यादा जगह घेरते हों। इससे लगता है कि स्पेस में ज़्यादा से ज़्यादा स्टोरी को कहने की चिंता अंग्रेज़ी के शब्दों को चलने देती है। स्पेस की मारामारी ने भी अंग्रेज़ी को जगह दी है।

दूसरी बात यह नज़र आती है कि हम ज्यों-ज्यों अंदर के पृष्ठों की ओर बढ़ते हैं हमें अंग्रेज़ी के शब्द कुछ ज्यादा मिलने लगते हैं। वर्गीकृत छोटे विज्ञापनों में तो ये बेहद उदारता से उपलब्ध होते हैं। ज़ाहिर है विज्ञापन दाता जिस रूप में भाषा चाहते हैं वही दी जाती है। चूंकि बिजनेस या रोज़गार के बहुत से क्षेत्रों में अंग्रेजी ही चलती है। इसलिए वे यथावत जाते हैं जैसे रिसेप्शनिस्ट या सुपरवाइज़र या गार्ड। पाठक के लिए इस तरह के शब्दों का एक ठोस अर्थ है जो अनुवाद से बदल सकता है।

तीसरी बात यह है कि इन दिनों खास कर हिन्दी के अखबारों में पूरी तरह अंग्रेज़ी के विज्ञापन भी खूब देखे जा सकते हैं। ऐसे विज्ञापन उक्त सैंपल में भी हैं।

एक हिन्दी के अखबार में अंग्रेज़ी के विज्ञापनों का होना दो बातें बताता है। पहली कि विज्ञापन एजेंसी अंग्रेज़ी में कॉपी बनाती है। उन्हें यह मालूम है कि ब्रांड मैनेजमेंट के लिए इन दिनों विज्ञापन का अनुवाद ज़रूरी नहीं। ब्रांड का कंसोलिडेशन यथावत कॉपी के बार-बार दिए जाने से बनता है। दूसरे, कि अखबार वालों को भाषा से बड़ा मतलब नहीं है, सीधे संवाद से मतलब है और वे जानते हैं कि नए उपभोक्ता बनाने के लिए एक भाषा नाकाफ़ी है। बाज़ार को बढ़ाने के लिए बाज़ार की मिक्सड भाषा चाहिए। यदि भाषा पैसा देती है तो वह कोई भी भाषा हो सकती है। इसमें यह बात जोड़ी जा सकती है कि बड़ी कंपनियों को ही नहीं, छोटी कंपनियों को भी मालूम है कि अंग्रेज़ी का विज्ञापन ज़्यादा ध्यान खींचता है और वह अचानक क्वालिटी या स्तर का पर्याय मान लिया जाता है। देखा गया है कि 'महत्त्व' की रिकॉल वैल्यू अंग्रेज़ी की ज़्यादा है। शायद इन कारणों से अंग्रेज़ी विज्ञापनों में उदारता से आती है। इसका उल्टा भी हो रहा है। अंग्रेज़ी के अखबारों में, अंग्रेज़ी के विज्ञापनों में कई बार हिन्दी को रोमन में लिखा देखा जा सकता है। भाषा की यह मिक्सिंग बहुत ही सहज हो चली है और खटकती नहीं है बल्कि आनंद देती

है। यह प्रायः उपभोक्ता वस्तुओं के ब्रांडों में दिखता है। जैसे पेप या इलैक्ट्रॉनिक सामान या ब्रेड या कपड़े। हिन्दी मीडिया में बनती हिन्दी मूलतः धनात्मक अर्थ में बाज़ार संचालित हिन्दी है और वह एक पॉपुलर मिक्स में आती है।

हिन्दी में अंग्रेज़ी के शब्दों के चलन के पीछे एक तो अनुवादों की कमी है, दूसरे अनुवादों की असंभवता या कठिन्य है। ब्रांडों में ज्यादातर संज्ञावाची अंग्रेज़ी शब्द यथावत ही आते हैं जो कई बार रोमन में ही रहते हैं। सर्वनामों में अंग्रेज़ी नहीं होती, क्रियापदों में यदि कहीं होती भी है तो क्रिया विशेषण के रूप में होती है। हाँ, संज्ञापद और विशेषण पद अवश्य कुछ ज्यादा अंग्रेज़ी वाले होते हैं। इसके पीछे शायद 'फ्री मार्केट', उससे भी ज्यादा उसका पॉपुलर मिथ बड़े कारण हैं। नया बाज़ार नयी भाषा से ही बढ़ सकता है अतः वह भाषा को बदल रहा है। पहली बार ब्रांड हिन्दी का नया सृजन कर रहे हैं। 'ये दिल माँगे मोर' एक मुहावरा बन चुका है।

रेडियो में भाषा के कई रूप मिल सकते हैं। मसलन, समाचारों में हिन्दी की यथाशक्ति शुद्धता पर ज़ोर रहता है। दिल्ली ए पर ऐसा ही रहता है, ज्यों-ज्यों मनोरंजन मूलक कार्यक्रम होते हैं, शुद्धता कम होती जाती है और एफएम तो एकदम नए मध्यवर्ग और बाज़ार की भाषा को देता है। वहाँ अंग्रेज़ी हिन्दी का फरटिदार मिक्स मौजूद रहता है। शुद्ध हिन्दी और अंग्रेज़ी साथ-साथ लगभग हर तीन वाक्यों में से एक में देखी जा सकती है। कई बार अंग्रेज़ी के पूरे वाक्य भी मिल सकते हैं।

टी. वी. के सभी चैनलों पर अधिक मिक्स्ड भाषा उपलब्ध होती है। समाचारों में, वहाँ अखबारों में जितनी अंग्रेज़ी आती है, लेकिन चैट शोज में अंग्रेज़ी हिन्दी का बराबर का मिक्स दिखता है। यहाँ किताबी हिन्दी नहीं रह गई बल्कि एक जबरदस्त तुरंत चटपट हाज़िर जवाबी हिन्दी की सृष्टि हुई है। जिसे कई लोग 'हिंग्रेजी' या 'हिंग्लिश' कहने लगे हैं। दरअसल यह मैट्रोपोलिटन और ग्लोबल हिन्दी है जो नए मार्केट, नए मीडिया और नए मध्यवर्ग ने बनाई है।

अंग्रेजी के बहुत से शब्द अरसे से हिन्दी के हो गए हैं यद्यपि शब्दकोशों में उन्हें जगह नहीं मिली है। मिलनी चाहिए। स्कूल, कॉलेज, मैनेजर, पुलिस कमिश्नर, जज, कोर्ट, ऑर्डर, लोन आदि पता नहीं कितने शब्द हिन्दी के हो गए हैं जनता उन्हें हिन्दी का समझकर ही बरतती है। कुछ नए शब्द इन दिनों जुड़

रहे हैं जैसे सीट, वोट, पार्लयामेंट, सैशन, सोसाइटी, ऑफर, कमेटी, बहुत सारी ब्रांडें आदि। हिन्दी के नए कोश में इनमें से अनेक शब्दों को जगह दी जानी चाहिए।

यहाँ एक छोटे से सैंपल को देखा गया है। यदि एक महीने के दैनिकों तथा अन्य मीडिया में हिन्दी के शब्द रूपों एवं वाक्यों का बड़ा सैंपल बना कर अध्ययन किया जाए तो कुछ और भी महत्त्वपूर्ण नतीजे निकल सकते हैं।

प्रकाशन के क्षेत्र में हिन्दी

पंकज बिष्ट*

आज भाषा मात्र किसी समाज द्वारा संवाद और उसके संचित ज्ञान के संकलन के लिए इस्तेमाल होने वाले माध्यम का नाम नहीं है बल्कि समाज विशेष की राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक स्थिति का भी द्योतक है। इस मायने में किसी भाषा की किसी भी स्थिति को, बिना शेष संदर्भ से जोड़े, नहीं समझा जा सकता। इस पर भी आज के संदर्भ में भाषा की जीवंतता एक मायने में काफी हद तक उसके प्रकाशन जगत की सक्रियता से पहचानी जा सकती है। अगर हम इस मानदंड से देखें तो हिन्दी के प्रकाशन जगत की गतिविधियां कोई बहुत आश्वस्त नहीं करती हैं। प्रकाशन में हिन्दी की भूमिका के दो पहलू हैं। एक भाषा के इस्तेमाल का और दूसरा उसमें प्रकाशित होनेवाली पुस्तकों की विविधता, गुणवत्ता और संख्या का। पहले भाषा को लेते हैं।

असल में हिन्दी में किसी भी तरह की व्यवस्था और अनुशासन न होने के कारण स्पष्ट मानक नहीं निर्धारित हो पाये हैं। जहाँ तक रचनात्मक भाषा का सवाल है उसमें एक तरह की स्वच्छंदता समझ में आनेवाली है पर जो भाषा विभिन्न शास्त्रों के लिए इस्तेमाल होती है, जहाँ हर शब्द एक अर्थ विशेष को संप्रेषित करता है, उसका मानकीकरण और एकरूपता आवश्यक है। ऐसा न होने से विभिन्न तकनीकी, विज्ञान और समाजविज्ञान के विषयों के अध्ययन में जो अराजकता फैलेगी और फैल रही है, उसके खतरे का अनुमान लगाया जा सकता है। मैं फिलहाल दो शब्दों की ओर आप का ध्यान दिलाना चाहूँगा। पहला है उत्तर-आधुनिकता से संबंधित शब्द डिकंस्ट्रक्शन और अंतरिक्ष में राकेट के भेजे जाने के लिए प्रयुक्त होने वाले अंग्रेज़ी शब्द लांच के लिए समानधर्मी शब्द का प्रयोग। अगर उत्तर-आधुनिकता के संदर्भ में इस्तेमाल डिकंस्ट्रक्शन के लिए

---

* उपन्यासकार और लेखक

विखंडन का इस्तेमाल होता है तो एटमिक फिजन के लिए परमाणु विखंडन की जो स्थापित शब्दावली है उसका क्या होगा? वैसे भी डिकंस्ट्रक्शन जिस अर्थ की ओर इशारा करता है उसका तात्पर्य निर्मित या रचित चीज को उधेड़ने या अंग्रेज़ी में जिसे 'डिसमेंटल' करना कह सकते हैं, उससे है। इसी तरह क्या 'राकेट लांच' के लिए राकेट प्रक्षेपण का प्रयोग हो या कि तकनीकी शब्दावली आयोग द्वारा प्रयुक्त शब्द प्रमोचन का! एक और समस्या जो ज्यादा गंभीर है वह है सामान्य रूप से इस्तेमाल होने वाले शब्दों को अलग-अलग तरीके से लिखना। हिन्दी में यह आमतौर से होता है कि जब भी कोई नई जगह या नया नाम अचानक उभरता है तो उसे कई तरीके से लिखा जाने लगता है। जैसे कि पिछले दिनों जब यूगोस्लाविया का गृहयुद्ध चर्चा में आया तो वहाँ के विभिन्न स्थानों के नामों को, जिसने जिस तरह से चाहा, लिखा। अपनी सीमाओं को देखते हुए एक हद तक इसे सहना हमारी मजबूरी है। पर वे शब्द जिनके हिज्जे कम से कम हिन्दी में निश्चित हैं और ये हैं भी भारतीय, जब उन्हें भी मनचाहे ढंग से लिखा जाता है तब संकट बढ़ता है। उदाहरणस्वरूप असम को आसाम लिखना या कश्मीर को काश्मीर लिखना। जरा-सी कोशिश से इन शब्दों के मानक रूप को जाना जा सकता है पर लगता है हिन्दी में संदर्भ सामग्री (भारतीय सर्वेक्षण विभाग द्वारा ज़ारी मानचित्र आदि) देखने की कोई परंपरा ही नहीं है। इसी तरह का कुहासा अमेरिका/अमरीका, योरोप/यूरोप, बंगला/बांग्ला को लेकर भी है। इसका एक मजेदार उदाहरण दिल्ली का एक दैनिक है जो लगातार भाईचुंग भुटिया को भूतिया लिखता है। यद्यपि इस समस्या की जड़ हिन्दी में मूलरूप से समाचारों का संकलन न होना है पर जिस तरह से हिन्दी समाचार समितियों को अंग्रेज़ी का पुच्छला बना दिया गया है उससे लगता नहीं कि कभी भी, कोई समाचार एजेंसी ऐसी हो पायेगी या होने दी जायेगी, जिसके दुनिया भर में नहीं तो कम से कम भारत के महत्त्वपूर्ण स्थानों में ही सही अपने संवाददाता हों और जो संवाद सीधे हिन्दी में लिखें। पर इसका मतलब यह भी नहीं है कि अगर हिन्दी में सीधे समाचार संकलन नहीं होगा तो हम तात्कालिक रूप से कोई ऐसी व्यवस्था भी न करें जो कि हमारी इस तरह की गलतियों को रोके।

शब्दों को, विशेषकर संज्ञाओं और सर्वनामों को जहाँ तक हो मूल के निकट होना चाहिए, इससे कोई इनकार नहीं करेगा पर इसका यह भी मतलब नहीं है कि हम मूल भाषा के शब्दों का इस्तेमाल करने में ही अपनी सारी ऊर्जा

लगा दें। अंग्रेज़ी ने हमारे देश के विभिन्न नामों – शहरों, जातियों और चीजों से संबंधित – को अपने हिसाब से बोलना शुरू किया और अंततः हम ही उनके मूल नाम भूल गये। भारत के लिए अंग्रेज़ी में दुनिया भर में इंडिया शब्द का प्रयोग किया जाता है। हम खुद ग्रीस के लिए यूनान और इजिप्ट के लिए मिश्र या सोक्रेटीज के लिए सुकरात आदि का प्रयोग करते हैं और ऐसे प्रचलित शब्दों का प्रयोग ही बुद्धिमत्ता भी है। पर हम जिस भी शब्द को चुनें उसे सार्वभौम तरीके से तो इस्तेमाल करें। इसी तरह का घपला नई/नयी, न और म के हलंत रूप के लिए अनुस्वार का उपयोग आदि को लेकर भी है। यहाँ व्याकरण संबंधी बहस में पड़ने का कोई मतलब नहीं है, कुल मिलाकर ज़रूरी यह है कि भाषा में एक आधारभूत एकरूपता होनी जरूरी है। इसी तरह यह भी विचारणीय है कि किसी भाषा के साथ, उसकी लिपि के आधुनिक तकनीक के साथ तालमेल बैठाने के तर्क पर, किस हद तक मनमानी की जा सकती है? मेरा इशारा पूर्णविराम की जगह फुलस्टाप के इस्तेमाल की ओर है। रोमन लिपि में एक ही अक्षर के दो रूपों के होने और उनके इस्तेमाल के निर्धारित होने के कारण फुलस्टाप का प्रयोग समझ में आता है पर देवनागरी में यह किस तरह भ्रम फैलाता है यह बतलाने की आवश्यकता नहीं है। इस संदर्भ में मुझे तीन चार-वर्ष पहले की एक घटना याद आ रही है। अंग्रेज़ी के बढ़ते प्रभाव से परेशान फ्रांस ने एक कानून पास कर दिया था कि अगर कोई व्यक्ति फ्रांसीसी में एक शब्द विशेष के होते हुए उसकी जगह अंग्रेज़ी के शब्द का उपयोग करेगा तो उसके खिलाफ दंडात्मक कार्यवाही की जायेगी। कहने का तात्पर्य यह है कि भाषा के संदर्भ में स्वच्छंदता अपनाने की सीमा है जिसका ध्यान रखा जाना चाहिए। इसी से जुड़ी समस्या यह है कि अधिकांश हिन्दी के प्रकाशन संस्थानों में किसी भी तरह के संपादन के मानक बनाने का कोई प्रयत्न ही नहीं है। बड़े से बड़े प्रकाशक की विभिन्न पुस्तकों में आप विविध किस्म की संपादन-शैलियां देख सकते है। इसके मूल में अधिकांश प्रकाशन संस्थानों में प्रशिक्षित संपादकों का अभाव है।

अब मैं आप का ध्यान समस्या के दूसरे पक्ष की ओर ले जाना चाहता हूँ। यह बात सही है कि हिन्दी में जो थोड़े बहुत संदर्भग्रंथ हैं भी तो उनका इस्तेमाल करने की परंपरा नहीं है पर साथ ही एक बड़ा सत्य यह है कि हिन्दी में न तो संदर्भग्रंथों के बनाने की परंपरा है और न ही भाषा व लिपि तथा उसके तकनीकी इस्तेमाल के संबंध में किसी भी तरह के अनुसंधान और अन्वेषण का ही कोई प्रयत्न नज़र आता है। इस काम में लगी सरकारी एजेंसियां सिर्फ नौकरियों और

पदों का खेल हो गई है। मैं हाल ही की एक घटना की ओर आप का ध्यान खींचना चाहता हूँ। पिछले महीने के अंत में हिन्दी के एक महत्त्वपूर्ण आलोचक डा. नगेंद्र का देहांत हुआ। इस संबंध में जो समाचार छपा वह इस मायने में विचित्र था कि उसमें कहीं भी यह नहीं बताया गया था कि उनका जन्म कहाँ हुआ था। उन्होंने कहाँ शिक्षा पायी थी और उनका क्या योगदान है। कहने का तात्पर्य यह है कि कहीं भी एक औपचारिक आविच्यूरी नहीं थी जैसी कि अंग्रेज़ी अखबारों में छपती है। समाचार सिर्फ यह बतलाता था कि चौरासी वर्ष की अवस्था में उनका निधन हो गया। बाकी खानापूर्ति इधर-उधर के कुछ आलोचकों से एक-आध बात पूछकर कर दी गई थी। यह स्थिति कमोबेश सभी अखबारों में थी। दूसरे शब्दों में यह चलाऊपन हिन्दी पत्रकारिता की पहचान ही बन गया है। यह कैसे और क्यों हुआ इसके संभाव्य कारण दो हो सकते हैं। पहला यह कि हमारे अखबारों में हिन्दी के महत्त्वपूर्ण लोगों के बारे में अवश्यक जानकारी रखने की परंपरा ही नहीं है। यानी हिन्दी के लेखक-संपादक खुद हिन्दीवालों की नज़रों में ही किसी काम के नहीं हैं। जहाँ तक अंग्रेज़ीवालों का सवाल है उनकी नज़र में हिन्दी दोयम दर्जे की भी भाषा नहीं है इसलिए उसमें काम करने वाले लोग भी इस लायक नहीं हैं कि उनके बारे में किसी तरह का कोई उल्लेख किया जाये। इसलिए एजेंसियों और अंग्रेज़ी के संदर्भग्रंथों में हिन्दीवालों को वह महत्त्व नहीं दिया जाता जिसके कि वे अधिकारी हैं और जहाँ तक हिन्दी का सवाल है उसमें ऐसा कोई संदर्भग्रंथ नहीं है जो कि हिन्दी के बारे में आवश्यक नवीनतम जानकारी दे सके। जो दो संदर्भग्रंथ – भारत सरकार के प्रकाशन विभाग द्वारा प्रकाशित *भारत* और *मलयालम मनोरमा* की वार्षिकी – हिन्दी में हर वर्ष प्रकाशित होते हैं और लोकप्रिय हैं वे मूलतः अंग्रेज़ी का अनुवाद हैं। इधर कुछ संदर्भग्रंथ हिन्दी के क्षेत्रीय अखबारों ने भी छापने शुरू किये हैं पर वे न तो लोकप्रिय हैं और न ही उनकी गुणवत्ता और विश्वसनीयता उस स्तर की है। परिणामस्वरूप इस तरह के समाचार हमें रोज़ ही देखने को मिल जाते हैं। यह कहना बेकार है कि सरकार द्वारा राजभाषा के नाते हिन्दी के संवर्धन के लिए बनाये गये सारे विभाग अपनी उपयोगिता पूरी तरह खो चुके हैं। वैज्ञानिक व तकनीकी शब्दावली आयोग द्वारा बनाया गया *बृहत् पारिभाषिक शब्द संग्रह* वर्षों पुराना है। परिणामस्वरूप उसमें यही नहीं कि कंप्यूटर और इंटरनेट तथा संचार क्रांति से संबंधित एक भी शब्द शामिल नहीं है बल्कि इस बीच ज्ञान-विज्ञान की विभिन्न शाखाओं में जो नई शब्दावली आई है उसका भी अता-पता नहीं है।

यह बात सही है कि ऐसा समाज जो किसी भी क्षेत्र मे कोई भी आविष्कार या अनुसंधान नहीं कर रहा हो शब्दों का अनुवाद करने के लिए अभिशप्त है पर अपनी निष्क्रियता से वह जो अराजकता पैदा कर रहा है, हिन्दी उसका उदाहरण है। चूंकि आधुनिक दुनिया के निर्माण, विकास और अनुसंधान के क्षेत्रों में हमारी कोई भूमिका नहीं रह गई है इसलिए यह और भी ज़रूरी है कि हम कम-से-कम कोई ऐसी व्यवस्था बनायें जो कि हमारी भाषागत ज़रूरत का ध्यान रखते हुए शब्दों का चयन करे और नयी शब्दावली के उपयुक्त समानधर्मा सुझाये। ज़रूरत संभवतः यह है कि अनूदित हो रहे शब्दों का एक केंद्रीय स्रोत हो जो हर वर्ष, विशेषकर विज्ञान और तकनीकी में आनेवाली नयी शब्दावली की सूची जारी करे। नई तकनीकी शब्दावली को अगर एक जगह अंतिम रूप दिया जा सकता तो संभवतः जिस तरह की अराजकता आज जहाँ-तहाँ दिखलाई दे रही है, उससे बचा जा सकता था। इसके साथ ही साथ अन्य भारतीय भाषाएं भी इससे लाभांवित होतीं जो अंततः हिन्दी की स्वीकार्यता को बढ़ातीं।

सामान्यतः यह दायित्व ऐसी संस्थाओं का होना चाहिए था जिनके ज़िम्मे शब्दकोश निर्माण का काम है। पर हिन्दी में कोश निर्माण सतत चलनेवाली सामूहिक प्रक्रिया न होकर एक व्यक्ति विशेष का शौर्य हो गई है। परिणामस्वरूप इन कोशों की खामियां व्यक्ति की क्षमताओं की सीमा का उदाहरण हैं। हिन्दी का आखिरी ढंग का शब्दकोश आज से लगभग तीस साल पहले एक विदेशी कामिल बुल्के ने बनाया था जो अंग्रेज़ी शब्दकोशों की तुलना में मात्र दसवीं तक के विद्यार्थी के लिए उपयुक्त है। उसके बाद जो कोश आये हैं वे या तो पुनर्मुद्रित हैं या फिर पिछलों को ही उलट-पलट कर नये प्रकाशकों के यहाँ से छपवाये गये हैं। एकमात्र परिवर्तन दामों में है। दुर्दशा का आलम यह है कि न तो रामचंद्र वर्मा संपादित पाँच खंडों के *मानक हिन्दी कोश*, जो 1953 में छपा था, को परिवर्द्धित किया गया है न ही श्यामसुंदर दास संपादित *हिन्दी शब्द सागर* को, जो 1929 का है। संभवतः ये कोश अब उपलब्ध ही नहीं हैं। हरदेव बाहरी कृत *बृहत् अंग्रेज़ी-हिन्दी शब्दकोश* के प्रकाशक ने कोई कसर नहीं छोड़ी है कि किसी को गलती से भी यह पता चल जाये कि इसका पहला संस्करण कब छपा, पर यह ज़रूर है कि इसका तृतीय संस्करण जो मूलतः पुनर्मुद्रण ही है, 1985 में आया था। इसी तरह एक *उर्दू-हिन्दी कोश* उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान ने बनवाया था जिसके संकलनकर्ता मुहम्मद मुस्तफा खां 'मद्दाह' थे। इसे 1959 से अब तक

परिवर्द्धित नहीं किया गया है। हाँ, इस बीच संस्थान हर वर्ष करोड़ों के पुरस्कार बांटने लगा है। जब उर्दू की यह हालत है तब समझा जा सकता है कि हिन्दी और अन्य भारतीय भाषाओं के शब्दकोशों की क्या स्थिति होगी। वैसे यह भी सच है कि हिन्दीवालों को किसी और भाषा से कुछ भी सीखने की ज़रूरत नहीं रह गई है। अन्यथा इस तरह की दरिद्रता और तटस्थता का क्या कारण हो सकता है? भला हो अरविंद कुमार का कि अपनी सारी सीमाओं के बावजूद उन्होंने अकेले दम पर *समानांतर कोश*, हिन्दी का एकमात्र थिसारस, बनाया है। 1996 में प्रकाशित यह कोश एक तरह से पिछले 25-30 वर्षों की अकेली उपलब्धि कहा जा सकता है। आज जब कि दुनिया कहाँ की कहाँ निकल गई है, तकनीकी और वैज्ञानिक खोजों ने हजारों नये शब्द दे दिये हैं जिनके अर्थ समझने के लिए विशेषज्ञता ज़रूरी है, शब्दकोश या थिसारस बनाना एक आदमी का काम नहीं रहा है। हिन्दी के नाम पर करोड़ों का वारा-न्यारा हो रहा है पर न किसी विश्वविद्यालय में, न किसी सरकारी या गैर सरकारी प्रकाशन संस्थानों में इस तरह का कोई प्रयत्न है कि एक स्थायी संपादन विभाग के ज़रिये एक मानक कोश बने जिसे कि निश्चित समय पर या ज़रूरत के मुताबिक संशोधित-परिवर्द्धित किया जाता रहे। इसमें पैसा ही नहीं लगेगा, मेहनत भी होगी तथा सबसे बड़ी बात यह है कि यह काम समर्पण माँगता है, और सबसे बड़ी दिक्कत ही यही है।

इसी तरह हिन्दी में आज एक भी विश्वकोश नहीं है। 1919 में नगेंद्र नाथ बसु के मूल बंगला *विश्वकोश* का हिन्दी अनुवाद छापा गया था। 25 खंड के इस *विश्वकोश* को एक प्रकाशक ने 1985 में बिना किसी संशोधन-परिवर्द्धन के, प्लेटें बना कर छाप मारा। उसके बाद धीरेंद्र वर्मा और भगवतशरण उपाध्याय संपादित-संग्रहीत 12 खंडों का कोश 1960 में छपा, इसको भी कभी परिवर्द्धित नहीं किया गया। विश्वकोश बनाने का एक और प्रयत्न सन 1970 के आसपास मोटूरि सत्यनारायण के द्वारा किया गया था जो कुछ खंडों से आगे नहीं बढ़ा। कुल मिलाकर न तो निजी क्षेत्र में और न ही सार्वजनिक क्षेत्र में किसी भी तरह का संदर्भग्रंथ बनाने का कोई प्रयत्न या मंशा नजर आती है। एक तरह से जैसे यह मान लिया गया लगता है कि हिन्दी वाले अपना काम अंग्रेजी संदर्भग्रंथों से चलावेंगे।

हिन्दी प्रकाशन का दूसरा पक्ष विषय के स्तर पर इसकी एकांगिकता है। साहित्य के महत्त्व को नकारा नहीं जा सकता पर मात्र साहित्य को ही महत्त्व देना भाषा और समाज दोनों की दरिद्रता का संकेत है। साहित्य के अलावा जो भी अन्य विषयों की पुस्तकें हिन्दी में प्रकाशित होती हैं वे मूलतः पाठ्य पुस्तकें ही होती हैं। पाठ्य पुस्तकें छापना भी कोई छोटा काम नहीं है पर ये जिस स्तर की होती हैं उनसे कौन अपरिचित है। कुल मिलाकर खराब अनुवादों का चरबा। इधर एक नये प्रकाशक ने कोशिश की है कि साहित्येत्तर विषयों पर – विशेष कर समाज विज्ञान से संबंधित – पुस्तकें छापी जायें पर इनमें भी अनुवादों का बाहुल्य है। हमारे जाने-माने प्रकाशकों ने कभी भी यह प्रयत्न नहीं किया है कि वैज्ञानिक विषयों को तो छोड़ें, समाज विज्ञान जैसे विषयों पर भी मौलिक लेखन करवायें। इधर जो भी गैर साहित्यिक रचनाएं हिन्दी में छापी गई हैं वे ज़्यादातर वही हैं जो कि अंग्रेज़ी में लोकप्रियता प्राप्त कर चुकी हैं। हाल ही में अंग्रेज़ी मीडिया द्वारा सर पर उठाई गई किताब 'दि ग्रेट इंडियन मिडिल क्लास' का अनुवाद छापा गया है। इसे प्रकाशक ने अपनी पचासवीं वर्षगांठ के अवसर पर योजना के तहत लिखवाया था। मैं नहीं सोचता कि ऐसी पुस्तक हिन्दी में नहीं लिखी जा सकती है। या कि हिन्दी प्रकाशक इस तरह की पुस्तकों की योजना बना कर सीधे नहीं लिखवा सकते हैं। प्रकाशक का काम किसी संपादक की तरह ही नये लेखकों को खोज कर सामने लाना भी है न की सिर्फ आसान रास्तों को ही तलाशना। पर ऐसा लगता है प्रकाशन जगत इस तरह की किसी भी चुनौती को स्वीकार करने को तैयार नहीं है। हिन्दी प्रकाशन की इस समस्या की जड़ में एक हद तक हिन्दी पुस्तकों के बाजार के न होने के साथ ही साथ इसका अवांछित रूप से सरकारी खरीद पर निर्भर होना भी है। सरकारी खरीद ने प्रकाशन व्यवसाय को ही पंगु नहीं बनाया है बल्कि हिन्दी में हर तरह के लेखन को नुकसान पहुँचाया है और नकली लेखकों और प्रकाशकों की फौज खड़ी कर दी है। अगर हिन्दी पुस्तक व्यवसाय राज्य द्वारा समर्थित खरीद से मुक्त अपना स्वतंत्र बाज़ार, जो माँग और पूर्ति के आधारभूत सिद्धांतों पर टिका हो, विकसित कर पाता तो शायद वह बहुत कुछ बेहतर और मौलिक कर पाने की स्थिति में होता। वैसे जिस दिशा में सरकारी नीतियां जा रही हैं, उसे देखते हुए बेहतर यही है कि हिन्दी प्रकाशन जगत समय रहते चेत जाये और जितनी जल्दी हो सके अपना बाज़ार ढूंढ ले। निजी क्षेत्र के प्रकाशकों की अपनी मजबूरियां हो सकती हैं पर सरकारी क्षेत्र के

साधन-सम्पन्न प्रकाशन संस्थान ही कुछ कर पाते हों, ऐसा भी नहीं है। आप देख सकते हैं कि नेशनल बुक ट्रस्ट और प्रकाशन विभाग के पास एक भी पुस्तक विज्ञान या समाज विज्ञान यहाँ तक कि इतिहास पर भी ऐसी नहीं है जो कि मौलिक रूप से हिन्दी में लिखी गई हो। सरकारी संस्थानों की बड़ी समस्या उनके साहबी माहौल के अलावा इस बात की भी है कि उनसे एकमात्र हिन्दी का ही प्रकाशन नहीं होता और वह भी अधिकांशतः होता है कि उनका मुखिया कोई ग़ैर-हिन्दी भाषा-भाषी होता है जब कि उनका प्रकाशन मुख्यतौर पर हिन्दी में होता है। इसी तरह से राष्ट्रीय विज्ञान संचार संस्थान, जिसकी ज़िम्मेदारी ही विज्ञान का प्रसार-प्रचार है, का सवाल है उसके भी अधिकांश प्रकाशन अनुवाद हैं। हिन्दीभाषी प्रदेशों बिहार, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, राजस्थान व हरियाणा आदि की अकादमियों और संस्थानों की भूमिका भी इस संदर्भ में कोई उम्मीद नहीं जगाती है। इन्होंने ग़ैर-साहित्यिक विषयों पर कुछ क्लासिक ज़रूर छापे हैं पर वे सभी अनुवाद हैं। इन अनुवादों की गुणवत्ता पर कुछ भी कहना समय खराब करना है पर यह ज़रूर कहा जा सकता है कि इनके पास एक भी विज्ञान अथवा सामाजिक विज्ञान के विषय की ऐसी किताब नहीं है जिसे मौलिक कहा जा सके।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, अनुवाद हमारी नियति है इसलिए यह और भी ज़रूरी है कि हम अनुवादों की ओर विशेष ध्यान दें। ज़रूरी है कि अनुवादों का स्तर भाषा के संदर्भ में ही नहीं बल्कि विषय की प्रामाणिकता के स्तर पर भी उच्चकोटि का हो। पर दुख की बात है कि हमारे अनुवादों का स्तर अधिकांशतः इतना खराब होता है कि कई बार तो लगभग अनर्थ हुआ रहता है और यह बात निजी क्षेत्र के प्रकाशकों पर ही नहीं साहित्य अकादमी, प्रकाशन विभाग और नेशनल बुक ट्रस्ट तथा राष्ट्रीय विज्ञान संचार आदि पर भी समान रूप से लागू होती है।

अंत में कुछ बातें आधुनिक तकनीक और तरीकों के इस्तेमाल पर। हिन्दी के अधिसंख्य प्रकाशक आज भी इंडेक्सिंग की परंपरा से अपरिचित हैं। बार कोड का इस्तेमाल तो एक भी प्रकाशक अभी नहीं कर रहा है। जहाँ तक मशीनों और तकनीकी के इस्तेमाल का सवाल है उसने हमारी जान के लिए कैसी सांसत पैदा कर रखी है इसका उदाहरण हिन्दी के टाइपराइटर हैं। पिछले पचास वर्षों में हिन्दी के टाइपराइटर का की-बोर्ड कम से कम तीन बार बदला गया है और अब भी जो की-बोर्ड है उसे अंतिम कहने की कोई हिम्मत नहीं कर सकता। इससे भी

मज़ेदार स्थिति कंप्यूटरों उर्फ संगणकों की है जिसमें खुल्लम-खुल्ला कई तरह के की-बोर्ड यानी कुंजी पटल चल रहे हैं। कहीं कोई कुछ कहने वाला नहीं है। जैसी अराजकता दुनिया की दूसरी सबसे बड़ी भाषा और सबसे बड़े लोकतंत्र की राजभाषा हिन्दी में है, वैसी शायद ही किसी और भाषा में हो। परिणामस्वरूप न तो कोई वैबसाइट और न ही किसी ई-मेल सेवा से आप हिन्दी में ठीक-ठीक लाभांवित हो सकते हैं। इसके कारण काम करने वालों की गत्यात्मकता (मोबिलिटि) पर ही असर नहीं पड़ता बल्कि दक्षता भी प्रभावित होती है। अंग्रेज़ी में अब कई पत्रिकाएं फ्लापी का स्वागत करती हैं पर हिन्दी में इस तरह की कोई आधुनिक हरकत गले की फांस बन सकती है। आपने लेख जिस फोंट से भेजा, पता चला वह फोंट उस पत्रिका में है ही नहीं। ऐसे में बहुत संभव है कि आप की फ्लापी आप के पास बैरंग आ जाये और पत्रिका का अंक आगे चला जाये। कुछ ऐसी पत्रिकाओं के बारे में भी सुनने में आया है, जिन्होंने अपने ही तरह का फोंट बना रखा है, जो और कहीं नहीं मिलता। यानी इन संस्थानों में काम करनेवाला आपरेटर और कहीं काम ही नही कर सकता।

अब आते हैं साफ्टवेयर पर। कहने को तो कुछ कंपनियों ने हिन्दी स्पैलचैकर भी बना दिये हैं पर इनकी उपयोगिता दो कारणों से सीमित है। पहली हिन्दी की अराजकता के कारण और दूसरा इन स्पैलचैकरों की गुणवत्ता संबंधी अपनी सीमाओं के कारण। इसी तरह कहने को हिन्दी में कंप्यूटरों के लिए शब्दकोश भी बने हैं पर उनकी उपयोगिता ही नहीं, उपलब्धि भी बहुत ही सीमित है। हिन्दी की स्थिति को देखते हुए अगर सरकार चाहे तो अपने आप में यह अच्छा मौका है जिसके बहाने कोई व्यवस्था पैदा की जा सकती है। सरकार को चाहिए कि वह एक मानक कोष बनाये और उसे बिना किसी शुल्क के जारी कर दे।

कुल मिलाकर यह स्पष्ट है कि आधुनिक टेकनॉलॉजी का जो लाभ अंग्रेज़ी को मिल रहा है वह हिन्दी के लिए अभी दूर का सपना है। किसी भाषा का विकास इस बात पर निर्भर करता है कि उस भाषा के बोलने वालों का अपनी भाषा के प्रति सरोकार किस दर्जे का है। दुख की बात यह है कि हिन्दी एक ऐसे समाज की भाषा है जो कि अपने ही देश में पिछड़ा है और इसी हीनता में अपनी भाषा ही नहीं संस्कृति से भी दूर होता जा रहा है।

गणतंत्र में राजभाषा की स्थिति

रामविलास शर्मा*

आज से पचास वर्ष पहले भारत में गणतंत्र कायम हुआ था। उस समय घोषणा की गई थी कि गणतंत्र की राजभाषा हिन्दी होगी और यह भी माना गया था कि हिन्दी अविकसित भाषा है, और इसे विकसित होने के लिए 15 वर्ष का समय दिया गया। सन् 1950 के बाद 1965, 1980, 1995 कितनी बार यह 15 वर्ष बीत गए, परंतु व्यवहार में गणतंत्र की राजभाषा अंग्रेज़ी बनी रही। इसका बहुत बड़ा कारण यह है कि जिस संविधान सभा ने गणतंत्र कायम किया था और हिन्दी को उसकी राजभाषा बनाने की घोषणा की थी, वह सर्वप्रभुतासंपन्न सभा नहीं थी।

गांधीजी ने कहा था, "यद्यपि यह प्रभुसत्ताधारी सभा नहीं है, फिर भी यह उसके निकट है, जितनी कि हो सकती है।" (*संपूर्ण गांधी वाङ्मय* 85-8) संविधान सभा 1942 की अगस्त क्रांति का परिणाम नहीं थी। वह अंग्रेजों से कांग्रेस के समझौते का परिणाम थी। अंग्रेजों के कहने पर ही वह बुलाई जाती थी। दिसम्बर 1946 में गांधीजी ने कहा था, "यह बात कभी नहीं भूलना चाहिए कि कांग्रेस कितनी ही शक्तिशाली क्यों न हो गई हो, आज जिस संविधान सभा की कल्पना की गई है, उसकी बैठक केवल ब्रिटिश सरकार के कहने से हो सकती है।" (*संपूर्ण गांधी वाङ्मय* 86-208) कांग्रेस के कराची अधिवेशन में कहा गया था, भारत स्वतंत्र होगा तो बड़े उद्योग धंधों का राष्ट्रीयकरण हो जाएगा, वैसा तो कुछ नहीं हुआ, देशी पूंजी के साथ ब्रिटिश पूंजी सुरक्षित रही और ब्रिटिश पूंजी के बाद यहां अमरीकी पूंजी, कनाडा की पूंजी और न जाने कितने अन्य देशों की पूंजी बराबर आती रही। इस अंतर्राष्ट्रीय पूंजीवाद की भाषा अंग्रेज़ी है।

---

* आलोचक और चिन्तक

अंतर्राष्ट्रीय मुद्राकोष, विश्व बैंक जैसी संस्थाओं के द्वारा यह विश्व पूंजीवाद भारत के अर्थतंत्र को नियंत्रित करता है। अर्थतंत्र के अतिरिक्त वह यहाँ के सांस्कृतिक विकास को भी नियंत्रित करता है। इस विकास के लिए सबसे पहले सांस्कृतिक और राजनीतिक कार्यों में भारतीय भाषाओं का व्यवहार होना चाहिए। विभिन्न संपर्क के लिए हिन्दी का व्यवहार होना चाहिए। भारत में अनेक शिक्षा आयोग गठित किए गए। उन सब ने कहा कि शिक्षा का माध्यम भारतीय भाषाएं होनी चाहियें, परंतु विश्वविद्यालयों में उच्च शिक्षा का माध्यम अभी तक अंग्रेज़ी बनी हुई है। विद्वान अपने अखिल भारतीय सम्मेलन करते हैं तो वहाँ भाषण अंग्रेज़ी में करते हैं। उनके शोधपत्र अंग्रेज़ी पत्रिकाओं में प्रकाशित होते हैं। यदि उनके निबंध विदेशी पत्रिकाओं में प्रकाशित हों तो वे और भी सम्मानित समझे जाते हैं। लोग लाखों रुपए खर्च कर के विश्व हिन्दी सम्मेलन आयोजित करते हैं, वहाँ हिन्दी को विश्व भाषा बनाने का बीड़ा उठाते हैं। यदि वे केवल दिल्ली विश्वविद्यालय में हिन्दी को शिक्षा का माध्यम बना दें तो हिन्दी भारत की वास्तविक राष्ट्रभाषा और विश्व भाषा भी बन जाएगी। बड़े-बड़े पूंजीपतियों के राष्ट्रीय दैनिक अंग्रेज़ी में निकलते हैं। बहुराष्ट्रीय कंपनियों के दफ्तरों में सारा काम अंग्रेज़ी में होता है। विदेशी पूंजी के सहयोग से जो उद्योग लगाए जाते हैं, उनकी भाषा अंग्रेजी होती है। देशी, विदेशी कंपनियां बड़ी-बड़ी तनख्वाहें देकर नौजवानों को अपने यहाँ काम देती हैं। वह सारा काम उन्हें अंग्रेज़ी में करना पड़ता है। स्वभावतः जिन्हें अंग्रेज़ी में महारत हासिल है, वे चुने जाते हैं और तरक्की करते हैं।

भारत में अब भद्रलोग का ऐसा उच्च स्तर कायम हो गया है, जिसकी घरेलू भाषा अंग्रेज़ी है। इस स्तर के लड़के-लड़कियां अपने मां-बाप से अंग्रेज़ी में पत्र व्यवहार करते हैं। हिन्दी पर उन्होंने कृपा की तो उसके साथ अंग्रेज़ी मिलाकर बोलते हैं। दूरदर्शन तथा कुछ टी. वी. कंपनियों की यह सुविचारित नीति मालूम होती है कि आधी हिन्दी और आधी अंग्रेज़ी मिला कर बोलना चाहिए जिससे थोड़ा बहुत सब लोग समझ जाएं। ऐसे में कुछ लोग प्रश्न करते हैं कि हिन्दी में क्या है, उसे क्यों पढ़ा जाए, जो हिन्दी में लिखा जाता है, वह बहुत कुछ अंग्रेजी का अनुवाद होता है और यह अनुवाद ऐसा होता है कि उसके मुकाबले में अंग्रेज़ी आसान प्रतीत होती है। सरकार ने अनेक वर्षों तक बहुत सा रुपया खर्च करके पारिभाषिक शब्द गढ़े, हिन्दी में पारिभाषिक शब्द हैं या नहीं इसकी छानबीन किए बिना यह मानकर कि इनका अभाव है, उसमें नए शब्द गढ़ने के लिए

आयोजन किया। एक सरकारी हिन्दी बन गई जिसका व्यवहार कुछ विद्वान, पुस्तकें लिखने आदि के लिए करते हैं। वह जनता की भाषा से बहुत दूर है और हिन्दी के प्रचार-प्रसार में वह बहुत बड़ी बाधा बन गई है। किसी समय यह सिद्धांत माना गया था कि जो लोकप्रिय शब्द होते हैं, वे पारिभाषिक नहीं हो सकते इसलिए पारिभाषिक शब्द ऐसे होने चाहिए जो लोगों की समझ में न आएं। हिन्दी को संस्कृत की पुत्री मानने वाले यह सोचते थे, संस्कृत के जितने शब्द हिन्दी में आएंगे, वह उतनी ही समृद्ध होगी। परंतु उन्होंने हिन्दी में ऐसे पारिभाषिक शब्द रचे कि पाणिनि भी उन्हें समझ न सकते।

कहा गया कि पारिभाषिक शब्दों के बिना शिक्षा का माध्यम नहीं बनाया जा सकता। चिकित्सा विज्ञान, इंजीनियरी जैसे विषयों के बारे में यह बात समझ में आ सकती है, परंतु राजनीतिक पार्टियां अपने केन्द्रीय प्रचार कार्य में अंग्रेज़ी का व्यवहार क्यों करती हैं, यह समझ में नहीं आता। यहाँ पारिभाषिक शब्दों की ऐसी कोई विशेष समस्या नहीं है। यही राजनीतिक पार्टियां भारत का लोकतंत्र चलाती हैं। वे अपना केन्द्रीय कार्य अंग्रेज़ी में करेंगी तो स्वभावतः लोकतंत्र का संचालन भी ये अंग्रेज़ी में ही करेंगी। भारत को संसार का सबसे बड़ा लोकतंत्र कहा जाता है। यह संसार का अनोखा लोकतंत्र है जहाँ राजकाज की व्यावहारिक भाषा अंग्रेज़ी है। छोटा सा वियतनाम या उत्तरी कोरिया या क्यूबा साम्राज्यवाद से पीड़ित होने पर भी स्वाधीन होने पर अपने यहाँ की भाषाओं में ही सारा राजनीतिक और सांस्कृतिक काम करते हैं।

भारत के मज़दूर संघ तक केन्द्रीय दफ़्तरों में अखिल भारतीय कार्य के लिए अंग्रेज़ी का व्यवहार करते हैं। कुछ राजनीतिज्ञ राष्ट्रसंघ में जाकर हिन्दी बोलते हैं, परंतु भारत में विशेष अवसरों पर वे अंग्रेज़ी बोलते हैं। तमिलनाडु के नेताओं को अपने साथ लेना हो तो वे इस बात का विशेष ध्यान रखते हैं कि अंग्रेज़ी में ही बोलना चाहिए। भारत में तमिलनाडु जैसे बहुत से प्रदेश हैं जहाँ उनकी भाषाएं बोली जाती हैं। इसी तरह हिन्दी का अपना प्रदेश है बिहार, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, राजस्थान, हिमाचल प्रदेश, दिल्ली इन सब की राज्यभाषा हिन्दी है। इनसे मिलकर हिन्दी क्षेत्र या हिन्दी प्रदेश बनता है। अंग्रेज़ी के पत्रकार इस क्षेत्र की पहचान "काउबैल्ट", अधिक उदार हुए तो हिन्दी "हार्टलैंड" जैसे शब्दों से करते हैं। हिन्दी का यह अपना क्षेत्र साक्षरता में केरल जैसे राज्यों से बहुत पीछे है और औद्योगिक विकास में

महाराष्ट्र जैसे राज्यों से पीछे है। जिस प्रदेश की जनता निरक्षर और गरीब हो, स्वभावतः उससे और अधिक विकसित प्रदेशों के लोग घृणा से देखते हैं। वे प्रश्न करते हैं, ऐसे प्रदेश की भाषा को हम अपने राजकाज की भाषा क्यों बनाएं। आर्थिक और सांस्कृतिक पिछड़ेपन के अलावा यह प्रदेश राजनीतिक रूप से पिछड़ा हुआ है। अन्य प्रदेशों में उन्हें एकताबद्ध करने के लिए भाषावार प्रांत बनाने के आन्दोलन चलाए गए। यहाँ ऐसा कोई आन्दोलन नहीं हुआ। संयुक्त महाराष्ट्र आन्दोलन में जनसंघ और कम्युनिस्ट पार्टी दोनों एक साथ काम करते थे परंतु हिन्दी प्रदेश के मामले में कम्युनिस्ट पार्टी चुप रहती है और भारतीय जनता पार्टी सारे प्रदेश को एकताबद्ध करने के बदले यह सिद्धांत प्रतिपादित करती है कि उत्तर प्रदेश जैसे बड़े राज्य को छोटे-छोटे राज्यों में बांट देना चाहिए। उत्तराखंड और छत्तीसगढ़ को अलग राज्य का दर्जा देने के बारे में कांग्रेस और भारतीय जनता पार्टी में होड़ मची हुई है। यहाँ की जनता को साक्षर करने के लिए और इन क्षेत्रों का आर्थिक विकास करने के लिए, इन राजनीतिक पार्टियों में कोई प्रतिद्वन्द्विता नहीं है।

यह तर्क दिया जाता है कि सारे हिन्दीभाषी क्षेत्र को एक राज्य बना दिया जाए तो इतना बड़ा हो जाएगा कि उसका शासन चलाना कठिन होगा। यह बात बहुत अच्छी तरह से समझ में आती है। भारत हिन्दी क्षेत्र से बहुत बड़ा है, इसलिए उसका शासन चलाने में इन पार्टियों के नेताओं को और भी ज्यादा कठिनाई होती है। स्वभावतः आर्थिक मामलों के अलावा राजनीतिक मामलों में भी अमरीका जैसे देश दखल देने लगे हैं। हिन्दी के व्यवहार का प्रश्न गणतंत्र के राजकाज तक सीमित नहीं है, वह विभिन्न प्रदेशों की आवश्यकता से जुड़ा हुआ है। राजनीतिज्ञों और विद्वानों के अतिरिक्त विभिन्न प्रदेशों की सामान्य जनता आपस में मिलती-जुलती है। अधिकांश जनता अंग्रेजी नहीं जानती। इस मेलजोल के लिए वह हिन्दी का व्यवहार करती है। उच्च वर्गों से हट कर निचले स्तर पर व्यवहार में हिन्दी राष्ट्रभाषा है, पर उच्च वर्गों के लोग इस निचले स्तर के व्यवहार को ऊपर वाले स्तर पर लाना नहीं चाहते। वे अपना राजनीतिक और सांस्कृतिक काम अंग्रेज़ी में ही चलाना चाहते हैं।

इस स्थिति को निचले स्तर के लोग ही बदल सकते हैं। मध्यवर्ग के पढ़े-लिखे लोग, शहरों में काम करने वाले मजदूर, गांवों के गरीब किसान और खेतीहर मज़दूर मिलकर आन्दोलन करें तो वे वर्तमान व्यवस्था को बदल सकते हैं और

उसके साथ जो अंग्रेज़ी का प्रभुत्व निरंतर बढ़ता जा रहा है, उसे भी खत्म कर सकते हैं। गणतंत्र के 50 वर्ष बीतने पर मेरी यह कामना है कि हिन्दी प्रदेश की जनता संगठित हो। वह सबसे पहले अपने क्षेत्र में हर स्तर पर हिन्दी के व्यवहार को अनिवार्य करे। अपनी निरक्षरता और गरीबी दूर करने के लिए संघर्ष करे। शिक्षा संस्थाओं में हिन्दी को माध्यम बनाए। बिहार, मध्य भारत, और हरियाणा, इस त्रिकोण में सात राज्यों के कामकाज पर जो करोड़ों रुपया खर्च होता है, उसे बचाए, उसे विकास कार्यों पर खर्च करे। जनपदों को प्रशासन की बुनियादी इकाई बनाए। वहाँ की पंचायतों को विकास कार्यों की ज़िम्मेदारी सौंपे। अपने प्रदेश में हिन्दी के स्वत्व के लिए लड़ते हुए वह अन्य प्रदेशों की भाषाओं के स्वत्व के लिए भी लड़े। हिन्दी गणतंत्र की वास्तविक राजभाषा तभी बनेगी जब शासन की बागडोर देशी, विदेशी पूंजीपतियों के गठबंधन के हाथ से निकल कर किसानों और मज़दूरों के गठबंधन के हाथ में पहुँचेगी।

इस दिशा में जो भी प्रयत्न करें उनकी सफलता के लिए मेरी हार्दिक शुभकामना है।

परिचर्चा : संक्षिप्त विवरण

परिचर्चा : संक्षिप्त विवरण

पहला दिन : पहला सत्र

ओम प्रकाश केजरीवाल : इस दो-दिवसीय हिन्दी संगोष्ठी में आप सब का स्वागत है। इस विभाग के हमारे सहयोगियों ने बताया है कि यह पहली बार है जब किसी संगोष्ठी के अवसर पर हमने किसी प्रदर्शनी का भी आयोजन किया है। अब हम इस संगोष्ठी का आरम्भ करते हैं। इस पहले सत्र की अध्यक्षता नामवर सिंहजी करेंगे।

नामवर सिंह : मित्रों, हम सभी लोगों के लिए खुशी की बात है कि जवाहरलाल नेहरू के नाम से संबद्ध संग्रहालय और पुस्तकालय में पहली बार हिन्दी पर संगोष्ठी हो रही है। यद्यपि इस कक्ष की गोष्ठियों में मेरे जैसे कुछ लोग हिन्दी में पहले भी बोलते रहे हैं और उनमें से कुछ लोग आज भी यहाँ उपस्थित हैं। निदेशक डा. केजरीवाल को मैं सबसे पहले इसके लिए बधाई देना चाहता हूँ कि उन्होंने पहल की। यह विडम्बना कुछ वैसी ही है जैसी जवाहरलाल नेहरू के नाम पर स्थापित एक दूसरे विश्वविद्यालय में विदेशी भाषाओं का तो स्कूल था, लेकिन भारतीय भाषाओं का नहीं था। और इस असंगति को चार साल बाद दूर किया गया। 1974 में भारतीय भाषाओं का विभाग खुला। आरंभ में हिन्दी, उर्दू और कल्पना यह भी थी कि अन्य भारतीय भाषाएं भी होंगी। नहीं थीं, अभी तक नहीं हो सकी। काफी जद्दोजहद के बाद सुना है कि संस्कृत आरंभ होने जा रही है। इसलिए यह एक विडम्बना ही लगती है कि जवाहरलाल नेहरू के नाम से संबद्ध विश्वविद्यालय में या किसी संस्था में हिन्दी से सीधा रिश्ता न जुड़े। अब जुड़ रहा है, इससे जवाहरलाल नेहरू की छवि में भी मेरा ख्याल है परिवर्तन होगा। इससे देश की मनःस्थिति और संस्कृति में भी एक परिवर्तन का संकेत मिलता है। यहाँ उल्लेख करना ज़रूरी है कि गांधीजी के नाम से जुड़ी हुई संस्थाओं में यह बात नहीं है। गुजरात विद्यापीठ जो स्वयं गांधीजी ने स्थापित किया था उस विद्यापीठ में आरंभ से ही हिन्दी विभाग था और वह आज भी है। यही नहीं बल्कि वहाँ कुछ दिनों से हिन्दुस्तानी की पीठ भी स्थापित हुई है और उस पर एक सज्जन काम कर रहे

हैं। इसलिए गांधीजी के नाम से स्थापित संस्थाओं के साथ यह विडम्बना दिखाई नहीं पड़ती। जवाहरलाल के साथ दिखाई पड़ती है और इससे जवाहरलाल को देखने वाले लोगों की दृष्टि का पता चलता है। स्वयं जवाहरलाल के बारे में कितना पता चलता है यह तो मैं नहीं कह सकता। इसलिए इस संग्रहालय के इतिहास की भी यह एक महत्त्वपूर्ण घटना है। चूंकि इस संस्था में इतिहास मुख्य विषय रहा है इसलिए इतिहास की दृष्टि से भी इसे परिवर्तन का संकेत माना और समझा जा सकता है और इतिहास संबंधी कार्यों में भी संभव है कि इस दिशा में कोई प्रगति होगी।

आरंभ में मैं अधिक समय न लेकर यह कहूँगा कि दो दिनों की संगोष्ठी में निश्चय ही खुलकर विचार व्यक्त किए जाएंगे और सिर्फ आलोचनाएं ही नहीं होंगी, यद्यपि उनकी भी जरूरत है। बिना निर्मम समीक्षा के, दशा जब तक हम लोग नहीं जानेंगे, तब तक दिशा की बात क्या करेंगे? इसलिए दशा की गहरी समीक्षा होनी चाहिए और दशा के कारणों पर नहीं बल्कि बुनियादी कारण पर उंगली रखनी चाहिए। अनेक लोगों को दोषी ठहराने के साथ-साथ उस मुख्य बुनियादी, केवल व्यक्ति नहीं, संस्थागत, व्यवस्था-संबंधी कौनसी दिक्कत है, इस पर उंगली रखी जानी चाहिए, ऐसा मेरा ख्याल है। मुझे उम्मीद है, वक्तागण प्रयास करेंगे कि वह दिशा क्या होगी। महादेवीजी की एक कविता है – 'आज विदिशा ही दिशा है'। तो ऐसा न हो कि दिशा ढूंढने निकलें और विदिशाएं ही दिखाई पड़ें, दिशा भूल जाएं। मुझे उम्मीद है कि हिन्दी के लेखकों, बौद्धिकों, साहित्यकारों और हिन्दी के शुभचिंतकों, प्रेमियों के बीच में इन दोनों पक्षों पर ध्यान रहेगा। इस प्रथम संगोष्ठी सत्र में दो वक्ता हैं। सबसे पहले अपने प्रिय मित्र डा. विश्वनाथ त्रिपाठी से निवेदन करता हूँ कि 'भारतीय गणतंत्र में हिन्दी आन्दोलन' विषय पर अपना वक्तव्य प्रस्तुत करें। प्रत्येक निबंध पर थोड़ी चर्चा होगी, उसके बाद दूसरा निबंध पढ़ा जाएगा। विश्वनाथ जी।...

आलेख पाठ : विश्वनाथ त्रिपाठी

चर्चा

आई. पी. तिवारी : मैं अभी एक 'डॉक्यूमेन्ट' देख रहा था। डा. राजेन्द्र प्रसादजी ने भाषा के संबंध में एक कमीशन स्थापित किया था 1955 में। मैं समझता हूँ 'एग्जेक्ट डेट' हमारे पास इसकी है, वह 'कमीशन अपाएंट' हुआ था 7 जून, 1955 को। उसके अध्यक्ष थे बी.जी. खेर। किसी भी भाषा का कोई ऐसा जानने वाला या माननीय

भाषाविद् नहीं था जो उसका मेंबर नहीं था। हिन्दी के सारे जाने-माने लोग थे। उसके साथ-साथ डा. सुनीति कुमार चटर्जी थे, डा. शुभनारायण थे। कहने का मतलब भाषा के क्षेत्र में काम करने वाले विद्वानों में कोई ऐसा नहीं था जो उस कमीशन का मेम्बर नहीं था। उस कमीशन की रिपोर्ट 1957 में आई थी और यह कमीशन 'अपाएंट' किया गया था यह पता लगाने के लिए कि हिन्दी के प्रचार-प्रसार के लिए क्या-क्या कदम उठाए जाएं और कैसे उठाए जाएं। इसी कमीशन की मेम्बरशिप के पहले डा. सुनीति कुमार चटर्जी भी इसके लिए बहुत 'फेवरेबली इनक्लाइंड' थे। रवीन्द्रनाथ टैगोर के साथ वह भी कहते थे कि हिन्दी देश की भाषा हो, लेकिन उस कमीशन की रिपोर्ट में डा. सुनीति कुमार चटर्जी ने 'नोट ऑफ डिसेन्ट' दिया और वह 'नोट ऑफ डिसेन्ट' बहुत 'टेलिंग' है। मैं उसके कुछ 'पोर्शन' आपके सामने लाना चाहूँगा। उस 'नोट ऑफ डिसेन्ट' में उन्होंने लिखा कि – उत्तरी भारत के लोग जो ब्रज, अवधी, राजस्थानी, गढ़वाली इत्यादि अलग-अलग भाषाओं के बोलने वाले हैं, पहले उर्दू के साथी हुए, फिर उन स्थानों में जहाँ पहले अंग्रेजी के स्कूल खुले और फिर खड़ी बोली का साथ देने लगे क्योंकि उनकी अपनी भाषाओं में गद्य का विकास नहीं हुआ था। इसलिए उन्हें जो भाषा शहरों के स्कूलों में सिखाई गई वह सीख ली। अब उन्होंने अपने मन को ऐसा बुझा लिया है कि वे हिन्दीभाषीजन हो गये हैं। इसलिए खड़ी बोली, जो स्कूल की भाषा है, उसे पढ़-लिखकर समझते हैं कि वे घरेलू बोलियों को हिन्दी की बोली मानने लगे हैं। असल में वे अपनी घरेलू भाषाओं का, जो उनकी मातृभाषाएं हैं, गला घोंट रहे हैं। 'स्ट्रेंग्यूलेट' शब्द उन्होंने अंग्रेजी में कहा था और यह अनुवाद, जो मैं आपके सामने पढ़ रहा हूँ, डा. ताराचन्द का है। उन्होंने 'स्ट्रेंग्यूलेट' शब्द का इस्तेमाल किया है, गला घोंट रहे हैं। वे उस हिन्दी को अपना रहे हैं जो पश्चिमी उत्तर प्रदेश, पूर्वी पंजाब, मध्य भारत, मध्य प्रदेश और राजस्थान के कुछ अंशों की बोली है। वे लोग जो घरों में दूसरी बोलियां, मसलन राजस्थानी, अवधी, बघेली, भोजपुरी, यहाँ तक कि मैथिली और मध्य पहाड़ी बोलते हैं और जो असली हिन्दी और संस्कृत की परंपरा से अभिन्न हैं, हिन्दी के निर्माण में हाथ बटा रहे हैं। नतीजा यह है कि भाषा के क्षेत्र में अराजकता फैल रही है, जिसे भारत में फैलाने की कोशिश हो रही है। लोग इस भाषा को कबूल करने के लिए तैयार नहीं हैं, विशेषकर उस दशा में जब हिन्दी को बलपूर्वक बढ़ाने का प्रयत्न किया जा रहा है। यह डा. चटर्जी का 'नोट ऑफ डिसेन्ट' है।

अब प्रश्न यह उठता है कि वह हिन्दी जिसने इन भाषाओं को जिनके आधार पर वह बड़ी है, 'स्ट्रेंग्थ्यूलेट' किया है, जैसा कि सुनीति कुमार चटर्जी ने कहा है, तो दूसरी भाषाओं को क्यों नहीं करेगी। दूसरी बात, हर भाषा का एक चरित्र होता है जिसको अंग्रेज़ी में 'आईडेंटिटी' कहते हैं, पहचान, वह हिन्दी जिसको हम लिखते या पढ़ते हैं, उसकी कोई पहचान नहीं हो पाई है। इसलिए कि इसका कोई आधार नहीं बन पाया है। आपको आश्चर्य होगा कि पहचान अवधी की है, ब्रज की है, लेकिन हिन्दी की कोई पहचान नहीं हो पाई। मैं बहुत समय नहीं लूंगा, समाप्त करना चाहूँगा इस 'रिक्वेस्ट' के साथ कि यह ऐसा मौका है कि डा. सुनीति कुमार चटर्जी की 'वार्निंग', अपना अनुभव और जो इस समय स्थिति है, मैं समझता हूँ कि हम इन भाषाओं को जिनको हम अवधी या ब्रज आदि कहते हैं, 'इगनोर' करके हिन्दी का अहित करेंगे। अगर इनको हम सशक्त बनाएं तो मैं समझता हूँ कि एक नया साहित्य आएगा, एक नई चेतना आएगी और वह चेतना उन लोगों की होगी जो बेचारे इस समय गांव के स्कूल में भी नहीं जा पाते हैं। अगर आप उनको अवधी में शिक्षा देंगे तो देखेंगे कि एक नई पौध आएगी और उसमें नई चेतना का जागरण होगा जो हिन्दी के लिए भी बहुत लाभकारी होगा।

नामवर सिंह : धन्यवाद तिवारीजी। तो हिन्दी के प्रश्न के साथ आपने रखा कि बोलियों की समस्या भी महत्त्वपूर्ण है, अवधी आदि बोलियों की ओर ध्यान दिया जाए, सुनीति कुमार चटर्जी का प्रमाण मानते हुए। त्रिपाठीजी जिन्होंने पहला वक्तव्य दिया है, उनके उठाए हुए किसी एक बिन्दु पर आप टिप्पणी करें तो फिर सच्चे अर्थों में, तिवारीजी जैसा कह रहे थे 'कम्युनिकेशन' होगा, उन्होंने तो संप्रेषित कर दिया, अब आप भी संप्रेषित कीजिए।

र. शौरिराजन : मैं डेढ़ बिन्दु लूँगा। आधा बिन्दु यह कि सुनीति कुमार चटर्जी के विचार को प्रामाणिक न माना जाए। मैं चेन्नई से आया हूँ। मैं तमिल भाषी हूँ। और हिन्दी भाषी भी हूँ। सुनीति कुमार चटर्जी और कालदेव ने भाषाओं में भेद और दुश्मनी पैदा करने के काफी विचार व्यक्त किए हैं। सुनीति कुमार चटर्जी ने पूरे भारत के लिए हिन्दी ही एक संपर्क भाषा है, यह भी कहा था और तमिल को दबाने में संस्कृत का योगदान है, यह भी कहा था। वह बड़े विद्वान हैं, विद्वानों का यह जो चरित्र है, उसको हम मान्यता न दें।

दूसरी बात, गांधीजी की निर्माणात्मक कार्यपद्धतियों में हिन्दी के प्रचार को भी उन्होंने स्वीकृत कराया था। पूरे दक्षिण में खादी प्रचार और अस्पृश्यता निवारण आदि जितनी भी निर्माणात्मक योजनाएं थीं, उनमें हिन्दी प्रचार भी एक थी। पूरे दक्षिण में हर साल जितने भी कांग्रेस के अधिवेशन हुए थे, उनमें दो दिन हिन्दी के होते थे। वहाँ पूरे सत्र में कांग्रेस की जो प्रांतीय सभाएं होती थीं और जिलावार सभाएं होती थीं, उनमें एक दिन राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी के लिए होता था। अभी हमारे विद्वान ने कहा था कि हिन्दी की अस्मिता नहीं है। हिन्दी की अस्मिता है, पूरी भारतीयता की अस्मिता है। हम हिन्दी को केवल अवधी आदि की भाषा नहीं मानते हैं, पूरे भारत की भाषा मानते हैं। उसमें जो भी अपने को भारतीय मानते हैं वे सब हिन्दी भाषी हैं, भले ही उनको हिन्दी न आए। हिन्दी चाहने वाले, हिन्दी बोली सीखने वाले, उन सबको हम हिन्दी भाषी मानते हैं इसलिए हिन्दी की पहचान है।

मृणाल पाण्डे : अभी त्रिपाठीजी ने कहा कि नारी चेतना और दलित चेतना दो ऐसे पहलू हैं जो हिन्दी के बारे में बहुत कुछ दूसरे ढंग से सोचने को बाध्य करते हैं। पिछले डेढ़ वर्षों में मैंने एक निर्णय लेकर हिन्दी के और पत्रकारिता के सभी औपचारिक मंचों से अपने को काटकर स्त्रियों की स्थिति और हिन्दी की स्थिति के बारे में समवेत रूप से सोचा है। मुझे तिवारीजी की बात सुनते हुए शरद यादव याद आने लगे। क्योंकि आपको याद होगा जब 33 प्रतिशत आरक्षण का बिल संसद में पेश किया गया तो शरद यादव ने अचानक चिंता व्यक्त की। उनकी चिंता में बहन उमा भारती भी शामिल हुईं कि परकटी महिलाओं का इससे सशक्तिकरण होगा। पिछड़ी, दलित महिलाएं और बहुत सारी महिलाएं उनको याद आने लगीं। बहरहाल इस वक्त जब इनको याद आईं तो वह बिल को रुकवाने के लिए। यह एक ऐसा चौखटा है जिसका सीधे हिन्दी की स्थिति से, भारतीय भाषाओं की स्थिति से सरोकार जुड़ता है।

मुख्य चीज जैसे नारी सक्षमतात्मक पहलू है नारीवादी आन्दोलन का, वह स्त्री को, जैसा कि त्रिपाठीजी ने अभी कहा, पुरुष की जगह नहीं रखना चाहता है और न ही वह स्त्री को आततायी रूप देकर शक्तिकरण चाहता है। ऐसे ही हिन्दी का भी वह आततायी रूप हम क्यों सोचते हैं। मेरे ख्याल से डा. चटर्जी और उनके सोच में जो थोड़ा बहुत मैंने उनका लिखा हुआ पढ़ा है, यह एक भ्रांति है कि हिन्दी अंग्रेज़ी

का विकल्प बनकर आएगी। जैसे शरद यादव को यह लगा कि अगर स्त्रियां पार्लियामेंट में आएंगी तो वही बालकटी महिलाएं आएंगी जो पुरुषों की तरह बोलती हैं और खासकर सवर्ण पुरुषों की तरह बोलती हैं। जिस मानदंड से श्री तिवारी ने कहा, शायद मेरी भी मातृभाषा हिन्दी न कही जा सके, लेकिन मैं ऐसा नहीं मानती। घर में हम लोग कुमाऊंनी बोलते हैं। अपनी मां से आज तक मैंने हिन्दी में बात नहीं की है। उनसे मैं सहज सिर्फ कुमाऊंनी में ही बोल पाती हूँ।

संक्षेप में मैं यह कहना चाहती हूँ कि जो भी हो यह सिर्फ स्त्रियों की ही, हिन्दी या बोली की ही बात नहीं है। किसी भी शक्ति का जो तंत्र होता है वह अपने आप में अकेले काम नहीं करता है। समाज में भी, अर्थजगत में भी, राजनीति में भी उसके बहुत सारे समानांतर तंत्र होते हैं जो लगभग उसी सोच के तहत अपने हाथ में शक्ति रखते हैं। उन शक्तिमंत्रों के बीच एक शक्ति तंत्र कायम हो जाता है जो अन्योन्याश्रित होता है और इसलिए यथास्थिति को बनाए रखना चाहता है।

मुझे लगता है कि मूलतः हमें इसके बारे में सोचना चाहिए कि जो वर्ग अब तक किन्हीं कारणों से समाज के लिए बहुत उपादेय रहा है लेकिन राजनीतिक या शक्ति के कारणों से उसको अब परोक्ष में रखना अनिवार्य है तो उसके बारे में बहुत सारी भ्रांतियां कायम की जाती हैं, बहुत सारी भ्रांतियों को पैदा किया जाता है। इसमें वे वर्ग आसानी से 'कोआप्ट' हो जाते हैं जिनका हित शक्ति तंत्र से जुड़ा हुआ है। मेरे ख्याल से हिन्दी के बारे में बात करते समय यह एक बहुत महत्त्वपूर्ण पहलू है।

अनिरुद्ध देशपाण्डे : मैं इतिहास का छात्र हूँ और त्रिपाठीजी से एक छोटा-सा सवाल पूछना चाहूँगा। अभी त्रिपाठीजी हिन्दी की बात कर रहे थे तो मेरे दिमाग में एक छोटी-सी बात उभरी कि जिस हिन्दी की बात की जा रही है या जिस हिन्दी के लिए गोष्ठी आयोजित की गई है उसकी परिभाषा क्या है? हिन्दी से हमारा मतलब क्या है?...

विश्वनाथ त्रिपाठी : मैं परिभाषा तो इस समय नहीं दे सकता लेकिन यह बता सकता हूँ कि आप जो जबान बोल रहे थे आप हिन्दी बोल रहे थे।

नामवर सिंह : अब दूसरा पर्चा पढ़ा जाएगा जिसका विषय है, "हिन्दी का भूमण्डलीकरण"।

आलेख पाठ : विमलेश कान्ति वर्मा

चर्चा

नामवर सिंह : विमलेश कांतिजी ने जो मुद्दे उठाए हैं मेरी समझ में उनमें दो-तीन तथ्य ऐसे दिखाई पड़ रहे हैं जिन पर बातचीत की जा सकती है। एक तो यह कि देश के बाहर विश्व में, अन्य देशों में, हिन्दी पढ़ाई जा रही है और हिन्दी पर शोध कार्य भी हो रहा है, एक प्राच्य विद्या और विभाग के रूप में, अध्ययन के रूप में। हिन्दी का एक पहलू है, उसकी क्या स्थिति है और उसका क्या असर हमारे ऊपर हो रहा है। लेकिन दुनिया में, हिन्दी भाषा और साहित्य पर बाहर जो कुछ अध्ययन और शोध हो रहा है उसका असर यहाँ क्या पड़ रहा है, वे हमें किस रूप में देखते हैं, इस पहलू पर भी चर्चा की जानी चाहिए। स्वयं उसका स्थान उनके विश्वविद्यालयों में क्या है, किस दृष्टि से हिन्दी का विभाग देखा जाता है, जो चल रहा है और जो काम हो रहा है, उनकी नजर में वह क्या है, इस पर भी मैं समझता हूँ, विचार होना चाहिए।

दूसरा यह है कि मॉरीशस, सूरीनाम, फीजी आदि देशों में जो भारत मूल के लोग हैं वे कुछ साहित्य लिख रहे हैं। रचनात्मक साहित्य भी लिखते हैं, कविता, कहानी, उपन्यास भी लिखते हैं। उनकी किताबें यहाँ छपती हैं। कुछ पत्रिकाएं भी निकालते हैं। उनके बारे में यहाँ के लोगों की क्या दृष्टि है और स्वयं वे क्या उम्मीद उनसे रखते हैं, एक पहलू यह भी है।

एक और पहलू है, वह यह कि थोड़े-बहुत अनुवाद पहले भी होते रहे हैं, लेकिन इधर अनुभव किया जा रहा है कि हिन्दी साहित्य का अनुवाद केवल अंग्रेज़ी में ही नहीं बल्कि विश्व की अन्य भाषाओं में भी हो रहा है और अनुवादों के माध्यम से हमारी कविता-कहानियां, हमारे उपन्यास, जो प्रकाशित हो रहे हैं, उसके बारे में वहाँ क्या 'रिएक्शन' है, किस रूप में उसे ग्रहण किया जा रहा है? और यह जो चुनाव हो रहा है, अनुवाद करने के लिए, इसको चुनने वाले वे हैं या हम? जो चुने जा रहे हैं वे किस हद तक हिन्दी साहित्य और हिन्दी भाषा का पूर्ण रूप से प्रतिनिधित्व करते हैं।

चौथा पहलू यह है, कि इन अनुवादों के अलावा उपनिवेशवादी दौर से हिन्दी-उर्दू का रिश्ता, हिन्दी का अन्य भारतीय भाषाओं से रिश्ता, हिन्दी का अपनी बोलियों से रिश्ता क्या है? हिन्दुस्तानी क्या है? अंग्रेज़ी राज के बाहर अमेरिका या फ्रांस या

जर्मनी के लोग, रूस, चीन के लोग, जापान के लोग हिन्दी भाषा को किस रूप में देखते हैं? जो परिभाषा आप पूछ रहे थे हिन्दी भाषा की, सीधे शब्दों में मैं कहना चाहता हूँ कि 'ओरिएंटलिज़्म' का क्या रुख रहा है हिन्दी भाषा के बारे में और भारत के बारे में? 'पोस्ट ओरिएंटलिज़्म' या 'पोस्ट कॅलोनियलिज़्म', हिन्दी भाषा के बारे में क्या ख्याल रखता है, उसकी क्या राजनीति है, क्या भाषा-वैज्ञानिक समझ है। भूमण्डलीकरण की चर्चा करें और 'ओरिएंटलिज़्म', 'पोस्ट कॅलोनियलिज़्म' की बात न करें तो भूमण्डलीकरण का कोई मतलब रह नहीं जाता है। एक यह भी पहलू है, जिस पर हमारा ध्यान जाना चाहिए। मैं उस बड़े पहलू को छोड़ देता हूँ कि स्वयं हम, हमारे राजदूत और हमारा विदेश मंत्रालय इसमें क्या और कैसी भूमिका अदा कर रहा है, अपनी राजभाषा के प्रति विदेशों में इनका क्या रुख है। मेरा ख्याल है कि भूमण्डलीकरण के संदर्भ में ये कुछ ऐसे विषय हैं जो आते हैं, कुछ और होंगे जो छूट गए हैं मुझसे या विमलेश कांतिजी से, तो मेरा ख्याल है उसे भी चर्चा के केन्द्र में लाया जा सकता है। श्री विष्णु खरे, चूंकि विश्व हिन्दी सम्मेलन पर उन्होंने काफी लिखा है, तो उन्हें बोलने का पहला हक है।

विष्णु खरे : बात सिर्फ विश्व हिन्दी सम्मेलन की नहीं है। उसके बारे में तो मैं कल बोलूँगा। लेकिन 1971 में मैं पहली बार विदेश गया था और पच्चीस महीने चेकोस्लोवाकिया में रहा। वहाँ मैंने कुछ महीने हिन्दी पढ़ाई। हालांकि न तो मैं हिन्दी का विद्वान हूँ और न प्राध्यापक। मैं 'विदेशों में हिन्दी' के बारे में कुछ कहना चाहूँगा, क्योंकि पिछले कुछ वर्षों से प्रायः हर वर्ष मेरा यूरोप जाना हुआ है और जब भी मैं यूरोप गया हूँ तो कम से कम जर्मनी में मैंने हिन्दी विभाग में भाषण दिया है। जर्मनी का साउथ एशिया इंस्टीट्यूट शायद संसार का सबसे बड़ा केन्द्र है भारतीय भाषाओं को पढ़ाने का। इसलिए मैं कह सकता हूँ कि कुछ बातें जो मुझे मालूम हैं, वे गलत नहीं हैं। वैसे मेरा संपर्क वारसा से भी रहा, हंगरी से भी, रोम से भी, फ्रांस से भी और अभी-अभी मॉस्को से। जिसको 'बिग पिक्चर' कहते हैं, उसका एक अंश मैं आपको दे सकता हूँ।

सबसे पहले मैं बात करूँगा हिन्दी अध्ययन की जिसे सबसे बड़ा झटका पहुँचा है – जिस पर हमारा कोई वश नहीं था – वह है सोवियत संघ का विघटन। सोवियत संघ ने अपने अस्तित्व के करीबन चालीस साल लगातार हिन्दी ही नहीं अन्य भारतीय भाषाओं में अनुवाद किए, करवाए। उन्होंने मॉस्को में दो प्रकाशन गृह खोले और

सैकड़ों पुस्तकें साहित्य और गैर साहित्य की हिन्दी में लाए जो इतनी सस्ती थीं कि वाकई मिट्टी मोल हुआ करती थीं। जब मैं कॉलेज में पढ़ता था तो बारह आने में टॉलस्टॉय का *वार एण्ड पीस* खरीदना संभव था जो रूस में छपा हुआ था। मैं समझता हूँ कि रूसी लोग 250-300 पुस्तकें या इससे भी ज्यादा, अनूदित करके हिन्दुस्तान लाए। इसी तरह उन्होंने हमारे यहाँ के साहित्य का भी रूसी में अनुवाद किया। चूंकि वह एक समाजवादी दृष्टि का अनुवाद था, ज़ाहिर है बहुत सारा कूड़ा भी उन्होंने अनुवाद किया और कुछ अच्छा भी किया। लेकिन अब हालत यह है कि अभी सितंबर में जब मैं लंदन से लौट रहा था और मॉस्को जाकर इन पुस्तकों के कॉपीराइट प्राप्त करना चाहता था, तो मालूम यह हुआ कि कुछ हिन्दी पुस्तकों की जो बाकी प्रतियां थीं, वे गोदाम के अभाव में जला दी गईं। अब उनकी दिलचस्पी न सिर्फ हिन्दी में, बल्कि किसी भी भारतीय भाषा में नहीं है। वे हिन्दी का नाम यदि सम्झ लेते हैं तो सुनना भी नहीं चाहते हैं। उनका यह मानना है कि उनके साथ यहाँ के प्रकाशकों ने खासकर, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस वालों ने काफी बेइमानी की है। अभी भी उनकी कुछ किताबें कॉपीराइट के बिना गैरकानूनी ढंग से छप रही हैं और बेची जा रही हैं। लेकिन उससे हुआ क्या है कि जो सैंकड़ों की तादाद में रूस में हिन्दी के अध्यापक थे और हज़ारों की तादाद में रूस में हिन्दी के विद्यार्थी थे सब बेकार हो गये। और सोवियत दूतावास यहाँ से कई पत्रिकाएं हिन्दी में निकालता था और वहाँ से भी निकालता था, वे सारी बंद हो गईं। अब उन्हें पुनः निकालने की कोई योजना नई रूसी सरकार की नहीं है।

अब हम जर्मनी में आते हैं। एक भारतीय गुलाबी चित्र खींचा जाता है कि हिन्दी की पढ़ाई 233 या 243 विश्वविद्यालयों में हो रही है तो हम क्या पाते हैं? मैं देख रहा हूँ पिछले अट्ठाइस साल से कि हिन्दी के पढ़ाने में और हिन्दी के छात्रों में निरंतर एक घटाव आया है। मैं जब 1973 में पहली बार जर्मनी गया था डा. लोठार लुत्से के निमंत्रण पर तो मेरी कविताएं सुनने के लिए एक पूरा हाल भरा हुआ था। अब हालत यह है कि हिन्दी को किसी अन्य विषय के साथ पढ़ाया जाने लगा है और हिन्दी के विद्यार्थियों की संख्या निरंतर हर जगह घट रही है। कोई हिन्दी क्यों पढ़े? इंडोलॉजी तो बहुत बड़ा विषय है, इंडोलॉजी के तो हज़ारों विद्वान और लाखों छात्र होंगे। भारतीय विद्या में एक हिस्सा है हिन्दी, उसमें भी हिन्दी भाषा ऊपर है और हिन्दी साहित्य नीचे है। कोई विदेशी हिन्दी साहित्य क्यों पढ़े? हिन्दी भाषा पढ़े इतना ही ठीक है। लेकिन हुआ क्या है कि चूंकि 1950-60 में एक आदर्शवाद

पूरे संसार में था कि हिन्दी भारत की राष्ट्रभाषा यदि नहीं बनी है, तो बन जाएगी और उसके बिना हमारा काम नहीं चलेगा। जैसे रूस में जब मैं एअरपोर्ट पर गया तो उनके सारे फार्म रूसी में थे, उन्होंने यह कृपा की थी कि एक फार्म छापकर भर रखा था कि इस रूसी 'क्विअरी' के आगे आपको यह लिखना है। वहाँ न तो कोई बताने वाला था और न कोई अंग्रेज़ी बोलने वाला था। मैं ऐसे कई वरिष्ट डिप्लोमेट्स को जानता हूँ जिन्होंने भारत आने से पहले बहुत मेहनत करके हिन्दी सीखी, लेकिन एअरपोर्ट पर उतरते ही उनका मोह भंग हो गया, जब टैक्सी वाले ने भी उनसे हिन्दी बोलने से इन्कार कर दिया। गोरी चमड़ी देखकर तत्काल हम समझते है कि अरे हम क्या कुछ कम अंग्रेज़ी जानते हैं, गोरा हम से हिन्दी क्यों बोल रहा है। तो निरंतर विदेशी विद्वानों द्वारा यह देखा गया कि हिन्दी के बिना काम खूब चलता है, क्योंकि हिन्दी में बोलना या लिखना एक अपमान की बात है। मैं हिन्दी के साहित्यकारों, विद्वानों की बात नहीं कर रहा। विदेशी, मैं एक आम विदेशी की बात कर रहा हूँ।

अब चूंकि आपके यहाँ हिन्दी की कोई कद्र नहीं है, तब कोई बेचारा जर्मन नौजवान या नवयुवती हिन्दी पढ़कर क्या करेगा? यदि आपकी मातृभाषा होती और आपकी एंबेसी में हिन्दी ही बोली जाती तो झख मारकर जर्मन को, फ्रेंच बोलने वालों को, इटेलियंस को सबको हिन्दी सीखनी पड़ती, जैसे कि चीन में बोलनी-सीखनी पड़ती है। हमारे मित्र कृष्णदत्त पालीवालजी जो जापान में हिन्दी पढ़ा रहे हैं, अभी आए थे। उन्होंने कहा कि मैं 'सर्वाइव' नहीं कर सकता, बिना जापानी जाने, भूखा मर जाऊँगा। मैं कहीं खो जाऊँगा, जैसे केदारनाथ सिंह पिछले साल मॉस्को में खो गए थे। कोई इंगलिश नहीं बोल-समझ रहा था।

यदि आपके देश में विदेशियों के लिए, हिन्दी सीखे विदेशियों के लिए कोई अवसर नहीं है तो ऐसे लोगों के लिए उनके देश में भी कोई अवसर नहीं है। आपका कोई डेलीगेशन गया हो और सब लोग सिर्फ हिन्दी बोलते हों तो यहाँ काम मिलेगा, नहीं तो काम कैसे चलेगा। यदि आपका साहित्य इतना समर्थ, आपकी भाषा इतनी संपन्न हो कि उसके बिना दुनिया का काम न चलता हो तो कोई सीखे। गरीब रूसी, अजरबेजानी, इरानी जो अंग्रेज़ी नहीं जानते वे यहाँ आकर अंग्रेज़ी सीखते है, क्योंकि यहाँ अंग्रेज़ी सीखने की बहुत अच्छी सुविधाएं हैं। इसलिए यह कहना कि विदेशों में बहुत हिन्दी सीखी जा रही है और लोग विश्वविद्यालयों की खिड़कियां तोड़ रहे हैं,

कहाँ है हिन्दी का कोर्स, तो ऐसा कुछ नहीं है, इससे उल्टा है। कम से कम छात्र हिन्दी सीख रहे हैं, दूसरी बोलियों में जा रहे हैं, जैसे बंगला, चूंकि बंगला भाषी अपनी भाषा से प्रेम करता है, वह बंगला के सिवा कुछ बोलता नहीं है। जो विदेशी कलकत्ता जाएगा तो वह सीखेगा बंगला और बंगला बोलने में उसे मज़ा आएगा, क्योंकि लोग बोलते हैं, जवाब देते हैं। मराठी भाषी मराठी बोलता है, मलयाली मलयालम बोलेगा, हिन्दी भाषी ही एक ऐसा वर्ण संकर है, जो हिन्दी बोलने में लज्जित महसूस करता है।

रही बात अनुवादों की, यह भी एक मिथक है कि बहुत अनुवाद हो रहा है हिन्दी से। कुछ नहीं हो रहा है। अभी नमिता गोखले लौटी है फ्रैंकफुर्त बुक फेअर से, परसों उनका लेख छपा है *हिन्दुस्तान टाइम्स* में। पीटर व्हाइटहाउस नाम का हमारा परिचित फ्रैंकफुर्त बुक फेअर का चीफ है, जिसने कि तीसरी दुनिया के साहित्य का वहाँ एक 'विंग' खोल रखा है। वह कहता है कि कोई अनुवाद नहीं होता आपके यहाँ से। हम दुकान खोले बैठे हैं, आपके ग्राहक नहीं आते। मैं फ्रैंकफुर्त बुक फेअर में 1986 में गया था, डेलीगेशन में था, तब से उनका रोना है। जो अनुवाद हिन्दी से हुए हैं उनका एक भुक्तभोगी मैं भी हूँ। मैंने और लोठार लुत्से ने मिलकर हिन्दी के नवीनतम कवियों का, निराला से शुरू करते हुए और असद ज़ैदी तक का एक संग्रह जर्मन में तैयार किया। उसको हमने बहुत प्यार से छापा। लोठार लुत्से ने अपनी जेब से पैसा लगाकर एक अनुवाद शृंखला खोली, उसका नाम था *नोइए इंडिशे बीब्लीथेक* यानी 'नया भारतीय पुस्तकालय'। उसने अपने पैसे से 7 किताबें छापीं – अज्ञेयजी को छापा, रेणु को, राकेश को छापा, और अन्य बीस कवियों को छापा। हालत यह है कि आज उस संग्रह को छपे सत्रह साल हो गए, वह संग्रह पूरा नहीं बिका। उस संग्रह के दो रिव्यू हुये। यह बड़ा 'सिंबालिक' है कि उसको छापने वाला प्रकाशक कैंसर से मर गया। उसके बाद हमने वे पुस्तकें – एक बहुत प्रतिष्ठित कवि है स्विटजरलैंड के, उनका प्रकाशन गृह है – उनको दीं कि ये 300-400 किताबें बची हुई हैं आप बेचिए। वह ले गए शौक से। वह भी नहीं बेच पाए। हालत यह है कि वे किताबें मुफ्त में बांटी जा रही हैं। अज्ञेयजी का दूसरा संस्करण नहीं हुआ। उपन्यास तक के दूसरे संस्करण नहीं होते, कम से कम जब तक साम्यवाद था, पुस्तकें हाथों हाथ बिक जाती थीं। लेकिन अब इन्हें बेचना, अनुवादों को बेचना, अनुवाद करवाना आसान नहीं है। एक और चक्कर यह है कि जैसे आप इंगलैंड को लें, पता नहीं क्या बात है कि वर्तमान हिन्दी साहित्य को लेकर एक चिढ़-सी है। यह अकारण नहीं

है कि स्पर्ट स्नेल ब्रज मे दोहे लिखते हैं, यह अकारण नहीं है कि इमरे बांगा जिन्होंने घनानंद पर काम किया है, उन्हें पढ़ाने का काम मिलता है। लेकिन आधुनिक समसामयिक हिन्दी साहित्य का जो रोने वाला था जर्मनी में एकमात्र लोठार लुत्से, वह रिटायर हो गया। एकाध कोई अनुवाद छप जाता है रोम में, इटली में। एक डेविड स्वेिन बैठा हुआ है अमेरिका में, जो निराला का अनुवाद कर रहा है, जिसके बारे में हम जानते ही नहीं है, हमने पढ़ा ही नहीं है निराला का अनुवाद। उसने अपना जीवन खपा दिया निराला का अनुवाद करते हुए। हम नहीं जानते डेविड स्वेिन को।

यह तो हिन्दी की स्थिति है, जिसे लेकर मैं कतई रूमानियत में नहीं पड़ना चाहता। नाम लिया गया ओदोलेन स्मेकल का। जो लोग हिन्दी बंशी हैं जैसे अभिमन्यु अनत हैं, वह हिन्दी लिखते हैं। हिन्दी उपन्यास लिखते हैं, ठीक है। उसका स्तर जो भी हो, वह ठीक है, लेकिन हिन्दी है। ओदोलेन स्मेकल सरीखे जब हिन्दी कविता लिखने पर उतारू होते हैं तो मुझे उन पर नहीं, अपने पर तरस आता है। वह क्यों हिन्दी के कवि हो गए? सिर्फ गोरी चमड़ी होने के कारण? वह दोहे लिखता है या चौपाई लिखता है या बारवाई लिखता है, हम कहते हैं कि यह हिन्दी की बड़ी भारी सेवा है। हिन्दी का डंका बज गया! क्या ऐसे मानदंड अंग्रेज़ी साहित्यकारों ने भारतीय अंग्रेज़ी साहित्य के लिए कायम किए हैं? क्या अरुंधति रॉय को यूँ ही एक बड़ा उपन्यासकार मान लिया गया है? क्या सलमान रुश्दी सिर्फ यूँ ही स्वीकृत हो गया है, जैसे दूसरे लोग हैं? नहीं, कहीं उनका एक स्तर है। इससे आगे मैं बात करता हूँ कि फीजी में जो हिन्दी साहित्य लिखा जा रहा है वह लिखा जाए, जैसे न्यूज़ीलैंड मे जो अंग्रेज़ी साहित्य लिखा जाता है वह न्यूज़ीलैंड का अंग्रेज़ी साहित्य है। आस्ट्रेलिया का अंग्रेज़ी साहित्य अलग है, हमारा भारत का अंग्रेज़ी साहित्य अलग है, केनेडा का अंग्रेज़ी साहित्य अलग है और अमेरिकन और अंग्रेज़ी साहित्य के बीच तो कोई तालमेल है ही नहीं। तो हम यह उम्मीद क्यों करें कि फीजी का जो साहित्यकार है वह हमारी तरह लिखेगा या हमारे स्तर पर लिखेगा? फीजी में जो हिन्दी बोली जा रही है वह कितनी बोली जा रही है मुझे पता नहीं, मेरे पास कुछ बड़े नकारात्मक प्रमाण हैं और अभी जो ढपला होने वाला है दिसंबर में कि एक भोजपुरी सम्मेलन होगा मॉरीशस में तो जो लोग अभी हिन्दी की ढपली बजा रहे हैं वह भोजपुरी की ढपली बजाते हुए वहाँ पहुँच जाएंगे और लगातार हिन्दी के खिलाफ वही बात करेंगे जो अभी तिवारीजी ने खुल्लमखुल्ला की। हिन्दी का तो सत्यानाश हुई गवा। तो एक

पैर भोजपुरी में, एक पैर अवधी में, और विदेश जाने वाला पैर हिन्दी में। यह घालमेल हिन्दी को लेकर हो रहा है। मैं हिन्दी के उन विद्वानों की भर्त्सना करना चाहता हूँ जो बोलियों के खिलाफ हिन्दी को 'डिफेंड' नहीं कर सकते हैं। मैं बहुत क्रूर बात कहने जा रहा हूँ। जिस तरह से वनमानुष से इंसान नहीं बनाया जा सकता उसी तरह बोलियों से आधुनिक ज़ुबान नहीं बनाई जा सकती। यह बिलकुल झूठ है कि हिन्दी ने भोजपुरी और अवधी को दबाया है। यह मूर्खतापूर्ण बात है, मैं इसको सुनने को तैयार नहीं हूँ। क्योंकि जब हिन्दी बनी है अपने आप तो किसी को दबाकर नहीं बनी। हिन्दी का कोई कुसूर नहीं है उसमें। आज हिन्दी स्वयं कितने कष्ट में है, हम जानते हैं। आज हिन्दी के पत्रकारों का हाल बुरा है, साहित्यकारों का हाल बुरा है और हिन्दी का अपना हाल बुरा है। हिन्दी भाषा का हाल खराब है, हिन्दी साहित्य की हालत खराब है। आप एक कविता छोड़ दें तो हिन्दी का साहित्य शोचनीय ढंग से पिछड़ा हुआ साहित्य है, दूसरों की तुलना में। हिन्दी सिर्फ तुलनात्मक रूप से एक घुड़ैल सरीखी भाषा लगती है, लेकिन हिन्दी बहुत दयनीय है। आप सोचिए कि हम किस रसातल में जा रहे हैं। आज जो आप बात कर रहे थे टेलीविजन वगैरह की, उसमें देखिए क्या हो रहा है। खुल्लमखुल्ला रोमन लिपि में हिन्दी लिखी जा रही है। एक चौथाई *टाइम्स ऑफ इंडिया* हिन्दी में छपता है, लेकिन वह लिखता रोमन लिपि में है और हम कुछ नहीं करते। इतने बेवकूफ 'अनाउंसर' हैं 'सोनी' के, 'ज़ी' टी.वी. के, 'स्टार' के, वे क्या करेंगे। हम में इतना गुर्दा नहीं है कि हम कह सकें कि इसको बंद करो। यह जो हिन्दी के साथ हो रहा है विदेशों से लेकर देश तक, बहुत दयनीय हालत है हिन्दी की। मैं इसका कोई उपाय नहीं जानता, क्योंकि हम लोग हिन्दी को अपने जीवन में नहीं डालेंगे। मैं हिन्दी किसी पर थोपना नहीं चाहता। मैंने पहले भी कहा था और अब भी कहता हूँ कि यदि हिन्दी के कारण इस देश का विभाजन होता हो तो ऐसी हिन्दी जाए भाड़ में। मैं यह देश बचाना चाहता हूँ, भाषा नहीं बचाना चाहता। भाषा मैं उतनी बचाना चाहता हूँ जिसमें मैं लिख सकूँ, क्योंकि मैं उसमें लिखता हूँ, मैं बोल सकूं क्योंकि मैं उसमें बोलता हूँ। लेकिन मेरा कोई उद्देश्य हिन्दी को भारत पर थोपने का नहीं है, इसको विश्व भाषा बनाने का तो बिलकुल नहीं है। यूनाइटेड नेशंस की भाषा बनाने का भी बिलकुल नहीं है। अभी आपने सुना होगा यूरोपीय यूनियन की भाषा अंग्रेज़ी बन गई है। यू. एन. में हिन्दी लेकर क्या करेंगे, आप यूरोपीय यूनियन में घुस नहीं सकते बिना अंग्रेज़ी के। अंग्रेज़ी जिस तरह से कंप्यूटर के ज़रिए सारे विश्व की 'डॉमीनेंट' भाषा बन

गई है आप उसका बाल बांका नहीं कर सकते। आप उसके बारे में सोचिए, क्योंकि कंप्यूटर रूसी में काम कर रहा है, फ्रेंच में कर रहा है, जर्मन में कर रहा है, हम अंग्रेज़ी में कर रहे हैं और यह जो अंग्रेज़ी का हमारे अंदर घुसपैठिया रोल है, दस साल में मैं समझता हूँ कि हिन्दी स्वयं एक बोली हो जाएगी। अगले 50-60 साल में हिन्दी के सामने बहुत भयानक 'प्राब्लम' देख रहा हूँ। क्योंकि हिन्दी के हमारे बहुत सारे लोग, हमारे बहुत सारे बुद्धिजीवी, रेडियो में काम करने वाले, टी. वी. में काम करने वाले, पत्रकारिता में काम करने वाले धीरे-धीरे सब इस बात के कायल हो गए हैं कि हिन्दी के साथ जो होता है वह हो जाने दो। एक यह भी अजीब तर्क दिया जाता है जो मैंने जर्मन रेडियो पर सुना, जर्मन रेडियो पर अधिकांश 'अनाउंसर' गैर हिन्दी भाषी हैं। तो उनसे हमने पूछा आप हिन्दी कैसे लिखते हैं? बोले, खरेजी आप हिन्दी वालों में यही तो है, हिन्दी ऐसे ही बनेगी। लेकिन कोई जर्मन भाषी नहीं कहता कि जर्मन ऐसी बनेगी, कोई फ्रेंच भाषी नहीं कहता कि फ्रेंच ऐसी बनेगी, कोई यह नहीं कहता कि यहाँ से शब्द लाओ, वहाँ से लाओ, आ जाएं तो ठीक है। लेकिन एक भाषा की अपनी अस्मिता होती है या नहीं? एक भाषा सही ढंग से लिखी जाए या नहीं? एक भाषा का व्याकरण हो या नहीं, शुद्ध लिखी जाए या नहीं? वे बात करते हैं कि हिन्दी कौन-सी? जिस तरह अंग्रेज़ी के कई रजिस्टर्स हैं, एक अस्तबल का सिपाही जो लीद में काम करता है वह भी अंग्रेज़ी बोलता है। वह गलत-सलत अंग्रेज़ी बोलता है लेकिन एक 'इंगलिश' बोली जाती है। ऐसे ही हिन्दी भी साहित्यकारों की अलग-अलग – मैं अलग हिन्दी लिखता हूँ, विश्वनाथ त्रिपाठी अलग लिखते हैं, पकंज बिष्ट अलग लिखते हैं, मुक्तिबोध अलग लिखते थे, हमारे सबके 'स्ट्रोक्स' अलग-अलग हैं। आप जिस हिन्दुस्तानी की बात कर रहे हैं, हम पर आरोप लगता है कि मैं उर्दू भाषा का इस्तेमाल करता हूँ, विश्वनाथ त्रिपाठी उर्दू के विद्वान हैं, अच्छे-अच्छे विद्वान भी उनकी जुबान नहीं पकड़ सकते। यह कहना विडम्बना है कि हिन्दी उपनिवेशवादी है। मैं तो कहता हूँ कि एक प्रस्ताव पारित होना चाहिए कि मेहरबानी करके हिन्दी को राजभाषा पद से च्युत कर दिया जाए।

सरल झींगरन : हिन्दी मेरी मातृभाषा है, लेकिन मैंने पढ़ा-लिखा सब अंग्रेज़ी में है। एक तो प्रो. विमलेश कांति वर्मा ने कहा कि हिन्दी पत्रकारिता सब भारतीय भाषाओं से अच्छी है। इससे मैं बिलकुल सहमत नहीं हूँ। हिन्दी पत्रकारिता मेरे देखते-देखते समाप्तप्राय हो गई है और इसका मुझे बहुत अफसोस है। क्योंकि

पत्रिकाएं ही एक ऐसा माध्यम है, जिनसे एक सामान्य व्यक्ति संबंध जोड़ सकता है। जिन पत्रिकाओं से हम लोग जुड़े हुए थे जैसे *साप्ताहिक हिन्दुस्तान* और *धर्मयुग*, वे कहीं खो गई हैं। जो दो पत्रिकाएं अभी चल रही हैं, *कादंबिनी* और *नवनीत* वे न समझ में आती हैं और न उनमें कुछ है जितना अंग्रेज़ी की साधारण मैगज़ीन में मिल जाता है।

दूसरी बात जो बराबर आ रही है, बड़ी अजीब है। मुझे सुखद आश्चर्य हुआ विश्वनाथ त्रिपाठीजी को सुनकर कि उन्होंने किसी भी तरह के हिन्दी 'शोविनिज़म' की बात नहीं कही। हिन्दी सम्मेलन छोड़िए, हिन्दी बोलने वाले लीजिए, उत्तर प्रदेश की हिन्दी को ले लीजिए। वे ऐसी भाषा बोलते हैं, जो समझ ही नहीं आती। समझ में आएगी भी कैसे? सबसे पहले वे कहेंगे हिन्दी सारे राष्ट्र की भाषा है, क्यों नहीं उसको स्वीकारा जाता है? नतीजा यह होता है कि सुनने वाला अगर हिन्दी भाषी नहीं है तो 'डिफेंसिव' हो जाता है। उसको लगता है कि मुझे अपने को बचाना है। जैसा कि खरे साहब ने कहा, सबसे बड़ी ज़रूरत हिन्दी को बचाने की मुझे लगती है। हिन्दी को संपर्क भाषा की तरह स्वाभाविक रूप से विकसित होने दिया जाए, बजाए राष्ट्रभाषा के रूप में थोपने के। हम कर नहीं पा रहे हैं, क्योंकि हर फार्म के पीछे हिन्दी में लिखते हैं जो कोई पढ़ता-लिखता नहीं, जवाब नहीं देता। जहाँ तक विकास का सवाल है, हिन्दी पत्रकारिता ने बिलकुल विकास नहीं किया है। सरकार के प्रयत्नों, शुद्ध हिन्दी साहित्य के प्रयत्नों द्वारा हिन्दी थोपने में मुझे कोई विकास नज़र नहीं आता। एक बार लेख पढ़ा था, कोई ज़रूरत नहीं हिन्दी वालों को प्रयत्न करने की, हिन्दी फिल्में सब कर डालेंगी। हिन्दी का जो विरोध दक्षिण में था अब कम होता जा रहा है। यह एक बड़ा आश्चर्य है कि स्वाभाविक रूप से वे लोग हिन्दी को स्वीकार करने को तैयार हैं, लेकिन जैसे ही थोपे जाने का 'आइडिया' आता है तो वे लोग नहीं स्वीकारते हैं। तमिल के यह सज्जन मेरे लिए सुखद आश्चर्य थे, जिन्होंने इतनी शुद्ध हिन्दी बोली, सामान्य बात नहीं है। उनका स्वागत है। आप लोगों में से किसी ने भी इतनी अच्छी हिन्दी नहीं बोली। मेरा एक ही अनुरोध है, बहुत ज़्यादा हिन्दी को क्लिष्ट मत बनाइए। हिन्दी जिनकी मातृभाषा है, उनको, समझने में दिमाग चक्कर खा जाता है। जो मूलतत्त्व है वह नहीं पनप पाता। मैं नवीं-दसवीं के नौकर लड़के को पढ़ाती हूँ। हिन्दी पढ़ाने में और समझाने में मुझे इतनी ज़्यादा मेहनत लग जाती है कि उसमें जो सार है, वह आसानी से नहीं पढ़ा

पातीं। पाँचवीं क्लास का इंगलिश स्कूल में पढ़ने वाला मेरा बच्चा है, उसको कहा गया कि अमुक कविता को कंठस्थ करो। मेरी समझ में नहीं आया कि उसको समझाऊं कैसे! पाँचवीं क्लास में हम लोगों के यहाँ इतनी क्लिष्ट हिन्दी नहीं लिखी-बोली जाती थी। तभी हम लोगों के लिए हिन्दी स्वाभाविक बनी थी। मुझे याद है कि हिन्दी में साहित्यिक स्तर पर भी लोग मेरा मज़ाक बनाते थे कि तुम क्लिष्ट हिन्दी बोलती हो। अन्यथा हम इतनी क्लिष्ट हिन्दी नहीं बोलते थे। अब जो साहित्यिक हिन्दी है, उससे मेरा परिचय नहीं है क्योंकि हिन्दी की कोई पत्र-पत्रिका मुझे नहीं मिलती जिससे पता चले कि हिन्दी में नया क्या हो रहा है। जब तक *धर्मयुग, साप्ताहिक हिन्दुस्तान* मुझे मिलते रहते थे, मैं हिन्दी के तब के उपन्यासकारों-कहानीकारों को बहुत अच्छी तरह से जानती थी। उनकी कहानियों को पढ़ती थी। उनकी कहानियों को जानती थी। मैं खरे साहब से बिलकुल सहमत नहीं हूँ कि हिन्दी या भारतीय भाषाओं का जो साहित्य है वह निश्चय ही जो आजकल तथाकथित इंडियन इंगलिश लिख रहे हैं, उससे बहुत गहरा है। जिंदगी से जुड़ा हुआ है, बहुत संवेदनशील है – लेकिन मैं उस तक पहुँच नहीं सकती, कोई रास्ता नहीं है। मुझे कोई समाचार नहीं मिलता है कि कहाँ पर कौन सा साहित्य लिखा जा रहा है। तो थोड़ा-सा हिन्दी वालों के लिए – हिन्दी पत्रकारिता को बढ़ाइए और एक हिन्दी भाषा ऐसी बनाइए जो समझ में आ सके। मैं तो हिन्दी भाषी हूँ, तब भी मुश्किल होती है। जो हिन्दी भाषी नहीं हैं उनके लिए और ज़्यादा मुश्किल होती होगी। वहीं हिन्दी की परिभाषा का सवाल उठता है। टी. वी. में आजकल जिस भाषा का प्रचलन हो रहा है उसको किसी तरह से 'चैलेंज' करना बहुत जरूरी है। नहीं तो हमारे बच्चे और कोई भाषा समझेंगे नहीं। वह भाषा हिन्दी भी नहीं है, हिन्दुस्तानी भी नहीं है, उसमें ग्रामर तो बिलकुल खत्म होती जा रही है। यह बिलकुल विपरीत प्रयत्न है। एक तो अशुद्ध भाषा के प्रति हिन्दी भाषियों को प्रयत्न करना है, आन्दोलन करना है और एक तरफ जो क्लिष्ट भाषा है, जिसे समझने में सारी शक्ति लग जाए, उसके बीच का रास्ता निकालने की कोशिश करनी चाहिए।

चंद्रशेखर पिल्लै : विश्व में हिन्दी भाषा फैलाने की बात की जाती है। हमारे देश के कई हिस्सों में हिन्दी का प्रयोग नहीं होता है, जैसे तमिलनाडु, आंध्र प्रदेश, नागालैंड, केरल, सिक्किम इत्यादि क्षेत्रों में। इतना ही नहीं, यू.पी.एस.सी. द्वारा ली जाने वाली सभी परीक्षाओं में अंग्रेज़ी की अनिवार्यता है और अंग्रेज़ी भाषा में ली जाती हैं। केवल

आई.पी.एस., आई.ए.एस. वगैरह में भारतीय भाषाओं की जगह तो है, लेकिन अंग्रेज़ी की अनिवार्यता है। जब हम अपने घर में अंग्रेज़ी भाषा से घृणा करते हैं तो विश्व में हिन्दी भाषा बढ़ाने का क्या मतलब है। पिछले ग्यारह साल से भारतीय भाषा संरक्षण संगठन यू.पी.एस.सी. के गेट पर आन्दोलन और धरना दे रहे हैं। उन लोगों का मत है कि यू.पी.एस.सी. द्वारा ली जाने वाली परीक्षाओं में भारतीय भाषाओं को लागू किया जाए। इस धरने पर अटलजी, ज्ञानी ज़ैल सिंह, शरद यादव, मदन लाल खुराना, सभी आए थे। यह 11 मई, 1994 की बात है, लेकिन आज अपने शासनकाल में इस वादे से मुंह मोड़ रहे हैं। इसके बारे में आप लोगों की क्या राय है?

करुणा चानना : मैं जे. एन. यू. में समाजशास्त्री हूँ और 'एजूकेशन' में, शिक्षा में मेरी रुचि है। विष्णु खरेजी ने जो बात कही कि हिन्दी का बाहर विदेशों में क्यों प्रचलन कम हुआ, इसका एक कारण यह भी है कि हिन्दी भाषा साउथ एशियन स्टडी सेन्टर्स में पढ़ाई जाती थी पिछले दो दशकों में अमेरिका की रुचि साउथ एशियन स्टडीज़ में कम हो गई। सत्तर के दशक में जब निक्सन ने चीन के साथ संबंध बढ़ाए चीनी भाषा का महत्त्व और बढ़ गया। दूसरी ओर फेडरल फंड पूरे नार्थ अमेरिकन यूनिवर्सिटीज़ में कम हो गए। हमारे जहाँ-जहाँ दोस्त थे, उन्होंने कहा, न पी. एच. डी. के लिए हमारे पास कोई रिसर्च स्कॉलर आ रहा है, न हमारे पास पैसे हैं। तो हिन्दी भाषा का उससे भी बहुत अहित हुआ।

दूसरा एक और दौर अब हमारे यहाँ चल रहा है। बाहर के विश्वविद्यालयों में तथाकथित व्यावसायिक शिक्षा का दबाव इतना बढ़ा है कि हर एक विद्यार्थी मैनेजमेंट, इंजीनियरिंग आदि में जाने लगा और भाषाएं कम होती गयीं। विदेशी भाषाएं भी कम पढ़ाई जाने लगीं। पर अब वहाँ के जो विद्यार्थी हैं, उनका प्रोफेशनल एजूकेशन से मन उठ गया है। लोक कह रहे हैं कि अब सबसे अच्छे विद्यार्थी अनुसंधान के लिए आ रहे हैं। भाषाओं और सोशल साइंसेस दोनों में आ रहे हैं। हम लोग अपने यहाँ क्या कर रहे हैं? हमारे यहाँ भी यही हो रहा है, आप देख लीजिए इन्द्रप्रस्थ यूनिवर्सिटी के जितने कॉलेज हैं, दिल्ली यूनिवर्सिटी के जितने कॉलेज हैं, ये प्रोफेशनल कॉलेज हैं। इनमें कहीं भाषा नहीं पढ़ाई जा रही है। कहीं हम लोग सोशल साइंस नहीं पढ़ा रहे हैं। अगर अपने व्यक्तित्व को कुछ उभारना है शिक्षा के ज़रिए तो हम क्या कर रहे हैं? सिर्फ हम मैनेजमेंट टेक्नॉलजी पढ़ा रहे हैं। मैं एक

कॉलेज की गवर्निंग बॉडी में थी। हेम भटनागर भी थे कॉलेज ऑफ अप्लाइड साइंसेस में। मैंने हेमजी से कहा कि आप क्या कर रहे हैं, तो उन्होंने कहा कि हम मास कम्युनिकेशन में हिन्दी पढ़ा रहे हैं। जब उनसे कहा साहित्य पढ़ाइए, भाषा पढ़ाइए, समाज के बारे में पढ़ाइए तो उन्होंने हमें कहा, मास कम्युनिकेशन है – जो बात हम कर रहे हैं, उसमें इस विषय को भी लाना चाहिए कि हमारा क्या योगदान है। हम लोग जो विश्वविद्यालयों में बैठे हुए हैं, ऊंची संस्थाओं से जुड़े हुए हैं, मेरा ख्याल है कि इसको भी बातचीत में लाएं तो अच्छा रहेगा।

श्रोता: मेरा एक जेनरल प्रश्न है कि आजकल का युवा हिन्दी बोलने से कतराता है और जब इंगलिश बोलता है तो अपने आपको आधुनिक कहता है। उसका एक ऐसा माहौल बन चुका है, पश्चिमी मीडिया का इतना प्रभाव है कि अगर आप उससे हिन्दी में बात भी करें जवाब अंग्रेज़ी में ही मिलेगा। मैं अमूमन जब भी 'सर्वे' करता हूँ तो उनका जवाब इंगलिश में आता है। ज़्यादातर पब्लिक स्कूल, अब गवर्नमेंट स्कूल भी, उसी चाल पर चल रहे हैं। जो खरे साहब ने कहा, उसने मुझे प्रभावित किया। बाहर को छोड़िए, पहले आप अपने घर में भी देखिए कि हम खुद ही 'वेस्टर्नाइज़' हो रहे हैं। 'स्टार प्लस' में देस-परदेस में आता है कि आयरलैंड में संस्कृत पढ़ाई जा रही है, तो मैं कभी कन्फ्यूज हो जाता हूँ कि आजकल की हमारी आधुनिक पीढ़ी का हाल क्या होगा? यह छोटा-सा सवाल मेरे मन में था।

मंजु भट्ट : मैं एन. सी. ई. आर. टी. में समाजशास्त्र विभाग देख रही हूँ और मैंने समाजशास्त्र पढ़ाया भी है और समाजशास्त्र की विद्यार्थी रही हूँ। एक विडम्बना जो देखने को मिली, उदाहरण के रूप में बताना चाहूंगी। सबसे पहली बात कि हिन्दी के विषय में जब भी कोई संगोष्ठी हो, या कोई कार्यशोष्ठी हो, तो हिन्दीभाषियों की सबसे ज़्यादा समस्या उनको दिखाई देती है जो हिन्दी के विद्वान हैं। इसके लिए ज़िम्मेदार कौन है? मुझे तो लगता है कि कहीं न कहीं किसी न किसी रूप में हम सब इसके लिए ज़िम्मेदार है और एक छोटा-सा उदाहरण मैं दूंगी। मैं एन.सी.ई.आर.टी. के साथ-साथ सी.बी.एस.ई. की परीक्षाओं में समाजशास्त्र की मुख्य परीक्षक हूँ। मेरे पास कॉपियां आती हैं। 90 प्रतिशत हिन्दी में होती हैं, 10 प्रतिशत अंग्रेज़ी में होती हैं। सारे अध्यापक आकर कहेंगे कि ऐसा है हिन्दी की कॉपियां तो हम चैक नहीं कर पाएंगे, अंग्रेज़ी की कर देंगे। हमारे पास टीचर नहीं है, मैं वापिस भेज देती हूँ। बहुत मुश्किल है कि हिन्दी चैक करने वाला कोई है ही नहीं। फिर मैंने सोचा कि इन विद्यार्थियों के लिए इस तरह की पाठ्य

पुस्तक जैसी कि चल रही है, उसकी एक सहयोगी पुस्तिका निकालूं जो हिन्दी में हो और जाने-माने समाजशास्त्री उसमें लिखें, ताकि बच्चों को ज्ञान हो। हमारे समाजशास्त्र की जो टर्मिनॉलजी है, उसको आप हिन्दी में बता पा रहे हैं, तो क्यों नहीं लिखते हैं। वे कहते हैं, हम लिख देंगे तो उसे कोई लेगा ही नहीं। तो इस सब के लिए कौन ज़िम्मेदार है? कहाँ से इसे उठाएं? किस तरह से कहें कि जो समस्या है – हमें लगता है कि वास्तव में जो अस्तित्व होना था, जो प्रतिष्ठा होनी थी हिन्दी की वह नहीं हुई। हम जो हिन्दी में लिखते हैं वह भी लिखना क्यों नहीं चाहते?

विमलेश कांति वर्मा : अध्यक्ष महोदय, तिवारीजी ने जो बात कही उसको बड़े मज़ाक में यहाँ उड़ा दिया गया, लेकिन जो प्रश्न उन्होंने किया वह एक महत्त्वपूर्ण और शाश्वत प्रश्न है। हिन्दी को परिभाषित करने की कोशिश नहीं की गई। मैं दिल्ली विश्वविद्यालय में पैंतीस वर्ष से भाषा विज्ञान पढ़ाता हूँ। विश्व में दस साल मैंने हिन्दी शिक्षण का काम किया है। टोरंटो विश्वविद्यालय की रेगुलर फैकल्टी में था। यूरोप में सोफिया विश्वविद्यालय में छह वर्ष तक मैंने अध्यापन किया। उसके बाद फीजी में चार वर्ष रहा। मैंने यह अनुभव किया कि तिवारीजी ने जो प्रश्न किया है, वह सब के मन में है। वही पाण्डेजी ने भी किया है। यह प्रश्न क्यों उठता है? हिन्दी को परिभाषित करने की चेष्टा क्यों नहीं की जाती? हिन्दी में हम मैथिली को भी लेते हैं और भोजपुरी को, मारवाड़ी को भी लेते हैं, अवधी को भी लेते हैं। हिन्दी का क्षेत्र व्यापक है, जब हम हिन्दी आन्दोलन की बात करते हैं, तो इस क्षेत्र की सारी भाषाओं को क्यों नहीं लेते? आज जब हम गणतंत्र में हिन्दी की बात करते हैं तो बात किस हिन्दी की है। एक हिन्दी वह है कि 'हिन्दी है हम, वतन है हिन्दोस्तां हमारा' या 'राजभाषा हिन्दी' या यह वह हिन्दी है जो उत्तर में नेपाल की तराई से लेकर दक्षिण में रायपुर और खंडवा तक है। पूर्व में मिथिला और भागलपुर ज़िलों से लेकर पश्चिम में बाड़मेर, बीकानेर, जैसलमेर तक बोली जाती है। धटर्जी ने जो बात कही वह भी केवल हंसी या विरोध में उड़ा देने की बात नहीं है। उसके पीछे कुछ धारणाएं हैं, वह संकल्पनाएं हैं कि हिन्दी को हम क्या समझते हैं। हिन्दी मैथिली है कि नहीं, हिन्दी मारवाड़ी है कि नहीं है। हिन्दी एक भाषा समष्टि है। राजभाषा की जब हम बात करते हैं, तो उसका तात्पर्य केवल खड़ी बोली है। यह वह खड़ी बोली नहीं जो मेरठ, मुज़फ्फरपुर, गाज़ियाबाद में बोली जाती है, यह परिनिष्ठित खड़ी बोली है। हिन्दी को आज परिभाषित करने की ज़रूरत है।

दूसरी बात, विष्णु खरेजी ने, बड़े आवेश में, बड़े प्रभावशाली ढंग से विश्व में हिन्दी शिक्षण पर बहुत सारी बातें कीं। बारह वर्ष उसी क्षेत्र में मैंने भी काम किया है। जब वह कहते हैं कि हिन्दी साहित्य, हिन्दी अध्यापक का रूस में आज कोई महत्त्व नहीं है, मैं कहना चाहता हूँ आज के संदर्भ में, वही स्थिति रूसी भाषा की हिन्दुस्तान में भी है। दिल्ली विश्वविद्यालय का जो रूसी और अन्य पूर्वी यूरोपीय भाषा विभाग है, उससे मैं वर्षों से जुड़ा हुआ हूँ। पहले जहाँ रूसी भाषा पढ़ने वालों के कई वर्ग होते थे आज वहाँ एक वर्ग भी ठीक नहीं चल रहा है। क्यों? इसलिए नहीं चल रहा है क्योंकि भाषा का संबंध रोटी और रोजगार से भी जुड़ा हुआ है। तब जितने यहाँ रूसी पढ़ते थे, उनमें से कई चले जाते थे छात्रवृत्ति लेकर रूस में अपने अध्ययन को परिमार्जित करने को। आज उनके लिए कोई छात्रवृत्ति नहीं है। यही स्थिति बलगेरियन भाषा की है, यही चैक की है, यही स्लोवॉक की है, यही हंगेरियन की है। केवल हंगेरियन में एक स्कॉलरशिप रह गयी है, क्यों कोई विद्यार्थी जाएगा इसमें। यही स्थिति यूरोप में, अमेरिका में हिन्दी की हो रही है। लेकिन हिन्दी की तुलना हमें भारत की अंग्रेज़ी से नहीं करनी चाहिए। हमारी हिन्दी की तुलना यूरोप के देशों में उसी तरह होगी जो बलगारिया में हिन्दी की है। बलगेरियन भाषा की हिन्दुस्तान में क्या स्थिति है, पुर्तगाली की हिन्दुस्तान में क्या स्थिति है? पुर्तगाली तो गोवा की मुख्य भाषा थी, आज भी वहाँ बहुत से लोग बोलते हैं। लेकिन जो अन्य विदेशी भाषाएं देश में पढ़ाई जाती हैं उसी प्रकार विदेश में हिन्दी कैसी पढ़ाई जाती है, क्या पढ़ाई जाती है, यह विचारणीय है। जहां तक अनुवाद की बात है, हिन्दी के अनुवाद विदेश में कम हो रहे हैं, इसमें दो राय नहीं हैं। लेकिन वह कमी कितनी कमी है, कैसी कमी है, इसको भी तो हम देखें। उन्होंने संकेत दिया कि अज्ञेय की कविताएं, विष्णु खरेजी की, और अन्य लोगों की कविताएं और उनके अनुवाद कम हो रहे हैं। अनुवाद *मानस* का हो रहा है, *सूरसागर* का हो रहा है, कबीर का हो रहा है। नई साहित्यिक रचनाओं को स्थापित होने में समय लगेगा। लेकिन जो कालजयी कृतियां हैं उनका अनुवाद वहाँ कम हो रहा है, ऐसा नहीं है। दो वर्ष पहले एक एनोटेटिड बिबलियोग्राफी छपी, हिन्दी की जो कृतियां अंग्रेज़ी भाषा में अनूदित हुई। आप अनुमान लग सकते है, उसमें कितनी प्रविष्टियां हैं? कभी हम उसकी ओर देखने की कोशिश तो करें। अनुवाद बहुत हुए है, पर हमें पता नहीं है। हमें तो वही पता चलते हैं जो यहाँ आ जाते हैं। कितनी भाषाओं के कितने अनुवाद यहाँ तक पहुँचते हैं। अगर हम सर्वेक्षण करें, अगर हम उनके पीछे कारणों

का उल्लेख करें तो शायद नज़ारा कुछ और ही है। यदि हम यह सोचें कि हिन्दी अमेरिका में वैसी ही पढ़ाई जाएगी जितनी अंग्रेज़ी यहाँ पढ़ाई जाती है तो शायद न हिन्दी के साथ न्याय होगा, न अंग्रेज़ी के साथ न्याय होगा।

नामवर सिंह : मित्रों, कार्यक्रम के अनुसार इस सत्र की अध्यक्षता का दायित्व मुझे सौंपा गया था, लेकिन अध्यक्षीय वक्तव्य देने का कोई प्रावधान नहीं है। इसलिए संक्षेप में कुछ बातें आपके सामने रखने की कोशिश करूँगा।

अंतिम विषय 'भूमण्डलीकरण' था और मैं यहीं से आरंभ करना चाहता हूँ। पहली बात खरे साहब से मैं पूर्णतः सहमत हूँ। बहुत-सी बातों में सहमत हूँ वह यह कि 1967 के बाद जब राजभाषा अधिनियम बना है, उससे हिन्दी के भविष्य की दिशा का संकेत साफ हो गया था कि राजभाषा इस देश में हिन्दी नहीं होने वाली है। प्रावधान को आप याद रखें कि पूरी प्रक्रिया इतनी कठिन है कि एक भी राज्य की विधानसभा यदि आपत्ति करती है तो पूरे देश में हिन्दी राजभाषा नहीं होगी। बहुत जटिल प्रक्रिया हो गई और इसे देश में भी लोगों ने समझ लिया और विदेश में भी कि इसके बाद हिन्दी अब राजभाषा यहाँ नहीं होने वाली है। इसका प्रभाव पड़ा है देश में और विदेशों में भी। हिन्दी पर पैसा क्यों लगाएं जब उसी देश में वह भाषा नहीं होने वाली है। इसके राजनीतिक कारण स्पष्ट हो गए। खरे साहब ने सही कहा, हिन्दी को सच पूछिए तो संविधान में जो स्थान मिला था, उसके बाद सोवियत संघ से भारत का जो संबंध बना 1955-56 के आसपास परस्पर सहयोग का, उस समय लगभग डावांडोल-सी स्थिति थी। हम लोग कामनवैल्थ के सदस्य थे। आरंभ में देखें, तो झुकाव अमेरिका की ओर ज़्यादा था, रूस की ओर कम था। लेकिन जब हमारी विदेशी नीति बदली और हमारा समाजवाद से संबंध हुआ – हमारे यहाँ उससे पहले प्रावधान ही नहीं था कि अपने 'क्रिडेन्शॅल्स' हिन्दी में दिये जाएं जो सिर्फ अंग्रेज़ी में दिये जाते थे। पहली बार रूस वालों ने कहा कि अंग्रेज़ी में हम स्वीकार नहीं करेंगे और विजय लक्ष्मी पंडित को जब राजदूत बनाकर भेजा गया तो उन्होंने कहा कि 'क्रिडेन्शॅल्स' हिन्दी में जल्दी से बनाओ। वह परिचय-पत्र हिन्दी में पहली बार बना। यह सही है कि समाजवाद में, क्योंकि वे स्वयं बहुभाषी थे, यह उनकी आंतरिक समस्या भी थी इसलिए भारत की भाषा समस्या को वे बेहतर समझ सकते थे। भारतीय भाषाओं के अनुवाद के लिए सबसे ज्यादा द्विभाषी कोश रूस में बने थे।

एक पूरा इंस्टीट्यूट बन गया था। यह सही है कि समाजवाद के विघटन से भी हिन्दी का विश्वस्तर पर महत्त्व घटा लेकिन मुख्य रूप से हमारे राजभाषा अधिनियम के कारण हिन्दी का महत्त्व देश-विदेश में घटा।

और एक चीज यह थी कि लगभग 1947 के बाद और विशेष रूप से उपनिवेशवाद के खात्मे के साथ 'स्कूल ऑफ ओरिएंटल अफ्रीकन स्टडीज' में भारत संबंधी अध्ययन का जिस प्रकार का विस्तार था और जो भारत के प्रति आकर्षण था पश्चिमी एशिया, अफ्रीका में वह भी धीरे-धीरे कम हो गया। बल्कि अमरीकी विश्वविद्यालयों में, यूरोपीय विश्वविद्यालयों में, साउथ एशियन स्टडीज़ का आकर्षण बढ़ा। पूरा का पूरा इंडॉलॅजी साउथ एशियन स्टडीज़ बन गया। कुछ लोगों की दिलचस्पी भारत में थी तो कुछ की ज़्यादा पाकिस्तान में थी, दक्षिण-पूर्व एशिया में थी। उपनिवेशवाद की समाप्ति के बाद उनकी अपनी ज़रूरतें थीं। दक्षिण एशिया और दक्षिण-पूर्व एशिया में उनकी दिलचस्पी बढ़ी और उसके बाद एक नई विधा चली थी विश्वविद्यालयों में 'एरिया स्टडीज़' के नाम पर। तो 'स्ट्रेटेजिकली' जो 'एरिया इंपार्टेंट' होगा उसकी भाषा, संस्कृति का अध्ययन किया जाएगा। ज़रूरी नहीं कि सारी दुनिया का करें? इसलिए जो स्ट्रेटेजिक स्टडीज़ और एरिया स्टडीज़ के नाम पर शुरू हुआ, उसका बहुत गहरा असर पड़ा। लोग बताते थे कि एक जमाने में नार्थ-ईस्ट की भाषाओं का ज़्यादा अध्ययन किया जाता था। मुंडारी का ज़्यादा करते थे। एक दौर आया जिसमें तमिलियन और द्रविडियन स्टडीज़ पर ज़्यादा ज़ोर दिया गया, दूसरी भाषाओं पर बहुत कम ज़ोर दिया गया था। इसलिए विदेशों में हिन्दी में दिलचस्पी में शेयर मार्केट की तरह उतार-चढ़ाव आया है। संक्षिप्त वक्तव्य में मैं नहीं कह सकता, कि किन कारणों से कमी आई है और उसकी राजनीति क्या है। यह दूसरा पहलू है, जो गहराई से विचार किया जाना चाहिए। 'स्कूल ऑफ ओरिएंटल स्टडीज़' में एक ज़माने में हिन्दी और उर्दू दोनों के लिए दिलचस्पी थी, बल्कि उर्दू का विभाग बड़ा हो गया था। आज़ादी के बाद, हिन्दी का छोटा हो गया था। बाद में भी हिन्दी-उर्दू जानने वाले दोनों जानते हैं कि उन लोगों ने अपनी उपनिवेशवादी दौर की नीति हिन्दी भाषा के बारे में नहीं बदली है। एक अमरीकी स्कॉलर, क्रिस्टोफर किंग ने हिन्दी-उर्दू रिश्ते पर किताब लिखी इतने दिनों के बाद, 'वन लैंग्वेज, टू स्क्रिप्टस', रसेल ने पछत्तर साल की उम्र में उस किताब का खंडन करते हुए जवाब दिया कि यह गलत है 'वन लैंग्वेज टू स्क्रिप्ट्स' –

'टू लैंग्वेजिज़ टू स्क्रिप्टस'। ऐसा नहीं है कि भाषा एक है, एक नागरी लिपि में लिखी जाती है, एक उर्दू लिपि में लिखी जाती है। यह मिथ है। रसेल ने कहा कि उर्दू स्क्रिप्ट ही नहीं उर्दू लैंग्वेज पूरी की पूरी अलग है। मैं इसमें राजनीति है या नहीं, इसकी बात नहीं करना चाहता। मैं कहना चाहता हूँ कि कॅलोनियलिज़्म का हिन्दी के भाषा स्वरूप में गहरा दखल है। उसमें एक है विमलेश कांतिजी जिसका जवाब दे रहे थे, हिन्दी को परिभाषित करने की बात, कोई भी विवाद जब शुरू होता है तो अंत में आकर अपने 'कांसेप्ट क्लीयर' करो, 'डिफाइन योर टर्म्स' पर आकर टिकता है। इस देश में शास्त्रार्थ में यही होता था। शास्त्रार्थ इस पर जाकर खत्म होता था। मुख्य मुद्दा अलग रह जाता था और प्रश्न होता था परिभाषा दो। प्रमाण पर बहस होती थी, प्रमाण-मीमांसा अंतिम हुआ करती थी। तो हिन्दी को क्या जगह मिले, हिन्दी का क्या स्थान है, कैसे विकास किया जाए? यह किनारे रखिए, पहले बताइए हिन्दी है क्या? आप अनजाने ही उस दुश्चक्र के शिकार हो रहे हैं जहाँ इतने वर्षों के बाद भी, शादी हो गई, चार बच्चे हो गए, उसके बाद कहें सचमुच यह तुम्हारी पत्नी है या नहीं? पहले यह बताओ।

यह बहस हो रही है और उस सिलसिले में मैं फिर कहूंगा यह बोलियों का सवाल नए सिरे से आप लोगों ने उठाया है। इतिहास ने 'बोली' और 'मानक भाषा' का निर्णय किया है। एक ज़माने में साहित्यिक बोली खड़ी बोली नहीं थी, बहुत कम थी। खुसरो ने लिखा था। कुछ-कुछ अपभ्रंश में खड़ी बोली थी। कबीर में कुछ मिलती थी। अवधी, ब्रज, मैथिली, राजस्थानी में साहित्य लिखा जाता था। एक लंबे इतिहास के क्रम में इस देश की जनता ने परिभाषा दे दी थी और उसके बीच से खड़ी बोली निकली थी। उर्दू में भी खड़ी बोली है, और हिन्दी में भी है। उर्दू ने बोलियों से कोई रिश्ता नहीं रखा। हिन्दी बराबर बोलियों के रिश्ते से जुड़ी रही। ब्रज और अवधी को उर्दू साहित्य ने क्यों नहीं स्वीकार किया? क्यों अब भी अपनी भाषा और साहित्य की चर्चा करते हुए सारी बोलियों को हिन्दी की बोली कहते हैं? दुनिया में कोई ऐसी भाषा नहीं है, जिसकी बोलियां न हों। अंग्रेज़ी की भी बोलियां हैं। बंगला की भी है, मराठी की भी है, कन्नड़ की भी हैं, मलयालम की भी हैं। सब की बोलियां हैं और बोली और भाषा के रिश्ते हैं। इतिहास और लिखित भाषा जब होती है तो साहित्य निर्मित होता है। इसलिए मैं समझता हूँ कि इतने दिनों के बाद मूल मुद्दे से ध्यान हटाने के लिए बहुत खतरनाक है कि यह जो 'पोस्टमॉडर्निस्ट, पोस्ट कॅलोनियलिज़्म

थिंकिंग' है, वह 'डिफरेंस' पर ज़्यादा ज़ोर देती है 'सिमीलैरिटि' पर कम। आप हिन्दी की बात कर रहे हैं, लोग कहते हैं कि इंडियन नेशन है कि नहीं, 'व्हाट इज़ इंडिया' ? 'डिफाइन' कीजिए। लोग कहते हैं एक दो नहीं, एक पूरी टीम है। पार्थो चटर्जी जैसे तमाम लोग यह लिख रहे हैं और कह रहे हैं कि यह जो नई सरकार बनी है इसमें केन्द्र और केन्द्रीय पार्टी नाम की क्या चीज़ है – अलग-अलग जिनको आप रीजनल कल्चर कहते हैं। आज के पालिटिशंस ने दिखा दिया है कि क्षेत्रीय संगठनों की यह सरकार है, जो वे चला रहे हैं।

मैं कहना चाहता हूँ कि इस पूरे सवाल की एक 'आइडियालॉजी' है। समाजवाद खत्म होने के बाद जो नया भूमंडलीकरण बना है, उसकी एक 'आइडियालॉजी' है, जो हमारे भाषा चिंतन को और भाषा के अस्तित्व को, 'एंपावरमेंट' को, परिभाषित कर रही है। मैं केवल इशारे ही कर रहा हूँ, इस पर बहुत लंबी-चौड़ी बात की जा सकती है। अनेक विद्वान बैठे हुए हैं, प्रकाश उपाध्याय हम लोगों से बेहतर जानते है, और कई लोग हैं। विश्व स्तर पर मैं खरे साहब से सहमत हूँ, ऐसा लालचाने के लिए कि विश्व भाषा हिन्दी को बनाना चाहिए, विश्व सम्मेलन लोग करते रहेंगे। 'रहने को घर नहीं, सारा जहाँ हमारा, विश्व भाषा बनाने चले हैं, राष्ट्रभाषा का कोई ठिकाना नहीं है आपका'। असल मुद्दे से ध्यान हटाकर थोड़े समय के लिए यू. एन. ओ. में लड़ते रहो। भ्रम पैदा करने के लिए ऐसा आकर्षण पैदा किया गया है। देश में ही लाले पड़े हुए हैं और खरे साहब कह रहे हैं कि इस वहम को अपने देश में दूर करने की कोशिश करें कि हिन्दी हम नहीं थोपना चाहते। सारी भाषाओं के बारे में बात कर रहे हैं। इस देश में मुद्दा अंग्रेज़ी बनाम हिन्दी नहीं है, इस देश में मुद्दा अंग्रेज़ी बनाम भारतीय भाषाएं हैं। सभी भाषाओं की दुर्गति है। तमिलनाडु में काम तमिल में नहीं होता, वहाँ भी अंग्रेज़ी में होता है जैसे कि उत्तर प्रदेश में होता है।

और यू. पी. एस. सी. वाले जो लड़ रहे हैं, वे भारतीय भाषाओं के लिए लड़ रहे हैं, खाली हिन्दी के लिए नहीं, उस पर कल चर्चा होगी। इसलिए विदेशी के लोग हिन्दी पढ़ाते हैं कि नहीं पढ़ाते हैं, अनुवाद करते हैं कि नहीं करते हैं, अपनी बला से। उनको गर्ज होगी, ज़रूरत पड़ेगी तब हम बात करेंगे। कोई वजह होनी चाहिए कि पहले उन्होंने तुलसीदास का अनुवाद किया था, उनकी अपनी हिन्दी की ज़रूरत थी, तुलसीदास को 'एक्सप्लायट' करना चाहते थे। अयोध्या में बहुत से सफेद चमड़ी

वाले डेरा डाले रहते थे, तुलसी उनको बहुत आकृष्ट करता है। फिर कबीर आकृष्ट करेगा। अपनी ज़रूरत से कब किसका अनुवाद होना चाहिए। अमरीकी विश्वविद्यालय में एक ज़माने में अचानक यह चला कि सूर, तुलसी को तो छोड़ो, नंद दास पर काम करो। आजकल कबीरपंथी अखाड़ों का काम हो रहा है। छोटे-छोटे चरणदासी संप्रदायों पर काम हो रहा है। उनकी अपनी ज़रूरत होगी, हिन्दी के किसी एक विषय पर, किसी एक काल पर, किसी एक कवि पर, किसी एक बोली पर अध्ययन करने की, करने दीजिए। करें तो ठीक, न करें तो ठीक। हम आप क्या करते हैं यह देखें। स्वयं हमारा अपना चयन क्या है इस अध्ययन के बारे में? अपने विश्वविद्यालयों में क्या है? हमारे यहाँ हिन्दी क्षेत्र के विश्वविद्यालयों में स्वयं इतिहास, समाज-विज्ञान, आदि में भी आज के लोग एरिया स्टडी करते हैं, उनकी क्या स्थिति है? बिहार पर आप काम करें और बिहार की बोलियों को न जानें। हिन्दी प्रदेश पर समाजशास्त्र का अध्ययन करने निकलें और आप खुद वह बोली न जानें। हमारे यहाँ आज तक हिन्दी विभागों का गहरा संबंध समाज विज्ञान से, इतिहास विज्ञान से नहीं बन सका है। पर्यावरण पर लोग काम कर रहे हैं, लेकिन उन इलाकों की बोलियों को, बाकी चीज़ों को जानते नहीं हैं। पेड़-पौधों की भाषा समझते हैं और उनसे जुड़े हुए लोगों की जिंदगी की भाषा नहीं समझते हैं। नर्मदा आन्दोलन पर काम करेंगे, पर्यावरण की कैसी वह किताब होगी जो नर्मदा घाटी पर रहने वाले लोगों की बोलियों को नहीं जानते हैं? उनकी भाषा, लोकगीतों, लोककथाओं को नहीं जानते हैं? कैसी यह 'एन्वाइरनमेन्टल' स्टडी होगी? हिन्दी को या भारत की भाषाओं को आप केवल अलग भाषा का विभाग बनाकर नहीं समझ सकते हैं। इसको बेहतर करुणाजी समझेंगी क्योंकि समाजशास्त्र पर हमारे यहाँ महत्त्वपूर्ण काम नहीं हो सके हैं। क्योंकि आप स्वयं वहाँ की भाषा संस्कृति से जुड़कर काम नहीं करते हैं। 'मेडीवल इंडियन हिस्टरी' पर आप काम करते हैं और यदि आप सूफी 'टैक्स्ट' नहीं पढ़ सकते हैं, आप संतों के 'टैक्स्ट' नहीं पढ़ सकते हैं तो क्या काम करेंगे 'मेडीवल इंडिया', 'अरली मेडीवल इंडिया' पर? ज़रूरत है कि हमारी भाषाओं के विभाग को आप विश्वविद्यालय के अंदर ही उसे जीवन से जोड़कर देखिए।

मित्रों, आखिरी बात मैं यह कहना चाहता हूँ, कि डा. रामविलास शर्मा ने बहुत साफ लिखा है और यह आज की सच्चाई है कि भारत में बहुत लोग ऐसे हैं जहाँ उच्चस्तर कायम हो गया है और जिसकी धरेलू भाषा अंग्रेज़ी है। इस स्तर के

लड़के-लड़कियां अपने मां-बाप से अंग्रेज़ी में पत्र व्यवहार करते हैं, अंग्रेज़ी के प्रोग्राम, अंग्रेज़ी की फिल्म देखते हैं, अंग्रेज़ी की किताबें लिखते हैं। यह जो 'ग्रेट इंडियन मिडिल क्लास' है, 1950 से लेकर अब तक इन पचास वर्षों में, यही नहीं कि आकार में सबसे बड़ी हुई है, प्रभाव में भी बड़ी हुई है, सत्ता पर भी आज ज्यादा कब्जा है। तमाम राजनीतिक पार्टियां इनके इशारे पर चलती हैं। इस वर्ग की अपनी भाषा, परिवार की भाषा अंग्रेज़ी हो गई है। इस समाज की भाषा अंग्रेज़ी हो गई है। यह वह वर्ग है, जो मध्यकाल में मुगल बादशाहों के साथ ईरान से आए हुए 'नोबल्स' थे, मनसबदार थे, उन लोगों की भाषा फ़ारसी थी। मुगलों की भाषा तो फ़ारसी नहीं थी? फ़ारसी तो ईरान के उन लोगों की भाषा थी जो उनके साथ थे। मुग़लों की भाषा तो तुर्की थी। लेकिन खुद अकबर बेपढ़ा-लिखा आदमी, अबुल फज़ल, फैज़ी की जबान को 'कोर्ट लैंग्वेज' बना रहा था तो टोडरमल उसका साथ दे रहे थे। हमेशा राजभाषा उन लोगों की भाषा होती है जिस वर्ग की हुकूमत होती है। सत्ताधारी वर्ग को एक ऐसी भाषा चाहिए जिसको आम जनता न समझे। लैंग्वेज, पावर का अभिन्न अंग है। स्टेट लैंग्वेज का मतलब है पावर। आजकल हिन्दुत्ववादी लोग पेशवों का बड़ा नाम लेते हैं, महाराष्ट्र में फ़ारसी थी मराठी नहीं थी। इसलिए यदि अटलजी हिन्दी की जगह अंग्रेज़ी बोलने लगें, तो अचंभा नहीं होना चाहिए हम लोगों को। एक वर्ग पैदा हो गया है जो सत्ता में बने रहने के लिए सत्ता की एक अलग भाषा अपनाता है। गनीमत है कि यह अंग्रेज़ी है, अगर अपने यहाँ फ्रेंच होते तो फ्रेंच होती। रूस में नोबल्स, जो ज़ार थे, फ्रेंच उनकी भाषा हुआ करती थी। रूसी नहीं थी। टॉल्सटॉय के उपन्यासों में आपको उस वर्ग के लोगों की भाषा फ्रेंच में बातचीत करते हुए दिखाई पड़ेगी। इसलिए अंग्रेज़ी इंगलैंड के कारण नहीं बल्कि खुद हमारे यहाँ का एक वर्ग ऐसा है जो ऐसी भाषा रखेगा जो आम जनता की भाषा न हो और यह वर्ग हिन्दी प्रदेश के लिए भी है, तमिलनाडु के लिए भी है, तमिल भी वहाँ नहीं होनी चाहिए, बंगला भी नहीं होने देगा। बहुत उछल-कूद बंगाल के लोग मचा रहे थे, 'कोलकाता' नाम बदल दिया। देश का नाम बदलना चाहते थे, सब कुछ करके देख लिया कुछ नहीं कर सके। बसु की वामपंथी सरकार ने वहाँ के स्कूलों से अंग्रेज़ी को निकाल दिया। वहाँ के मध्यम वर्ग ने, भद्रलोक ने दबाव डालकर कहा कि स्कूलों में अंग्रेज़ी चलेगी और आई। इसलिए यह पूरा मामला बहुत राजनीतिक है, बुनियादी रूप में उस राजनीति को समझने की बात है।

उस राजनीति में संयोग से जो चीज जुड़ गई है वह यह कि जिस भूमण्डलीकरण का ज़िक्र कर रहे थे, पहले अंग्रेज़ी जब थी तो जो साम्राज्यवाद था वह एक राज्य का था। अब 'मल्टीनेशनल्स' का है। उसके ज़रिए अब भाषा की समस्या का निर्णय करेगा मार्केट। हिन्दुस्तान एक बड़े बाज़ार के रूप में उनका ध्यान आकृष्ट कर रहा है और यह बाज़ार हिन्दुस्तान की कौन सी भाषा चाहता है, इससे तय होगा। अगर यह बाज़ार हिन्दुस्तान की अपनी भाषाओं में आना, उनके लिए विज्ञापन देना और माल बेचने के लिए मराठी की, तमिल की, हिन्दी की ज़रूरत है तो बाज़ार इसको स्वीकार करेगा और बढ़ाएगा। अगर अंग्रेज़ी से ही इस बाज़ार का काम चल जाता है, तो बाज़ार की नियामक भाषा ज़ाहिर है अंग्रेज़ी ही रहेगी। जैसे यूरोपियन यूनियन की अंग्रेज़ी हो गई है, तो रहेगी। टू टियर सिस्टम चलेगा, काम चलाऊ बाज़ार के टुकड़ों में तो वहीं की भाषा चलेगी। उसमें हिन्दी भी चलेगी, जैसी चल रही है। लेकिन नियामक भाषा अंग्रेज़ी रहेगी। नवशा यह है जो बहुत निराशाजनक है, लेकिन इसको तोड़ने के लिए एक संगठित आन्दोलन की ज़रूरत है। भाषा के लिए कल राजनजी कह रहे थे कि बापू ने अपने रचनात्मक कार्यक्रम में ज़िला स्तर से लेकर राष्ट्र स्तर तक एक आइटम रखा था। आज इस देश में आन्दोलन नाम की कोई चीज़ नहीं रह गई है।

आज हिन्दी के अध्यापक, हिन्दी के लेखक, हिन्दी के पत्रकार, ऐसा कोई आन्दोलन चलाते हैं, उस आन्दोलन की भूमिका बनाते हैं, तब तो कुछ उम्मीद बनती है। राजतंत्र से, उस सत्ताधारी वर्ग से अगर आप सोचते हैं तो कोई भविष्य नहीं है हिन्दी के लिए। न वे पढ़ते हैं, न पढ़ना चाहते हैं और न लिखते हैं। हिन्दी में अपनी किताबों का अनुवाद ज़रूर करवाना चाहते हैं। इसलिए यह जो दो दिन की गोष्ठी हो रही है नेहरू संग्रहालय में, इस गोष्ठी से वह दिशा तो दिखाई पड़ रही है, उसको प्राप्त करने के लिए आप क्या कर सकते हैं और हम लोग क्या कर सकते हैं, यह सोचने की बात है, जो ज़्यादा महत्त्वपूर्ण है।

दूसरा सत्र

ओम प्रकाश केजरीवाल : अब दूसरा सत्र आरंभ कर रहे हैं, इसकी अध्यक्षता कर रहे हैं अशोक वाजपेयीजी। इसमें तीन पर्चे पढ़े जाएंगे, गुणाकर मुलेजी का 'विज्ञान में हिन्दी', महेश चन्द्र गुप्त का 'कार्यालयों में हिन्दी' और बलदेव वंशी का 'लोकसेवा परीक्षाओं में हिन्दी'।

अशोक वाजपेयी : दुर्भाग्य से मैं सुबह के सत्र में नहीं था इसलिए मुझे ठीक से नहीं मालूम है कि उसमें क्या हुआ। बहरहाल इस सत्र में हम तीन क्षेत्रों में हिन्दी की दशा और संभवतः दिशा पर बातचीत करेंगे। आप जानते है गुणाकर मुले वर्षों से हिन्दी में विज्ञान के क्षेत्र में लिखने वालों में अग्रणी हैं और बड़े विचारक हैं। कार्यालयों में हिन्दी की क्या स्थिति है, इस पर श्री महेशचन्द्र गुप्त और हमारे कवि मित्र डा. बलदेव वंशी, जो वर्षों से लोक सेवा परीक्षाओं में हिन्दी की दुर्दशा पर कहते-सुनते रहे हैं। सबसे पहले मैं डा. गुणाकर मुले से आग्रह करता हूँ कि वे 'विज्ञान में हिन्दी' विषय पर अपना वक्तव्य दें।

आलेख पाठ : गुणाकर मुले

चर्चा

अशोक वाजपेयी : मित्रों, आपने गुणाकर मुले का एक बहुत ही विचारोत्तेजक और तथ्यपरक विश्लेषण से भरपूर निबंध सुना। इसके पहले कि हम अगले निबंध पर जाएं, इस पर चर्चा कर लेना उचित होगा।

श्रोता : जैसा आपने कहा कि यह बहुत ही तथ्यपूर्ण था लेकिन सबसे ज़्यादा यह बहुत मनोरंजक था। जैसा कि हम लोगों को आशा थी। हिन्दी में विज्ञान की पुस्तकों का अनुवाद या लेखन में पॉपुलर या लोकप्रिय विज्ञान नहीं, विकसित विज्ञान के लिए 'टेक्नीकल टर्म्स' की क्या समस्याएं आती हैं उनका पता चले? 'टेक्नीकल टर्म्स' इतनी लंबी होती हैं कि उन्हें समझने में ही सारा समय लग जाता है। उसके बाद आप विज्ञान के तथ्य नहीं समझ सकते। आपने कई बार कहा कि यह कोई समस्या नहीं है। मुझे लगता है, हम सब अनुभव करते हैं कि यह समस्या सबसे बड़ी समस्या है। छोटी क्लास में भी विज्ञान पढ़ाने में इतने मुश्किल शब्दों का हमें सामना करना पड़ता है कि जिन को समझने में मेहनत करनी पड़ती है। दूसरी बात, आपने बताया कि भावनगर के साल्ट रिसर्च इंस्टीट्यूट के साइंटिस्ट नमक पर लिख सकते हैं, फिर आपने बताया कि एक और संस्थान के साईंटिस्ट ने डी.एन.ए. पर काम किया है, तो डी.एन.ए. के लिए वह क्या वर्ड्स यूज़ करेंगे अगर वह डी.एन.ए. पर हिन्दी में साइंस की किताब लिखेंगे?

गुणाकर मुले : मैं समझता हूँ अपने इस निबंध में मैंने उसकी चर्चा की है। मैं इस समस्या के बारे में कहना चाहता था और वही बात मैंने कही है। जहाँ तक मेरे लिखने की बात है, मैंने केवल पॉपुलर ही नहीं लिखा है, मैंने 'पार्टीकल फिजिक्स'

पर भी लिखा है, चुनौती के तौर पर लिखा है। कल यदि 'क्वांटम फिजिक्स' पर मुझे लिखने को कहा जाए तो मैं समझता हूँ मुझे कोई दिक्कत नहीं होगी। यह सारे लोग जिनको मैंने देखा, जैसे लालजी सिंह ने डी.एन.ए. फिंगर प्रिंट की बात समझाई अगर उस हिन्दी में, दो-चार शब्द अंग्रेज़ी के आ जाएं या जो रूढ़ हो गए हैं वे शब्द आ जाएं तो उससे हमें बहुत परेशान नहीं होना चाहिए, लेकिन कहीं न कहीं तो हमें शुरुआत करनी होगी। आपने एक बात नोट की होगी, ये जो डिक्शनरियाँ हैं सबसे ज़्यादा खतरा इनका है। हमारी हिन्दी बिगड़ती जा रही है, हम केवल डिक्शनरियों में समानांतर शब्द खोजते हैं। उनके खोजने के बहुत चक्कर में नहीं पड़ना चाहिए। आप विषय को समझ लीजिए और अपनी भाषा में अपना लीजिए। शब्दशः अनुवाद क्यों करते हैं। आप कहानी का अनुवाद करते है, कविता का अनुवाद करते हैं तो उसमें जो आज़ादी लेते हैं, विज्ञान के अनुवाद में क्यों नहीं लेते? मैं ऐसा कर चुका हूँ, चालीस साल से कर रहा हूँ। ठीक है कुछ चीजें हैं, जैसे रसायन के फारमूले है और कई चीजें है जो हमें लेनी होंगी और जो इंटरनेशनल बनी हुई है। मैं आपको एक उदाहरण देता हूँ। ये जो हमारी संख्याएं हैं, 1,2,3,4 जिनको हम वन, टू, थ्री, फोर कहते हैं, इन्हें ही हम अपना कहकर क्यों नहीं अपनाते। जो 'इंटरनेशनल न्यूमरल्स' हैं वे हमारे देश के न्यूमरल्स हैं, हमारे अपने न्यूमरल्स हैं, भारत से गए और विदेश से वापिस आए हुए हैं। हमें अपनी बहुत-सी चीज़ों का पता नहीं है। जो शब्दकोश तैयार किए गए हैं, उनकी शब्दावली जबरदस्ती का अनुवाद है। हमारे यहाँ प्राचीनकाल में भी शास्त्र लिखे गए हैं। बहुत सारी आयुर्वेद की शब्दावली तैयार है, और भी कई विषयों की, रसायन की शब्दावली तैयार है।

जहाँ ज़रूरत है, जैसे कंप्यूटर है, रेडियो है, इस तरह के शब्द आप लेते रहिए, उसमें कोई दिक्कत नहीं है। हरेक शब्द का अनुवाद करेंगे तो भाषा ज़रूर बोझिल बनेगी। इसमें कोई शक नहीं है और यह बोझिल बनाई जा रही है। मेरे ख्याल से इसमें बनाने वालों की कमज़ोरी है, वरना कम से कम स्नातक कक्षा तक तो हम बड़े मज़े में पुस्तकें सरल भाषा में प्रस्तुत कर सकते हैं। जो 'फ्रंटियर लाइन' है शोध की, उसमें तो और भी दिक्कत नहीं है। मुझे लगता है हिन्दी में बड़े मज़े से संपूर्ण विज्ञान लिखा जा सकता है।

मैंने पचास साल की बात की थी। मैंने कहा था कि जब मैंने लिखना शुरू किया कम से कम, पहले से थोड़ी बहुत परंपरा रही है लिखने की। उस समय से ही यदि

उसकी बुनियाद में यह व्यवस्था होती जिसका आज आप ज़िक्र कर रहे हैं, जो बिगड़ गई है तो स्थिति और अच्छी होती लेकिन आज जो बिगड़ गया है इसके लिए हम पचास साल और मांगें, यह बात ठीक नहीं है। कहीं न कहीं हमें रुककर, सोचकर आज से ही उसकी तैयारी करनी होगी। मैं अपनी प्रयोगशालाओं की बात कर रहा हूँ। केवल हम लोग बाहर के विज्ञान लिखकर जो चाहें, वह बात अब बनने की नहीं है। यह मैं भी अब अच्छी तरह से जानता हूँ, अकेला चना भाड़ नहीं फोड़ सकता। तो यह जो हमारी शक्ति है वैज्ञानिकों की, जो हमारी संस्थाओं में मौजूद है, जिनको सुविधाएं नहीं मिल रहीं, अब उनको अंग्रेज़ी भी आती है, हिन्दी भी आती है। उसका लाभ हम कैसे उठा सकते हैं कि ये जो पचास साल हमारे व्यर्थ गए, इसकी ओर किसी का ध्यान नहीं जा रहा है। और कोई 'करेक्शन' इसके लिए हमारे पास दिखाई नहीं दे रहा। कैसे होगा? शासन की ओर से होगा? कहीं कुछ दिखाई नहीं देता। ...

अब हम गड़े मुर्दे बहुत ज्यादा नहीं उखाड़ सकते। आज से 40-50 साल पहले जिन लोगों ने हमें आज़ाद भारत दिया – हमने होश भी नहीं संभाला था – अब उनके लिए हम क्या कर सकते हैं? यदि वे तब भटनागर और भाभा को समझाते कि हिन्दी के लिए भी कुछ आदर का स्थान रखो तब तो आज कुछ बात बनती। आज तो उनको हिन्दी लिखने की कोई सुविधा नहीं, हिन्दी को कोई प्रोत्साहन नहीं, बल्कि विरोध है। हिन्दी में कोई लिखता है तो मैंने उदाहरण आपको बताए कि हम इस स्थिति पर पहुँच चुके हैं। अब यदि हम हिन्दी की चर्चा करते हैं, तो क्या मिलता है? मेरा संक्षेप में यही कहना है कि एक समय ज्ञान-विज्ञान के मामले में भी हिन्दी का सम्मान होता था। दीक्षितजी का भारतीय ज्योतिष पढ़ने के लिए लोगों ने मराठी सीखी है। ओझाजी की प्राचीन भारतीय लिपिमाला को पढ़ने के लिए लोगों ने हिन्दी सीखी है। वैसे साहित्य की तो बहुत चर्चा होती है, थोड़ी-सी कहानियां लिख लीजिए, थोड़े से कविता-संग्रह छपवा लीजिए, हर जगह आप संस्थाओं के अध्यक्ष बन जाते हैं, कमाल है! क्यों, यह क्यों हो रहा है? कोई यदि इतिहास-पुरातत्त्व या विज्ञान के क्षेत्र में मानक ग्रंथ लिखता है, तो हिन्दी में आजकल उसकी कोई पूछ नहीं, पहले होती थी। पहले साहित्य अकादमी में होता था कि जो साहित्येतर कुछ लिखता था उसको भी साहित्य अकादमी का पुरस्कार मिलता था, अब केवल कविता और कहानी वालों को मिलता है। ऐसा क्यों होता है? हम लोग किस ओर जा रहे हैं?

हमने एक बात और शुरू में उठाई थी कि दूसरी भाषाओं की हम हिन्दी वालों ने कोई कद्र नहीं की। मराठी का नाटक साहित्य बहुत अच्छा है। बंगला का बहुत सारा है। दूसरों की कद्र क्यों नहीं करते हैं? इसीलिए मैंने जो योजना आपके सामने रखी है यदि कोई उसको कर सके, अंग्रेज़ी से अनुवाद नहीं करवाइए, एक ही प्रयोगशाला में विभिन्न भाषाएं जानने वाले लोग हैं। गुजराती से मराठी में करवाइए, हिन्दी में करवाइए, हिन्दी से गुजराती में करवाइए, कोई इसका दूसरा भाषा-भाषी विरोध नहीं करेगा। इस योजना को क्यों नहीं आजमाते? पैसे की जहाँ तक बात है, वह वहीं मौजूद है। मैं इनके कच्चे चिट्ठे आपको नहीं बताना चाहता था। ऐसी स्थिति में सौ साल भले ही बीत जायें। ...

श्रोता : मैं यह जानना चाह रहा था कि आप बहुत सारी प्रयोगशालाओं में गए हैं, बहुत सारे स्थानों पर गए हैं। विश्व में तीन महीने में जानकारी की दृष्टि से यदि सौ अनुसंधान होते हैं जिनको मान्यता मिलती है तो भारत के वैज्ञानिक कितने अनुसंधान मौलिक देते हैं विश्व को?

गुणाकर मुले : शुरू में मैंने कहा कि उस क्षेत्र के बारे में मैं यहाँ नहीं बताना चाहता, बहुत दुखदायक बात है। आप यदि एक 'सेंटेंस' में जानना चाहते हैं तो पूरे पचास साल में इन्होंने कुछ भी नहीं किया है। जो किया है वह बिलकुल सामने नहीं आएगा। एक जगह भी काम हो रहा है, दूसरी जगह भी हो रहा है। कोई किसी को यह नहीं बता रहा कि मैं काम कर रहा हूँ। उसके नतीजे हम देख चुके हैं कि हम कितना विज्ञान 'प्रोड्युस' कर रहे हैं। ये सारे के सारे बाहर से 'प्रोजेक्ट' ले आते हैं। हर तीसरे महीने बाहर जाते हैं। इनके गोरखधंधे इतने लंबे हैं कि महाभारत रचा जा सकता है।

उसकी वजह यह है कि आज का शासन भी भारतीयता की, भारतीय संस्कृति की बहुत बात करता है, लेकिन जब हमें आज़ादी मिली – मैं पुराणपंथी नहीं हूँ, मेरे बारे में सभी जानते हैं – अपनी भाषाओं को, अपनी परंपराओं को हमने 'निग्लेक्ट' किया, या बिलकुल छोड़ दिया, ये उसी के परिणाम हैं। मैंने अपने लेख में कहा है कि मैं अंग्रेज़ी का विरोधी नहीं हूँ, अब भी उसका सबसे ज्यादा उपयोग करता हूँ, लेकिन अपने वहाँ से टूटा नहीं हूँ, अलग नहीं हूँ। इन्होंने अलग रखा है। मैंने हिन्दी में लिखना क्यों चालू किया, सोचा था राजभाषा बन रही है, इसमें लिखूंगा, गौरव

होगा, सब कुछ होगा। लेकिन यहाँ तो अंग्रेज़ी के ढाबे खुल रहे हैं, अंग्रेज़ी के बग़ैर कुछ चल ही नहीं सकता। हमने बहुत बाद में चालू की थी ए, बी, सी, तो यह उल्टा क्यों हुआ? बहुत ज़्यादा सोचने की ज़रूरत नहीं है, लेकिन अब यदि जल्दी से जल्दी सीधा हो सकता है तो उसको करने की ज़रूरत है।

पंकज बिष्ट : आपने अभी कहा कि मूलतः जितना अनुसंधान है मौलिक रूप से हमारे यहाँ हुआ नहीं है। जो समाज कोई मौलिक अनुसंधान न कर रहा हो, वह शब्द कहाँ से लाएगा? उस 'टर्मिनॉलजी' के जिसके बग़ैर काम ही नहीं चल सकता, उसके अनुवाद के बग़ैर कैसे काम चलाएंगे?

गुणाकर मुले : मेरे भाई पंकजजी ने मुझे कुरेदा है, लेकिन हमारे उच्चाधिकारी मुझे कहते हैं कि उन्हें भारतीय भाषाओं में 'पेपर' नहीं चाहिए। भारत की पत्रिकाओं में छपे हुए 'रिसर्च पेपर' भी नहीं चाहिए, मुझे विदेशों में छपे हुए 'पेपर' चाहिए। यह हमारे यहाँ के वर्तमान शासकों की दृष्टि है। आप समझ लीजिए। उन्हीं की प्रयोगशाला में मुझे सुनने को मिला कि हमारे यहाँ जनता के लिए कुछ नहीं है, सीधा टाटा-बिड़ला से हमारा संबंध है। इसीलिए मैंने कहा था कि उस क्षेत्र में मैं नहीं उतरना चाहता। उसके बारे में भी मैं लिखता हूँ, लेकिन वह अलग विषय है। यह भाषा का सवाल है और हिन्दी का सवाल है। मैं केवल हिन्दी की बात नहीं करता, मैं सभी भारतीय भाषाओं की बात करता हूँ, ज्ञान-विज्ञान के मामले में हमें केवल हिन्दी के बारे में नहीं सोचना चाहिए। हिन्दी वालों को भी केवल हिन्दी के बारे में नहीं सोचना चाहिए, इससे बहुत अहित हो चुका है। अब हमें कम से कम ज्ञान-विज्ञान के मामले में सभी भाषाओं को एक साथ लेकर चलना है और मेरे ख्याल से सुबह से यही स्वर उभरता रहा है।

ओम प्रकाश केजरीवाल : मुलेजी ने कहा कि कभी न कभी तो शुरूआत करनी पड़ेगी। पचास साल हमने गवां दिए तो इस संदर्भ में हमें याद आता है, मध्य प्रदेश के जो प्रथम मुख्य मंत्री थे पं. रवि शंकर शुक्ल उन्होंने अपने अधिकारियों को बुलाया और कहा कि अगर यहाँ का सारा काम हिन्दी में शुरू करना हो तो कितना समय लगेगा? उन्होंने कहा करीब दो साल। तो रवि शंकर शुक्ल ने कहा समझ लीजिए कि कल दो साल पूरे हो गए और अब हिन्दी में कार्य कल से शुरू हो जाना चाहिए और शुरू हो गया। जहाँ तक विज्ञान में अनुवाद की बात है, किस बुद्धिहीन तरीके

से होता है, इसका एक उदाहरण मैं दे सकता हूँ। प्रकाशन विभाग से एक किताब छपी है 'कंप्यूटर्स' पर। संयोग से वह हमारे वहाँ 'ज्वाइन' करने के पहले छप गई थी। उसमें कई ऐसे उदाहरण हैं। मुझे दो याद हैं। एक शब्द है 'जायन्ट रोबो' उसका अनुवाद किया गया है 'राक्षस रोबो'। बड़ा आसान था बड़ा रोबो, इसमें देखिए एक शब्द 'जायन्ट' का अनुवाद किया है, 'रोबो' का नहीं। उसी तरह से एक फ्रेज़ था 'बबल मेमरी', कंप्यूटर के बारे में। उसका अनुवाद किया गया 'बुदबुद स्मृति'। यह दो उदाहरण मुझे याद हैं, इस तरह से कई हैं। ऐसा अनुवाद नहीं होना चाहिए।

अशोक वाजपेयी : मित्रो, अभी डा. मुले ने जो बातें कहीं, मोटे तौर पर देखें तो किसी भी भाषा में अगर वैज्ञानिक लेखन पर्याप्त और प्रचुर नहीं है तो उसकी प्रतिष्ठा नहीं बन सकती। दूसरा, हिन्दी और अन्य भारतीय भाषाओं में विज्ञान लेखन देश के आज़ाद होने और सरकार के यह तय करने के बाद कि राजभाषा में यह होगा, शुरू नहीं हुआ है। इसलिए इस पूरी परंपरा से शायद हम विपथगामी हो चुके हैं। तीसरा यह कि इंतजार करने की कोई ज़रूरत नहीं है, हर भारतीय भाषा में बुनियादी तौर पर यह सामर्थ्य है कि उसमें सूक्ष्म से सूक्ष्म, कठिन से कठिन, जटिल से जटिल विचार किया जा सके। चौथी बात यह कि हिन्दी सिर्फ अकेले इस संघर्ष में कुछ नहीं कर सकती। संघर्ष की एक बिरादरी है जो दूसरी भारतीय भाषाओं के साथ ही मिलकर बन सकती है। पाँचवीं, व्यावहारिक बात, खुद अपने अनुभव से भी बताई कि तरह-तरह के वैज्ञानिक हैं जिन्हें यह भ्रम है, जैसे हमारे नौकरशाहों को यह भ्रम है कि उनको अंग्रेज़ी आती है। यह बात मैं, एक बहुत वरिष्ठ नौकरशाह की पूरी ज़िम्मेदारी से कह रहा हूँ, जिस भारतीय प्रशासन सेवा का मैं सदस्य रहा हूँ, उसके लगभग 60 प्रतिशत सदस्यों को सही और ताज़ातरीन अंग्रेज़ी नहीं आती है। खैर यह अलग विषय है, इस पर पहले से नहीं आ जाना चाहिए। 'वैज्ञानिक विभागों' में और वैज्ञानिक प्रयोगशालाओं में हिन्दी की सुविधा नहीं है। मैं जब भारत सरकार के मानव संसाधन विकास मंत्रालय के संस्कृति विभाग में संयुक्त सचिव होकर आया तो मुझे मित्रों की बहुत चिट्ठियां मिलीं। चिट्ठी लिखने के लिए मैंने अपने 'स्टेनो' को बुलाया। चूंकि मैं एक ऐसे प्रदेश (मध्य प्रदेश) से आया था जिसमें 80 से 85 प्रतिशत काम रविशंकर शुक्ल के ज़माने से ही हिन्दी में होता आया है – हालांकि मैं अंग्रेजी साहित्य का विद्यार्थी हूँ, मेरी सारी वैध शिक्षा अंग्रेज़ी की है, मैंने सोचा उनको एक जवाब भेज दूं। तो मैंने बिना जाने 'डिक्टेशन' देना शुरू किया तो उसने कहा साहब मुझे तो हिन्दी नहीं आती है। मैंने कहा कोई और है, तो

एकदम उसने मेरा चेहरा देखा – बड़े अफसर का चेहरा देखकर लोग भांप लेते हैं – और चला गया। दस मिनट बाद उसने मुझे फोन पर कहा कि हिन्दी का हमारे विभाग में कोई 'स्टेनोग्राफर' ही नहीं है। मैंने फिर कहा कि संस्कृति विभाग में कहीं है तो उसने कहा राष्ट्रीय संग्रहालय में है। उसका वहाँ कोई इस्तेमाल नहीं है। मैंने ओम्प्रकाश को वहाँ से अपने पास बुलाया और पाँच साल वह मेरा 'स्टेनोग्राफर' रहा। बहरहाल यह कुछ बातें, मुद्दे उभरकर आए हैं। यह बात किसी न किसी ने ज़रूर कही होगी कि हिन्दी ने अपने को बहुत ज़्यादा राज-भरोसे कर रखा है। उसका जो असली भरोसा था समाज का, वह सिकुड़ गया है। राज बहुत बढ़ गया है। हम सारी उम्मीद सरकार से करते हैं। एक-दो अपवाद छोड़ दें तो हिन्दी प्रदेश अधिक प्रधानमंत्री देता है। वह अपने चालीस करोड़ लोगों की भाषा को स्वयं अपनी जगह, अपने प्रदेश में सम्मान नहीं दे पाया। स्वयं हिन्दीभाषी राज्यों ने मिलकर कभी यह तय नहीं किया है कि हम 'कलेक्टर' को कलेक्टर कहेंगे, कहीं ज़िलाध्यक्ष कहते हैं, कहीं ज़िलाधीश कहते हैं, इसी तरह 'एग्जीक्यूटिव इंजीनियर' को कहीं समाहर्ता कहते हैं, कहीं कार्यपालन मंत्री कहते हैं, कहीं कार्यपालिक अभियंता कहते हैं इत्यादि। प्रश्न यह है कि अब बहुत हद तक दीन-हीनता के पचास वर्ष गुज़र चुके हैं। हमने राजभाषा होने की नहीं राजभाषा न बन पाने की स्वर्णजयंती अभी हाल में मनाई है। हम यह मानते थे कि हमारा विकास इसलिए हो जाएगा कि हमारी राजभाषा है। हम यह भूल गए कि राजभाषा बनी ही इसलिए थी कि यह जनभाषा थी। सबसे बड़ी जनभाषा थी यह इस देश की, इसलिए राजभाषा बनी। किसी ने हम पर कृपा नहीं की। यदि हम दूसरी भारतीय भाषाओं को उनकी उचित जगह न देकर राजभाषा के रूप में हिन्दी को रानी बनाकर बैठायें और बाकी सब दासियां और चेरियां हो जाएं, तब अलग बात है। एक तरह की नई उग्रता और हिन्दी को लेकर एक नए तरह की आक्रमकता की शुरूआत होनी चाहिए। बहुत दिनों तक हमने दीन-हीन और बड़ी आपने कृपा की, की प्रवृत्ति अपनाई है। मुक्तेजी ने बहुत दिलचस्प बात कही कि इस भाषा को अनुवाद की भाषा बनाकर नष्ट किया जा रहा है। जिस भाषा में इतने वर्ष पहले विज्ञान के बारे में लेखन संभव था, ऐसा कौन-सा बड़ा दार्शनिक, मौलिक चिंतन हमारे वैज्ञानिक कर रहे हैं, वह छोड़ दीजिए, वे होंगे, एक प्रतिशत बहुत अधिक होता है। 0.2 प्रतिशत जो मौलिक चिंतन कर रहे होंगे। वह मौलिक चिंतन जिस भाषा में करना चाहें करें। बाकी जो चिंतन है वह हिन्दी में क्यों नहीं हो सकता? क्योंकि वह मौलिक चिंतन नहीं है। हम यह मानकर

पहले से चल रहे हैं कि हमारी कमतर दर्जे की भाषा है, जिसको मानने का कोई औचित्य इस भाषा की परंपरा में, इसकी बौद्धिक परंपरा में, इसकी सृजनात्मक परंपरा में नहीं है, न इस देश की परंपरा में है। बहरहाल, अब महेशचन्द्र गुप्त 'कार्यालयों में हिन्दी' के बारे में बताएंगे।

आलेख पाठ : महेश चन्द्र गुप्त

चर्चा

श्रोता : जो हिन्दीभाषी प्रदेश, मध्य प्रदेश या उत्तर प्रदेश इत्यादि हैं, उनमें कितना प्रतिशत काम हिन्दी में हो रहा है और कहाँ तक हो रहा है?

महेश चन्द्र गुप्त : मैं समझ रहा हूँ कि आप केन्द्रीय कार्यालयों की बात कर रहे होंगे। या आप राज्य सरकारों के कार्यालयों की बात कर रहे हैं?

श्रोता : राज्य सरकार के कार्यालयों की बात कर रहा हूँ।

महेश चन्द्र गुप्त : राज्य सरकारों का जहाँ तक प्रश्न है, उनसे मेरा कोई सरोकार नहीं है, क्योंकि मैंने कभी किसी राज्य सरकार में काम नहीं किया और न ही मैं उनके बारे में जानकारी रखता हूँ।

अशोक वाजपेयी : जहाँ तक मैं जानता हूँ, क्योंकि एक राज्य सरकार में मैं 26-27 वर्ष तक रहा हूँ। मध्य प्रदेश में आज से 9-10 साल पहले लगभग 90 प्रतिशत काम हिन्दी में होता था और दस प्रतिशत अंग्रेज़ी में। मुझे ऐसी गलतफहमी हो सकती है कि यह प्रतिशत गिरा है, लेकिन उत्तर प्रदेश में तो हिन्दी में काम करने का प्रतिशत कभी भी बहुत अच्छा नहीं रहा है। बिहार की अपनी भाषा है। वह तीन लोक से न्यारा है, उसका क्या।

महेश चन्द्र गुप्त : आपने सारी बातें कह दी हैं। जहाँ तक दक्षिण की बात है, वहाँ केन्द्रीय कार्यालयों में, बैंक आदि में हिन्दी की स्थिति ठीक है। पोर्ट ट्रस्ट वगैरह में हिन्दी का काम केवल दिखावे के लिए हो रहा है। हमने सलाहकार समिति में रहने से लोगों को प्रोत्साहित किया, भले ही हिन्दी में अधिकारी न लिखें, हस्ताक्षर हिन्दी में करें। उस भाषा की कोई प्रतिष्ठा होनी चाहिए, आदर होना चाहिए, इसलिए आज लोग बहुत चाव से हिन्दी सीख रहे हैं। क्योंकि लोगों को यह

विश्वास है, आज नहीं तो कुछ साल बाद हिन्दी पूरे देश की संपर्क भाषा, संप्रेषण की भाषा बनेगी। यहाँ तो दंड का कोई प्रावधान नहीं है इसलिए स्वैच्छिक रूप से पढ़ते हैं।

श्रोता : अभी डा. महेश चन्द्र गुप्त ने काफी बातें कहीं। दरअसल मैं भी इस कार्य से थोड़ा जुड़ा रहा हूँ और इसलिए मैं दो-तीन बातें बताऊंगा। एक तो राजभाषा विभाग ने ही कुछ ऐसा लोगों को भ्रम दिया कि अगर आप हिन्दी में दस्तख़त कर देंगे तो वह पत्र हिन्दी में भेजा हुआ माना जाएगा। दूसरे यह जो अग्रेषण पत्रों वाली बात आपने कही, पूरी रिपोर्ट आप अंग्रेजी में तैयार कीजिए और अग्रेषण पत्र अगर हिन्दी में है तो मान लिया जाएगा कि रिपोर्ट हिन्दी में भी आई। दूसरे जो आंकड़ों का खेल हुआ, उसने चक्कर यह है कि लोगों ने यह भी लिखा कि हमारे यहाँ 100 प्रतिशत काम हो रहा है। इकतीस साल से कवायद हो रही है और कोई गिनने वाला नहीं है कि कौन कितना काम कर रहा है। बल्कि जो लोग काम कर रहे थे, उन्हें इतना हतोत्साहित कर दिया गया कि उन्होंने कहा कि मैं तो अंग्रेज़ी में भी कर सकता हूँ, जिस-तिस से लड़ने की क्या ज़रूरत है। हालत यह है कि सरकार के कार्य करने के तरीके संदिग्ध हो गए हैं। जैसे कि राजभाषा कह दिया, अध्यादेश आ गए, आदेश भी आ गए। इसका खराब परिणाम यह हुआ कि सरकार अगर यह एक दिन कह दे कि सब लोग दफ़्तर में नहाकर आएंगे तो लोग नहाकर जाना बंद कर देंगे। अगर यह राजभाषा हमने न बनाई होती तो ऐसी स्थिति नहीं आती। आज घोषित करवा दीजिए कि हिन्दी हमारी राजभाषा नहीं है, अंग्रेज़ी है, तो मैं समझता हूँ जन-आन्दोलन होंगे। नामवरजी ने जो बात कही थी सुबह, मैं अक्सर यह कहा करता हूँ कि बैंकों में लिखा हुआ है कि हिन्दी में लिखे हुए चैक स्वीकार किए जाते हैं और लोग नहीं काटते। अगर बैंक यह लिख दे कि यहाँ हिन्दी में लिखे हुए चैक स्वीकार नहीं किए जाएंगे तो आप देखिए लोग आन्दोलन करने पर उतारू हो जाएंगे। तो मूल कारण क्या हुआ कि हिन्दी में काम करने वालों को उस तरह प्रोत्साहित नहीं किया। डा. गुप्त यहाँ बैठे हैं, बहुत कम लोग हैं हिन्दी में काम करने वाले जिन्हें मैं प्रेम और आदर करता हूँ। महेशजी उनमें से एक हैं। इन्होंने बहुत निष्ठा से काम किया है।...

तो डा. महेश चन्द्र गुप्त ने जो आंकड़ों की बात कही, इसमें आंकड़ों की धोखाधड़ी के कारण लोगों में हिन्दी के प्रति, हिन्दी अधिकारियों के प्रति, हिन्दी विभागों के प्रति, राजभाषा विभागों के प्रति और पुरस्कारों के प्रति कोई आस्था नहीं

रही। एक आदेश आया राजभाषा विभाग से कि जो व्यक्ति हिन्दी में सबसे ज्यादा काम करेगा, उसको आप इतना पुरस्कार दीजिए। मैंने कहा मेरे यहाँ तो बीस आदमी यह काम कर रहे हैं, जितने शब्द आपने निर्धारित किए है, एक आदमी को पुरस्कार देंगे तो इससे हिन्दी आगे बढ़ेगी या पीछे हटेगी। मैं उस एक पुरस्कार को बीस नहीं करा पाया और यह हठधर्मिता थी। 'नेमप्लेट्स' तैयार करने के बारे में कोई स्पष्ट आदेश नहीं है कि कार्यालयों में नेमप्लेट अगर लगे तो हिन्दी ऊपर हो और आगे की तरफ हो। उल्टा लगा देंगे, राजभाषा अधिनियम की कार्यवाही पूरी हो गई, द्विभाषिक हो गया, अंग्रेज़ी आगे, हिन्दी पीछे। मूल संकट निष्ठा का संकट है। डा. महेश चन्द्र गुप्त ने जो बातें कहीं मैं उनकी बातों से पूरी तरह सहमत हूँ।

श्रोता : अभी आपने अद्यतन आदेश का जो ज़िक्र किया कि ऐसा करना होगा। अगर कोई नहीं करता तो क्या किया जाएगा?

महेश चन्द्र गुप्त : यहाँ पर मैं एक मैनुअल लाया हूँ भारत सरकार का।

श्रोता : कोई पनिशमेंट नहीं है।

महेश चन्द्र गुप्त : देखिए आप किताब के आधार पर बोलिए, बिना किताब के मत बोलिए। यह भारत सरकार का मैनुअल है, गृह मंत्रालय का इसमें पृष्ठ तेरह पर लिखा है पढ़ कर सुना देता हूँ:- केन्द्रीय सरकार के प्रत्येक कार्यालय के प्रशासनिक प्रधान का यह उत्तरदायित्व है कि वह सुनिश्चित करे कि राजभाषा अधिनियम और राजभाषा नियमों के अधीन जारी किए गए निदेशों का समुचित अनुपालन हो। यदि कोई कर्मचारी या अधिकारी जानबूझकर राजभाषा के बारे में लागू प्रावधानों की अवहेलना करता है तो प्रकरण में संबंधित नियमों और आदेशों के उल्लंघन होने के आधार पर कार्यवाही की जा सकती है। कार्यवाही क्या होती है? कोई कर्मचारी प्रतिदिन लेट आता है तो वह केन्द्रीय सिविल सेवा आचरण नियमावली के अधीन नियम 16 के अंतर्गत दंड का पात्र है। 'माइनर पेनल्टी' का पात्र है। उसी प्रकार राजभाषा नियमों के उल्लंघन पर उसके विरुद्ध अनुशासन की कार्यवाही की जा सकती है। यह गृह मंत्रालय का 22 अगस्त 1989 का आदेश है। फिर सब भारत सरकार के कर्मचारी, अधिकारी इस बात को भली प्रकार जानते हैं, उसमें लिखने की आवश्यकता कहीं नहीं होती। जितने नियम-कानून भारत

सरकार के कर्मचारियों-अधिकारियों के लिए बने हैं, उसमें यह बात स्पष्ट है कि सी.सी.एस. कंडक्ट रूल के अधीन नियम तीन के अनुसार अगर कोई कर्मचारी या अधिकारी किसी प्रकार का उल्लंघन करता है, रेडियो पर सरकार के विरुद्ध भाषण देता है, दूरदर्शन पर इस प्रकार की वार्ता करता है, जो उसको नहीं करनी चाहिए तो वह लघुशास्ति का, माइनर पेनल्टी का पात्र है। भारत सरकार के कानूनों में यह नहीं लिखा कि इतनी रिश्वत लेगा तो इतने दंड का पात्र होगा। नियम 16 के अंतर्गत उसको 'मेजर पेनल्टी' दे दी जाएगी, बस यही है। पूछने की आवश्यकता कहाँ है? किन्तु दूसरी बात पर आएं कि क्या हमें ऐसा करना चाहिए। करना इसलिए उचित नहीं लगता कि अगर मानो सरकार यह रखे भी, दण्ड भी दे तो भी क्या होगा? दण्ड वाला व्यक्ति फिर कोर्ट में जाएगा और फिर क्या करेगा? इसीलिए मुझे एक लेख लिखना पड़ा पिछले दिनों कि यदि राजभाषा नियमों के पालन की ज़िम्मेदारी पुलिस को दे दी जाए तो क्या होगा? अब विचार करिए। ...

श्रोता : मेरे कहने का मतलब है कि जो व्यावहारिक पक्ष है वह अगर सबल रहे। मैं जिस दफ़्तर में काम करता हूँ वहाँ 99 परसेंट काम हिन्दी में होता है। भारत सरकार का वह दफ़्तर है, केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय। मेरी जो जिज्ञासा आपसे है, आप मेरे मित्र हैं, आप मुझे जानते हैं, मैं आपको जानता हूँ। ... ऑफ दी रिकार्ड यह है कि साल में तीन महीने में एक बार, साल में चार बार हमारे यहाँ हिन्दी की विशेष बैठक होती है जिसमें एक आदमी राजभाषा का रहता है। पिछले दो साल से तो कोई आया नहीं राजभाषा वाला। हम लोग चाय पीकर, आँकड़े बताकर, एक-दूसरे को यह कह कर कि हम लोग हिन्दी निदेशालय के हैं, काम कर रहे हैं, बात खत्म हो जाती है। ऑफ दी रिकार्ड आपको बता रहा हूँ कोई सीरियसली लेता नहीं। हम तो वाकई कर रहे हैं। कहने का मतलब यह है कि जब तक डर नहीं होगा तब तक कुछ नहीं होगा।

महेश चन्द्र गुप्त : मैंने डर का बता दिया। मैनुअल लेकर आया हूँ इसीलिए, पेज नंबर तेरह बता दिया।

श्रोता : अध्यक्ष महोदय, यह संयोग है कि कार्यालयीन हिन्दी, प्रशासनिक हिन्दी की चर्चा हो रही है। अध्यक्ष भी संयोग से प्रशासन से संबंधित हैं, और जो आलेख लिखने वाले हैं, उनका भी प्रशासन से दीर्घकालीन संबंध रहा है। ऐसी स्थिति जब होती है तो नीति का अनुपालन नहीं होता उस समय आप क्या करते हैं? क्या आप आवश्यक

नहीं समझते कि शास्त्र की रक्षा के लिए शस्त्र ज़रूरी होते हैं? क्या उदारता ही चलती रहेगी? पचास वर्ष बीत गए, पचास वर्ष और, न विज्ञान के क्षेत्र में, न प्रशासन के क्षेत्र में, न न्याय और न्यायालय के क्षेत्र में! हिन्दी कब आएगी, उदारता से आएगी या अब शस्त्र की ज़रूरत है? जैसे हम पुरस्कार देते हैं, उसी तरह पुरस्कार के विपरीत क्या दण्ड का विधान अनिवार्य नहीं होना चाहिए। नगर कार्यान्वयन समिति क्या कर रही है, केन्द्रीय हिन्दी समिति क्या कर रही है? हर स्तर पर कार्यान्वयन की व्यवस्था है। आप उसके अनुपालक हैं। लंदन में टाइपराइटर नहीं था, काम नहीं होता था? आपके संस्कृति मंत्रालय में हिन्दी का कोई आशुलिपिक नहीं था, काम नहीं होता था? आपने उसको कैसे संभाला?

अशोक वाजपेयी : मैं जवाब देना चाहूँगा। जवाब स्पष्ट है कि कार्यालय के अध्यक्ष के रूप में मैं भी अपने सहयोगियों के साथ हूँ। मैं भी हिन्दी में काम नहीं करना चाहता और जिस-जिस दफ़्तर में मैं गया हूँ वहाँ हमने अपने आंकड़े गलत दिए हैं। जो आप पूछ रहे हैं, इसका तरीका यह नहीं है कि दण्ड का प्रावधान किया जाए, इसका तरीका यह है कि सारी व्यवस्था समाप्त कर देनी चाहिए। जितना अहित इस प्रावधान ने किया है, वर्गीकरण ने किया है और आंकड़ों की व्यवस्था ने किया है, हमारी समझ से हिन्दी का इससे ज़्यादा अहित और किसी चीज़ ने नहीं किया। इसका मूल कारण यह है कि हरेक दफ़्तर में हिन्दी केवल एक अनुवाद की भाषा रह गई है। पहले फार्म अंग्रेज़ी में तैयार होता है, उसके बाद हिन्दी में मात्र उसका ऐसा अनुवाद होता है कि समझने के लिए आपको फिर अंग्रेज़ी पढ़नी पड़ती है। एक रोचक उदाहरण बताऊं, महाराष्ट्र में जब 'प्रोहिबिशन' था तो 'लिकर' के लिए परमिट लेना पड़ता था। अंग्रेज़ी में आप उस प्रार्थना पत्र को देखिए तो 'नेम ऑफ एलीकेंट', 'फादर्स नेम', हिन्दी में 'शराबी का नाम', शराबी के 'पिता का नाम'। 'पिता' शब्द नहीं था, शराबी के बाप का नाम।

जहाँ तक टाइपराइटर का सवाल है, मैं आपसे कहता हूँ कि आपने अंग्रेज़ी टाइपराइटर देखा होगा। पता नहीं उसका की-बोर्ड कब ईजाद हुआ था, कम से कम सौ साल तो हो ही गए होंगे, और उसमें कितनी तबदीलियाँ आईं, कंप्यूटर हो गया, इलेक्ट्रॉनिक आर्गनाइज़र हो गया, कई तरह के टाइपराइटर बन गए, 'की-बोर्ड' नहीं बदला। हिन्दी में क्या हुआ, शायद पन्द्रह साल में पन्द्रह की-बोर्ड आ गए। अब कहाँ से आपको टेकक मिलेगा। जिस टेकक को आप कहिए, मेरा व्यक्तिगत

अनुभव रहा है, वह कहेगा मैं पुराने वाले पर टाइप कर सकता हूँ, वह टाइपराइटर आपके दफ़्तर में है ही नहीं। इसलिए सारा काम रुका हुआ है। मैंने सुबह कहा था कि क्या अब हमें यह सोचना नहीं चाहिए कि इन सब नियम-कानूनों की कोई आवश्यकता नहीं है, अगर हम उदारतापूर्वक सबको प्रोत्साहित करते कि अपना-अपना काम हिन्दी में करो, तो उससे कहीं ज़्यादा लाभ होता। इससे ज़्यादा कि हम इस तरह के कानून और व्यवस्थाएं बनाएं जिनका न कभी पालन हो सकता है, न हमारी समझ से करने की उम्मीद करनी चाहिए।

अभी यह बात इसमें जोड़ते हुए, इस बात का ठीक-ठीक हिसाब नहीं लगाया गया है कि हिन्दी को राजभाषा बनाने के लिए सरकार ने कितनी राशि खर्च की। मेरा ऐसा मोटा-मोटा अंदाज है, मुझे नहीं मालूम कि राजभाषा विभाग का कितना बजट है और मुझे यह भी नहीं मालूम कि विभिन्न राजभाषा एकक जो मंत्रालयों में हैं उनमें जो लोग काम करते हैं, उनकी तनख्वाह वगैरह सब मिलाकर कितनी राशि बनती है। सार्वजनिक उपक्रमों से जो हिन्दी में पत्रिकाएं निकलती हैं, इतनी भड़कीली रंगीन, बढ़िया कागज़ पर, जिसमें महाप्रबंधक फीता काटते हुए, महाप्रबंधक की बीवी फीता काटते हुए इत्यादि-इत्यादि दिखाये जाते हैं। ये सब चापलूसी के उपकरण जो हिन्दी अधिकारी अपने महाप्रबंधक को खुश रखने के लिए करते हैं उसमें इस पत्रिका का भरपूर उपयोग होता है। यह सब बंद कर देना चाहिए। मेरे हिसाब से एक सार्वजनिक उपक्रम अगर तमिलनाडु में है तो उसको तमिल में काम करना चाहिए, उसका लेन-देन जिन लोगों से है, वहाँ हिन्दी का आग्रह करने से क्या मतलब है? हमने इसके नाम पर इतना ताम-झाम बना रखा है, इसीलिए प्रतीकात्मक कार्यवाही करते रहते हैं कि हिन्दी अधिकारी है, उसको मीटिंग में बुला लो और उसको अगर अनुवाद करने के लिए आपने दे दिया हो तो जो अनुवाद वह प्रस्तुत करता है, उसे मेरे जैसे मूल हिन्दी लेखक को कोई लाभ नहीं होता। यह बहुत कहा जाता है कि सरकारी कानून मूलतः हिन्दी में बनने लगे हैं।...

'आई', एक शब्द है अंग्रेज़ी का। 'प्लीज कम इन', तीन शब्द, कृपया आइए, 'कृपया' शब्द हिन्दी में मूर्खतापूर्ण है, उसका कोई मतलब नहीं है। यह 'प्लीज' और 'काइंडली' का हिन्दी में किया गया व्यर्थ का अनुवाद है, क्योंकि हम तो अपनी क्रिया में आदरसूचक हैं। लेकिन अगर हम यह न लिखें, नीचे का अधिकारी यानी उपसचिव, सचिव को यह न लिखे कि कृपया इस पर दस्तखत करिए, यह लिख

दे कि दस्तखत करिए तो वह बुरा मान जाएगा। दिमाग में घुस गया है कि कृपया शब्द ज़रूरी है। इस तरह से हमने वाग्विलास व्यर्थ का पैदा किया है। राजभाषा विभाग, राजभाषा अधिनियम, राजभाषा अधिकारी और राजभाषा एकक, इनको फौरन समाप्त कर देना चाहिए। सार्वजनिक उपक्रमों से हिन्दी पत्रिकाओं के प्रकाशन पर बंदिश लगा देनी चाहिए और जो निकाले उसको क़ैदे-बा-मुशक्कत होनी चाहिए।

अब बलदेव वंशी 'लोक सेवा परीक्षाओं में हिन्दी' पर आलेख पढ़ेंगे।

आलेख पाठ : बलदेव वंशी

चर्चा

बलदेव वंशी : सबसे पहले मैं भाई केजरीवालजी को बहुत धन्यवाद देना चाहता हूँ कि आज इस परिसर में हिन्दी साहित्यकारों के चित्र आए, हिन्दी साहित्यकार आए, विद्वान आए और हिन्दी भाषा आई, बहुत बड़ा काम है। आज से पहले मेरा अनुमान है ऐसा कुछ था नहीं, क्योंकि अगर होता तो मेरे जैसा जो पटरी पर बैठा हुआ है, उसको सबसे पहले खबर होती। इसके लिए बहुत-बहुत धन्यवाद।

दूसरी बात अभी तक कार्यालयों की, अधिकारियों की बात हो रही थी। मैं नेताओं के चरित्र की बात उठाना चाहता हूँ, जो देश को पचास वर्षों में तबाही के उस कगार पर ले आए हैं जहाँ सचमुच में अगर कोई जनता का न्यायालय खड़ा हो जाए तो उनकी क्या दशा हो, मैं नहीं बता सकता। मैं कुछ आंकड़े ही बताऊँगा। उनके व्यवहार से उनका जो चरित्र बनता है, वह लाऊँगा। पूरी संसद ने जो आज तक पूरे देश के लोगों से धोखा किया है, उन सब चीजों को मैं आंकड़ों के रूप में, तथ्यों के रूप में लाया हूँ।...

श्रोता : डा. बलदेव वंशी ने बहुत टूटकर और बहुत आहत, मर्माहत करने वाली बातें कहीं। मैं नहीं समझता कि कोई इससे असहमत होगा। लेकिन एक प्रश्न मेरे दिमाग में आया कि जो बात तिवारीजी ने की थी, वह बात यह थी कि हिन्दी ने अन्य भारतीय भाषाओं या मूल्यों का गला घोंटा है। बंधु, आपने जो केदारनाथजी के बारे में बात कही, अगर उन्होंने मैथिली सम्मेलन की अध्यक्षता की तो मुझे नहीं मालूम वह क्या बोले। अगर आपका यह कहना है कि उन्होंने हिन्दी के विरोध में कुछ कहा है, तब तो हमें कुछ कहने का अधिकार है। लेकिन जैसे अशोकजी हैं,

अगर कोई मालवी सम्मेलन हो रहा हो, वहाँ के निवासी उनको अध्यक्ष बनाएंगे, तो ऐसी कोई स्थिति नहीं बनती, क्योंकि ये सब हमारी अपनी भाषाएं हैं। अगर केदारनाथजी ने हिन्दी के विरोध में कुछ कहा हो या उन्होंने जैसे 'गला घोंट दिया मैथिली का' इस तरह की कोई बात की हो, तो आपको उनको कुछ भी कहने का अधिकार है, खैर मैं कौन होता हूँ अधिकार देने वाला, आपने खुद ले लिया। लेकिन मूल बात यह है कि हमें तर्कों के आधार पर ही कहना चाहिए। अगर उन्होंने ऐसा कुछ कहा हो तो आप बात कीजिए।

बलदेव वंशी : बड़ा सीधा-सा स्पष्ट तर्क है। मैथिली भाषा हिन्दी के लिए एक स्तंभ की तरह है, उस स्तंभ को ही खींचकर गिरा देने वाली बात जब होती है तो इससे बड़ा आप और क्या चाहते हैं उस व्यक्ति से, उस कवि से। इसका स्पष्ट अर्थ है कि हिन्दी अपने आप में कुछ भी नहीं है। सब को पता है मेरी मातृभाषा पंजाबी है तो मैं अलग हो गया। जिनकी हरियाणवी है, या राजस्थानी है, वे सब अलग-अलग हो गए। स्तंभ खींच लिए तो हिन्दी क्या है? जिस कवि को इतनी बात की समझ नहीं, तो उसके लिए यह बड़ी सजा है। आप इस बात को समझिए। आप अपनी गढ़वाली अगर खींचकर ले जाइए, तो हिन्दी कहाँ है? इसका मतलब हिन्दी के साथ बहुत बड़े षड्यंत्र में कवि सुनीति कुमार चटर्जी और राजगोपालाचारी के मैं 'कोटेशन' पढ़कर सुनाता हूँ। उन्होंने क्या-क्या कहा है और जो पक्षधर थे शुरू में, वे बाद में स्वार्थों की वजह से पलट गए। अपने राष्ट्रहित में कोई पलटे तो उसको नमस्कार करने को आज भी पूरा राष्ट्र खड़ा हुआ है। किन्तु भाषाई दुच्चे स्वार्थ में जो छोटे-छोटे पुरस्कृत स्वार्थ हैं, उनमें लगा हुआ जो बात करता है तो यह बहुत बड़ा धोखा है राष्ट्रभाषा के साथ।

ओम प्रकाश केजरीवाल : मेरा भी एक छोटा-सा प्रश्न है, जो लोकसेवा परीक्षाओं में आप सभी भारतीय भाषाओं में परीक्षा होने की बात करते हैं, उसका व्यावहारिक पक्ष जब मैं सोचता हूँ तो डर लगने लगता है। आप सोचिए कि अगर सभी भाषाओं में परीक्षाएं होने लगीं तो निश्चित रूप से यह होगा कि तमिलभाषी यह सोचेगा कि सबसे ज्यादा 'कैंडीडेट्स' तमिल के आने चाहिए, पंजाबी वाला भी यही सोचेगा, जो भी हो, उस समय क्या धांधली चलेगी। दूसरा यह कि किसी भी केन्द्रीय दफ़्तर में मान लीजिए दस आदमी चुनकर आए दस भाषाओं के, वह कार्यालय तब भी चल सकता है? वह जो तमिल की परीक्षा देकर आया है, वह तो

तमिल में नोट लिखेगा, वह जाएगा बंगलाभाषी के पास और इस तरह से आपको बहुत बड़ा विभाग कायम करना पड़ेगा जो हर भाषाओं के अनुवाद करके एक संपर्क-सूत्र स्थापित कर सके। यह तो हुआ प्रश्न, उसका समाधान आप क्या सोचते हैं। दूसरी जो छोटी-सी टिप्पणी है कि आपने कुछ अंग्रेज़ी स्कूलों की बात की कि अंग्रेज़ी स्कूलों को इससे अपमानित होना पड़ेगा, सुबह के सत्र में भी ऐसा ही कुछ अंग्रेज़ी स्कूलों के बारे में कहा गया था। मैं इसलिए 'एक्सेप्शन' लेता हूँ कि मैं अंग्रेज़ी स्कूल में पढ़ा हूँ और कई ऐसे लोगों को जानता हूँ जो इन स्कूलों में पढ़े हैं। जितना हिन्दी के बारे में मैंने अपने मिशनरी स्कूल में जाना, जितना संस्कृत के बारे में जाना और रवीन्द्रनाथ टैगोर, बारू दत्त, इनसे जो मैं परिचित हुआ, वह मिशनरी फादर्स के कारण। मैं उनका ऋण कभी भूल नहीं सकता। कभी भी यह अहसास नहीं हुआ कि ये हमें विदेशी बनाना चाहते हैं या विदेशी मानसिकता में डालना चाहते हैं। जहाँ तक मेरा अनुभव है, जितने लोगों से मैं बात कर चुका हूँ, सब ने यह कहा है कि अगर उनका कोई चरित्र विकसित हुआ है, भारतीय के रूप में, तो यह मिशनरी स्कूलों ने किया है।

बलदेव वंशी : मेरा निवेदन यह है – पहले मैं स्कूल में पढ़ाता था। मिडिल स्कूल से मैंने पढ़ाना शुरू किया, 8वीं कक्षा, उसके बाद 12वीं, फिर कॉलेज, यह मेरा अनुभव इस रूप में रहा है। शुरू से मैं सब चीज़ों से संबद्ध रहा हूँ और डी.ए.वी. स्कूलों में पढ़ाता रहा हूँ। डी.ए.वी., दयानंद एंग्लोवैदिक स्कूल अंग्रेज़ी माध्यम में शिक्षा दे रहे हैं, सबको पता है। मिशनरियों की जो बात आपने की उसमें कोई ग़लत बात नहीं, किन्तु हुआ क्या? जब भाषा को भाषा के रूप में पढ़ाया जाता है – जैसे लोग रूस जाते हैं, अब कम जाते हैं, पहले जाते थे डाक्टरी वगैरह के लिए, इंजीनियरिंग, ऊंची शिक्षा के विशेषज्ञ के रूप में, उनको पहले रूसी भाषा पढ़नी पड़ती है। हमने कभी रूसी भाषा सीखकर इंजीनियर बनकर आए हुए व्यक्ति से अपनी भाषा या संस्कृति के प्रति घृणा करते हुए नहीं देखा। वह कटा ही नहीं, क्योंकि वह सिर्फ भाषा लेकर आया। भाषा का संस्कार नहीं मिला। मिशनरी स्कूल जो अंग्रेज़ी माध्यम से हैं वे भाषा के साथ पूरे संस्कार देते हैं, संस्कृति देते हैं। ईसाई मिशनरी स्कूलों को छोड़िए, डी.ए.वी. कॉलेज कमेटी ने जो डी.ए.वी. स्कूल खोले हुए हैं उनके बच्चे भी अपनी पूरी परंपरा से कटकर बहुत ज्यादा अंग्रेज़ियत में नहीं गए। दूसरी आपने परीक्षाओं की बात की है, थोड़ा-सा सूत्र में कुछ,...

श्रोता : अलग-अलग भाषाओं...

बलदेव वंशी : हाँ, उसमें यह है कि उनतीस परीक्षाएं पहले ली जा रही हैं। सिविल परीक्षा के अंतर्गत मेरे पर्चे में उनतीस का उल्लेख है। उनतीस परीक्षाएं, वे सभी भारतीय भाषाओं में हैं। अगर वे हो सकती हैं तो ये भी हो सकती हैं। दूसरी बात यह है कि कुछ परीक्षाएं सिर्फ 'टिक' करनी होती है। लेखा परीक्षा पूरे राष्ट्रीयस्तर पर होती है, अंग्रेजी और हिन्दी में इकट्ठे पर्चे छपवा दिए जाएं तो क्या दिक्कत है, कोई दिक्कत नहीं। आधा रास्ता हम ऐसे 'कवर' कर सकते हैं, आधी जमीन काटकर हम देश की भाषाओं को समान स्तर पर ला सकते हैं। इंजीनियरिंग परीक्षा है, लेखा परीक्षा है, रेलवे की है, चालकों की परीक्षा है, मैं पढ़कर बताऊं, उस पर्चे में मैंने ये सुझाव दिए हैं कि इन नौ में से 4-5 परीक्षाएं आप सभी भारतीय भाषाओं में आसानी से लागू कर सकते हैं। इसमें कोई अधिक मशक्कत वगैरह नहीं करनी पड़ेगी।

श्रोता : अभी जो बात बलदेव वंशीजी ने कही, मुझे लगता है कि उसके पीछे एक राजनीति या सरकारी नीति की बात है। जैसे जब भाषा का प्रश्न उठा संविधान में, तो एक ओर राजभाषा की बात कही गई, एक तरफ अनुसूचित भाषाओं की बात कही गई, अष्टम सूची में जो 14-15 या अठारह भाषाएं है, पूरी संख्या 98 प्रतिशत भारत की, उसके बाद कुछ भाषाएँ और जोड़ दी हैं और जुड़ती रहीं जब मैथिली को जोड़ा गया।

बलदेव वंशी : भाषा के रूप में नहीं जोड़ा गया।

श्रोता : क्षमा करें, जब साहित्य अकादमी में पुरस्कारों की बात हुई, उस समय हिन्दी का पुरस्कार और हिन्दी के साथ मैथिली का पुरस्कार, राजस्थानी का पुरस्कार और संभावना है कि भोजपुरी सम्मेलन के बाद भोजपुरी का पुरस्कार, अगर इस तरह हम हिन्दी को काटते जाएंगे, बलदेव वंशीजी का जिस ओर इशारा है, हिन्दी अपने में हिन्दी नहीं रहेगी। हिन्दी एक राष्ट्रीय संपत्ति का नाम है, जिसके अंतर्गत 17 और भाषाएं हैं, जिसके अंतर्गत अनेक उपभाषाएं हैं, अगर हमने हिन्दी को, मैथिली को, भोजपुरी को, अवधी को, ब्रज को, और राजस्थानी को अलग कर दिया, तो हिन्दी बची कहाँ।

बलदेव वंशी : मैंने इस बात का उल्लेख केदारनाथजी का नाम लेकर इसीलिए किया है कि साहित्य अकादमी में अनेक भाषाएं है, डोगरी है और अन्य हैं, तो होनी चाहिएं। क्योंकि भाषावार राज्यों की जब हमने संकल्पना की, निर्माण किया, उसमें

कुछ इस तरह की चीजें अभी रह गई हैं। छोटे राज्य बनाने की बात हो रही है, तो उन भाषाओं का विकास भी हो ताकि हिन्दी पुष्ट हो। वहाँ कोई दो राय नहीं है। साहित्य अकादमी स्तर पर मान-सम्मान मिलना चाहिए।

र. शौरिराजन : अंतिम बात है, बलदेव वंशीजी कि यहाँ जो आन्दोलन हुआ था, उसकी प्रतिक्रिया तमिलनाडु में हुई थी। वहाँ भी लोग, डी.एम.के. सरकार, और जितनी भी सरकारें हैं, वे तमिल को सब जगह लाने का प्रयत्न कर रही हैं। उस समय उन्होंने सभी परीक्षाओं को तमिल में लिखने का आन्दोलन चलाया था। डी.एम.के. के ही बड़े नेताओं ने कहा, अगर हम इसका समर्थन करेंगे तो हिन्दी को लिखने का पूरा अधिकार मिल जाएगा। हिन्दी वालों की संख्या अधिक है। इसलिए अधिक संख्या में नियुक्त होकर हिन्दी वाले सारे स्थानों पर बैठ जाएंगे। इसलिए हमें अंग्रेज़ी को रखना चाहिए। नंबर दो, वहाँ अंग्रेज़ी के साथ-साथ तमिल को भी, दोनों को एक साथ लाना चाहते हैं। वहाँ पर अधिकांश, 90 प्रतिशत काम तमिल में हो रहा है। मगर आजकल सभी पार्टियां, द्रविड पार्टियां भारत के जितने भी केन्द्रीय कार्यालय हैं, उनमें सभी भारतीय भाषाओं को राजभाषा बनाने के लिए आन्दोलन कर रही हैं। उनके मेनीफेस्टों में, चुनाव घोषणा पत्रों में इसका उल्लेख है। मेरी एक जिज्ञासा है, किसी हिन्दी प्रदेश के, हिन्दी नेता के, हिन्दी पार्टी के, बी.जे.पी. हो, कांग्रेस हो, जो भी हो, उसके घोषणा-पत्र में हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में संपूर्ण आग्रह के साथ स्थापित करेंगे, क्या इसका कोई उल्लेख है? हमारे पूरे दक्षिण में हरेक प्रांतीय सरकार की पार्टियों के घोषणा-पत्र में प्रांतीय भाषा के उन्नयन का, उसके स्थापित होने के लिए स्थान है, प्रावधान है।

अशोक वाजपेयी : मित्रो, समापन के रूप में मैं कुछ बातें कहना चाहूँगा। यह बात स्पष्ट है कि पचास वर्षों में जब से हिन्दी राजभाषा बनी, असल में तो हिन्दी नहीं बन पाई। संकल्प भले था, प्रावधान थे, निर्देश थे, राजभाषा विभाग था, सब कुछ था। भारत सरकार का ज्यादातर महत्त्वपूर्ण और प्रभावशाली काम हिन्दी में नहीं होता, यह स्पष्ट है। मैंने सितंबर के शुरू में प्रधानमंत्रीजी को एक चिट्ठी लिखी और उसमें दो बातें उठाईं। मैंने उनसे कहा कि आपसे अधिक कौन जानता है कि यह हिन्दी के राजभाषा बनने की स्वर्ण जयंती नहीं, उसके राजभाषा न बन पाने की स्वर्ण जयंती है। लेकिन सिर्फ हिन्दी के साथ ही ऐसा हुआ हो, ऐसा नहीं है? तमिल में चलिए हो गया काम लेकिन अनेक जो दूसरी भारतीय भाषाएं हैं, वे भी

अपने-अपने राज्यों में राजभाषाएं नहीं बनीं। कुछ थोड़ी बहुत इधर-उधर बन गईं, कुछ थोड़ा-बहुत काम मराठी में होने लगा, उड़िया में होने लगा, लेकिन यह नहीं कहा जा सकता कि ये भी राजभाषाएं बन गईं। इसलिए अब वक्त आ गया है कि भाषा को एक बुनियादी अधिकार के रूप में मान्यता मिलनी चाहिए। चूंकि राजभाषा विभाग इत्यादि यह काम नहीं कर पाए हैं, जो कि स्पष्ट है, उनके पास उस तरह की स्वतंत्रता नहीं है। आपने महिलाओं के लिए, अल्पसंख्यकों के लिए और मानवाधिकारों के लिए स्थायी राष्ट्रीय आयोग बनाया है, एक स्थायी भारतीय भाषा आयोग भी होना चाहिए, जो हर वर्ष देश को यह रिपोर्ट दे कि विज्ञान में, ज्ञान में, व्यापार में, शिक्षा में, राजकाज में यह उसका सिर्फ एक अंग है, और बाकी सारे क्षेत्रों में हमारी भाषाओं की क्या स्थिति है, क्या दशा है, क्या दिशा है, क्या हो रहा है। मुझे यह कहते हुए प्रसन्नता है कि मुझे दो दिन बाद ही वहाँ से फोन आया कि प्रधानमंत्रीजी को यह बात पसंद आई है और वह 14 सितंबर को इसकी घोषणा करेंगे, हम तो वहाँ थे नहीं, हिन्दी सम्मेलन में थे, बाद में मुझे पता चला कि उन्होंने इसकी घोषणा की है। अब संभवतः जिन लोगों को कार्यवाही करनी है, वे कर रहे होंगे। उस समय मैंने यह भी कहा था कि हिन्दी को अपना संघर्ष दूसरी भारतीय भाषाओं के संघर्ष से मिलकर करना चाहिए।

यह विचित्र बात है कि हिन्दी में सबसे अधिक अनुवाद होते हैं। आज अगर आप हिन्दीभाषी पाठक हों और कोई दूसरी भाषा आपको न आती हो, हालांकि हिन्दीभाषियों की बड़ी भारी कमज़ोरी है कि वे दूसरी भारतीय भाषा नहीं सीखते, उस पर मैं अलग से आऊंगा, लेकिन अगर आप न भी जानते हों तो इस समय कुल मिलाकर समकालीन दुनिया में दूसरी भाषाओं में क्या हो रहा है, इसका अच्छा खासा परिचय, उनकी महत्त्वपूर्ण कृतियों का, उनके महत्त्वपूर्ण लेखकों, विचारकों का परिचय आपको हिन्दी में रहते मिल सकता है। लेकिन स्वयं हिन्दी से दूसरी भारतीय भाषाओं में उतना अनुवाद नहीं होता, जबकि स्वयं हिन्दी ने पिछले सौ वर्षों में बहुत बड़ी छलांग लगाई है। आप सोचिए 1900 में हिन्दी कहाँ थी, एक इतिवृत्तात्मकता में फंसी हुई अटपटी-सी खड़ी बोली। जो आज उत्तर-आधुनिकता तक पहुँच गई। सौ वर्षों में हिन्दी ने बड़ी छलांग लगाई है, बहुत सारे क्षेत्रों में। यह सही है कि हम राजभाषा नहीं बना पाए, लेकिन यह भी सही है कि जब एक गैर-हिन्दीभाषी प्रधानमंत्री बनता है तो मास्टर रखवाकर हिन्दी सीखता है। क्योंकि इस देश से बिना हिन्दी जाने बात नहीं की जा सकती। प्रधानमंत्री को अगर देश से बात करनी है तो हिन्दी में

बोलना होगा। एक टी. वी. कंपनी आई 'स्टार', जिसमें सारा काम पहले अंग्रेज़ी में शुरू किया गया फिर छह महीने में स्टार टी. वी. को अपना आधा चैनल हिन्दी में करना पड़ा। ये बातें भी हमें ध्यान में रखनी चाहिए। इस ओर बलदेव वंशीजी इशारा कुछ विचित्र ढंग से कर रहे हैं।

यह विचित्र हुआ हिन्दी में कि एक हिन्दी ने स्वयं अपनी बोलियों के साथ अपना संबंध ठीक नहीं रखा। 19वीं सदी तक तो हिन्दी का सारा महान साहित्य बोलियों का साहित्य है, तुलसीदास, जायसी अवधी के कवि हैं, सूर ब्रज के कवि हैं, मीरा राजस्थानी की है, विद्यापति मैथिली के हैं और इस सदी में ऐसा क्या हो गया कि इन सब की सृजनात्मकता रुक गई, इन सब को कुछ लेना-देना नहीं रहा। हिन्दी ने एक अजब किस्म की राजभाषा के छद्म गौरव से ग्रस्त होकर अपनी बोलियों के साथ अपना संबंध ठीक नहीं रखा, उस संबंध को ठीक रखने की ज़रूरत है। यह ठीक है हिन्दी एक बहुवचन है मेरे हिसाब से, वह एकवचन नहीं है, वह एक भाषा का नाम नहीं है, वह एक भाषासमष्टि का नाम है, लेकिन फिर उस समष्टि को, अपनी बहुवचनात्मकता को बार-बार सत्यापित और सिद्ध भी तो करना चाहिए, जो कि उसने नहीं किया। हमने और दुनिया भर से शब्द लिए हैं, जैसे मेरे हिसाब से अगर बिहारियों ने यह कहना शुरू किया है कि आप मेरी बात से थोड़ा नरमसा गए हैं, तो 'नरमसाना' शब्द हिन्दी का शब्द है क्योंकि हमने उसको गढ़ दिया, उसको अपना लिया। एक बात और कि हमें बहुत हद तक यह भी तय करना चाहिए कि हिन्दी राजभाषा बनी कि नहीं बनी? राजकाज हिन्दी में हुआ कि नहीं हुआ? यह अपने आप में चिंता का विषय है, लेकिन सचमुच देखें तो भाषा का जो संसार है, उसमें राजकाज का कितना हस्तक्षेप है, कितना उसको लेना-देना है? बहुत सारा ऐसा है जिसमें राज से कुछ लेना-देना नहीं है। हमारे हिन्दी विभागों ने कुछ क्यों नहीं किया? हमारे हिन्दी क्षेत्र के बड़े-बड़े प्रतिष्ठित ज्ञान विभागों ने कुछ क्यों नहीं किया? उनको किसी आदेश की ज़रूरत थी, उनको किसी संवैधानिक व्यवस्था की ज़रूरत थी? आखिर गुणाकर मुले को किसने नियुक्त किया था? इन्होंने बताया कि नौकरी भी नहीं की, ताजिंदगी अगर ये विज्ञान में अधिकारपूर्वक हिन्दी मातृभाषा न होते हुए भी लिख सके हैं तो इससे क्या सिद्ध होता है? इससे यह सिद्ध होता है कि ऐसे व्यक्तियों का और ऐसी गैर राजसंस्थाओं का, इन गैर राजनिर्भर आन्दोलनों का... सारी हिन्दी सेवी संस्थाएं राज्य के सामने हाथ जोड़े खड़ी रहती

हैं। 14 सितंबर हमारे लिए शर्म का दिन होना चाहिए, इसमें प्रसन्नता क्या होती है? हर मंत्रालय में राजभाषा के नाम पर अनाचार होता है। व्यर्थ के पुरस्कार जिन्होंने कुछ नहीं किया, उनको दीजिए, इन सबसे हमें मुक्त हो जाना चाहिए। अब हिन्दी समाज को आगे आना चाहिए, हिन्दी राज से नहीं चलेगी। असल में एक अर्थ में यह विडम्बना हिन्दी में शुरू से अंतर्भूत थी, हिन्दी संघर्ष की भाषा थी, उसको राजभाषा होने का अनुभव ही नहीं था। पिछले पचास साल में उसका राजभाषा होने का अनुभव बहुत अच्छा नहीं रहा। बेहतर है कि वह राजभाषा न रहे, फिर से उसी जनसंघर्ष और जनाभिव्यक्ति की भाषा बनी रहे जो कि उसका मूल चरित्र और मूल स्वभाव है।

एक बात मुझे यह भी लगती है, हिन्दी के मध्यवर्ग ने हिन्दी के साथ विश्वासघात किया है। अगर एक प्रतिशत लोग हिन्दी भाषी जनता के हिन्दी के कारण अपनी आजीविका कमाते हैं, यानी हिन्दी पढ़ाते हैं, अध्यापक हैं, पत्रकार हैं, साहित्यकार हैं, हिन्दी अधिकारी हैं, हिन्दी अनुवादक हैं, टंकक, टाइपिस्ट इत्यादि जो हिन्दी से रोज़ी-रोटी कमाते हैं वे चालीस लाख लोग होंगे। चालीस लाख लोग अगर कुछ न करते, साल में सिर्फ एक नई किताब खरीदते और पाँच नई किताबें पढ़ते तो आज हम यह अरण्यरोदन न कर रहे होते। हिन्दी भाषी जनता सबसे अधिक सांसद बनाती है, आधी संसद से ज्यादा तो हम बनाते ही है, फिर भी हम अपनी भाषा को मान्यता नहीं दिला सके। क्योंकि हिन्दी की कोई ऐसी संघर्षपूर्ण राजनीति नहीं बनी। राममनोहर लोहिया आदि के जमाने तक बनी थी। तब लोहिया और इस तरह के लोगों का संबंध हिन्दी से था। वामपंथी दलों में हिन्दी-उर्दू को लेकर एक झपट-सपट होती रही। अब सब मामला गायब हो गया। मुझे लगता है कि उर्दू के साथ भी हमारा संबंध गड़बड़ाया है और यह कहना सही नहीं है कि हिन्दी की परंपरा में हमने उर्दू को शामिल, ठीक जिस तरह से किया जाना चाहिए था, उस तरह से नहीं किया। आप अच्छी हिन्दी नहीं लिख सकते, खड़ीबोली, अगर आप ग़ालिब और मीर की विरासत को किसी न किसी हद तक आयत न करते हों और अब तो यह सुविधा है। मैं ग़ालिब पर एक अधिकारी, विद्वान माना जाता हूँ हालांकि, मुझे एक शब्द नहीं आता उर्दू का, मैं उर्दू लिपि पढ़ नहीं सकता। मैं अपनी आत्मकथा इसलिए नहीं सुना रहा कि आप प्रभावित हों। आप वैसे भी प्रभावित नहीं होने वाले हैं, मैं जानता हूँ। ग़ालिब पर एक अंतर्राष्ट्रीय सेमिनार हुआ था, उसमें पाकिस्तान से शायर आए हुए थे, अफ़साना निगार। मेरा पर्चा था तो अंग्रेज़ी में लेकिन बीच में मुझे याद

आता रहा, मुझे आधे से ज्यादा ग़ालिब जुबानी याद है। पढ़-पढ़कर याद है, देवनागरी में याद है। तो मैंने कोई 20-25 शेर इधर-उधर पढ़े होंगे। खाने पर बैठे तो इंतजार हुसैन मेरे पास आए और कहने लगे कि क्या कमाल बोले। लेकिन दो बातें यार तुमने झूठ कहीं, इतना दिन-दहाड़े झूठ बोल गए? मैंने कहा क्या? कहने लगे आपने कहा कि आपको उर्दू नहीं आती। लेकिन तलफ्फुज़ की एक गलती नहीं हुई। इतने शेर तुमने सुनाए, कैसे? तो उनके बगल में एक सज्जन खड़े हुए थे, सिद्दीकी साहब कोई लतीमशहीम, उन्होंने कहा देवनागरी में पढ़ी है, देवनागरी में पढ़ने के कारण उच्चारण गलत नहीं होगा। फिर कहने लगे कि तुम्हारा नाम 'बाजपेयी' उर्दू में सही लिखा ही नहीं जा सकता। उसको हर आदमी 'बाजपाई' पढ़ेगा, उन्होंने समझाया लेकिन मेरी समझ में नहीं आया।

बहरहाल मुझे लगता है कि हिन्दी को अपनी पूरी भूमिका पर पुनर्विचार करना चाहिए। हम स्वतंत्रता संग्राम की भाषा थे। इस बात को नहीं भूलना चाहिए। फिर संभवतः एक नए स्वतंत्रता संग्राम की आवश्यकता है। हिन्दी में बुद्धिशील लोगों का जो दार्शनिक चिंतन करते है, ऐसे हैं दो-चार लोग, जिनका लोग मज़ाक बनाते हैं। हिन्दी में बुद्धि की इतनी अप्रतिष्ठा क्यों है? आपने नाम लिए राहुल सांकृत्यायन, वासुदेव शरण अग्रवाल, काशी प्रसाद जायसवाल इत्यादि, एक ज़माने में जब ये लिखते थे तो दूसरी भाषाओं के लोग, अंग्रेज़ी वाले लोग इन्हें पढ़ते थे। हज़ारीप्रसाद द्विवेदी, रामचन्द्र शुक्ल जैसे आलोचक किसी भारतीय भाषा में नहीं हैं। उनके समकक्ष कोई आलोचक नहीं। लेकिन इस सब को हमने गंवा दिया, सिर्फ इसलिए कि हमने बुद्धि को अप्रतिष्ठित किया। हिन्दी को उसकी बुद्धि ने धोखा दिया है, उसके हृदय ने धोखा दिया है, उसके दिमाग ने उसके साथ गद्दारी की है। सबसे ज्यादा अंग्रेज़ी स्कूल हिन्दीभाषी अंचल में खुल रहे हैं। कौन पढ़ा रहा है? सारे हिन्दी साहित्यकारों के बच्चे अंग्रेज़ीभाषी स्कूलों में पढ़ते हैं। किसको आप आचार शुद्धता की शिक्षा दे रहे हैं कि यह करिए, वह करिए या फलां करिए। मैं आपको उदाहरण देता हूँ, मैंने बी.ए. तक शिक्षा हिन्दी माध्यम से प्राप्त की, सागर विश्वविद्यालय में प्राप्त की। उस समय तो अच्छा विश्वविद्यालय माना जाता था, लेकिन सागर कौन सा शहर था। हम यहाँ दिल्ली आ गए सेंट स्टीफंस कॉलेज में, जो तुर्रमखांओं का कॉलेज था। वहाँ हिन्दी सिर्फ धोबी और चमार से बोली जाती थी। मुझे इतनी अंग्रेज़ी बोलने का अभ्यास नहीं था। मैंने चूंकि सागर विश्वविद्यालय

में प्रथम श्रेणी में प्रथम स्थान पाया था, तो मुझे दाखिले से तो इंकार नहीं किया जा सकता था, लेकिन मेरे अंग्रेज़ी के जो अध्यक्ष थे उन्होंने मुझे बुलाकर कहा कि तुम ग़लती कर रहे हो, क्योंकि यहाँ तो लोग अव्वल दर्जे से अंग्रेज़ी माध्यम से पढ़े हैं। दून स्कूल, सिंधिया स्कूल, मेओ कॉलेज में पढ़े लोग हैं और उन्होंने बी.ए. आनर्स दिल्ली विश्वविद्यालय से कर रखा है जिसमें पाँच पर्चे अंग्रेज़ी साहित्य के होते हैं, उनके साथ तुम कैसे स्पर्धा करोगे? मैंने कहा, अब तो मैं आ गया हूँ, देखा जाएगा और मैं कोई इतना पढ़ाकू आदमी भी नहीं था, साहित्यकार था। मैं विश्वविद्यालय में दूसरे नंबर पर आया और सेंट स्टीफंस कॉलेज के सारे मेरे साथी मुझसे पीछे थे। इसलिए नहीं कि मैं कोई तीसमारखां था, इसलिए कि मुझे अपनी मातृभाषा में आत्मविश्वास था। जो अपनी मातृभाषा ठीक से जानता है उसको दूसरी भाषा को स्वत्व करने में कोई समय नहीं लगता।

हो यह रहा है कि अब हम एक निर्भाषा संसार रचने जा रहे हैं जिसको कोई भाषा नहीं आएगी। तो एक स्मृतिहीन निर्भाषा पीढ़ी हम पैदा करने जा रहे हैं, लेकिन इसका दोष मैं राज को नहीं दूंगा, इसका दोष समाज का है। यह समाज इस समय अगर दो-दो साल में सरकारों को लात मारकर निकाल सकते हैं और दुनिया भर के मसलों पर, तो अपनी भाषा पर नहीं निकाल सकते? किसी के अजेंडा पर भाषा नहीं है, यह अद्भुत बात है कि इस समय राजनीति के अजेंडा से भाषा का अपसरण हो चुका है। कोई नहीं कहता कि साहब देखिए क्या भाषा बोल रहे हैं, लालू यादव या मुलायम सिंह यादव वगैरह। उनकी भाषा बहुत व्याकरणसम्मत वाक्य नहीं बनाती, लेकिन बुनियादी बात यह है कि ऐसे लोग पहली बार संसद में आत्मविश्वास के साथ अपनी भाषा, जैसी उनकी है, उसमें बोल रहे हैं। हमें इस बात का आदर करना चाहिए। इस तरह के बहुत सारे राजनीतिक समीकरण बदल रहे हैं। उन बदलते हुए समीकरणों में भाषा की जगह नहीं है। यह हमें नहीं भूलना चाहिए, किसी पार्टी के पास भाषा के लिए कोई अजेंडा नहीं है। इसलिए संभवतः यह अच्छा अवसर है इस अर्थ में कि हम किसी पार्टी से 'आईडेंटीफाई' नहीं होंगे। हम भाषा का अपना एक अलग आन्दोलन चलाएं, जो मातृभाषाओं का आन्दोलन होगा।

बलदेव वंशी : मैं समझता हूँ कि मेरी जो बुनियादी स्थापना है वह यह है कि हिन्दी को अब दूसरी भारतीय भाषाओं से मिलकर एक सामाजिक-राजनीतिक आन्दोलन चलाना चाहिए। जब तक यह नहीं बनेगा, तब तक हम ये दरख्वास्तें लिए दफ्तरों

के सामने खड़े रहेंगे। हमारी दरख्वास्त हिन्दी में होने की वजह से पढ़ी नहीं जाएगी। हिन्दी में लोक को आगे होने की ज़रूरत है, तंत्र पर निर्भरता अब समाप्त करनी चाहिए।

दूसरा दिन : तीसरा सत्र

ओम प्रकाश केजरीवाल : हिन्दी दशा और दिशा संगोष्ठी के दूसरे दिन और तीसरे सत्र में आप सभी का स्वागत है। गोष्ठी की शुरुआत करते हैं। राजेन्द्र यादव इस सत्र की अध्यक्षता करेंगे।

राजेन्द्र यादव : मित्रों, जिस विषय पर आज गोष्ठी है, उस पर अखबारों में हमने पढ़ा कि कल भी काफी उत्तेजक बहस हुई थी और यह विषय ऐसा है कि जिस पर बातचीत होनी चाहिए। खासतौर से जो इस समय का माहौल है, जहाँ पर हमें दिखाई देता है कि भारतीय भाषाएं बिलकुल हाशिए पर चली जा रही हैं और अंग्रेज़ी का वर्चस्व छाया हुआ है। अंग्रेज़ी सत्ता की भाषा भी है और हैसियत की भाषा भी है, उससे एक प्रतिष्ठा मिलती है। प्रतिष्ठा इसलिए मिलती है कि उसके साथ सत्ता जुड़ी है और उसके साथ आजीविका जुड़ी हुई है। निश्चित रूप से बच्चा जब शुरू से तैयार किया जाता है, दो-तीन साल की उम्र से, तब से ही उसको अंग्रेज़ी की शिक्षा दी जाती है। यह मानकर चला जाता है कि हिन्दी या दूसरी भाषाओं को सीखने की ज़रूरत नहीं है, वह अपने आप सीख जाएगा या एक कामचलाऊ ज्ञान अगर ज़रूरी हुआ तो ठीक है वरना बिना उसके भी काम चल सकता है। शायद बहुत बड़े-बड़े शहरों में यह स्थिति हो भी गई है कि अगर आप हिन्दी या भारतीय भाषाएं नहीं जानते हैं, तब भी काम चला सकते हैं। यह बड़ी अजीब स्थिति है। अंग्रेज़ी का लेखन पहले जो आता था वह द्विभाषी लोगों द्वारा था, चाहे मुल्कराज आनंद हों, चाहे खुशवंत सिंह हों, राजाराव हों, चाहे दूसरे और लेखक। सबके पास अपनी-अपनी भाषाएं, पृष्ठभूमि थी और वह एक खास किस्म की अंग्रेज़ी होती थी जिसे अंग्रेज लोग शायद बहुत पसंद नहीं करते थे, क्योंकि उसमें बहुत ज्यादा गंध भारतीय भाषाओं की मिली होती थी। यह जो नई पीढ़ी आई है, जिसकी मातृभाषा अंग्रेज़ी है और यह उसी सहजता और स्वाभाविकता से बिलकुल मातृभाषा की तरह उसे इस्तेमाल करते हैं और उसी तरह लिखते हैं। अंग्रेज़ी साहित्य में निश्चितरूप से एक नई तरह की भाषा का प्रारंभ हुआ है, उससे बहुत चीजें बदली हैं और उसका अपना व्यक्तित्व बना है। इसी संदर्भ में शायद हम लोगों की बहुत

बड़ी त्रासदी या 'ट्रेजडी' है कि जब हम अंग्रेज़ी में लिखते हैं, तो कहा जाता है कि इसमें भारतीय भाषाओं की गंध है। जब हिन्दी में लिखते हैं, खासतौर से रचनात्मक साहित्य, तब यह कहा जाता है कि यह अंग्रेज़ी में पहले सोचा गया है और हिन्दी में बाद में लिखा गया है। इस अजीब तरह की द्वंद्वात्मक स्थिति से हम लोग गुज़र रहे हैं।

अब हम अपना सत्र शुरू करते हैं और मैं समझता हूँ कि राठीजी इस विषय में बहुत प्रमाणिक व्यक्ति हैं।

आलेख पाठ : गिरधर राठी

चर्चा

राजेन्द्र यादव : दोस्तों, राठीजी का पर्चा सचमुच बहुत महत्त्वपूर्ण मुद्दे उठाता है इस पर बात करने के लिए मृणाल से कहा जाए।

मृणाल पाण्डे : मेरे ख्याल से राठीजी ने कुछ बहुत महत्त्वपूर्ण बिन्दु उठाए हैं और यह भी महत्त्व की बात है कि उन्होंने उसको प्रश्नों के रूप में उठाया है, कोई अत्यंत स्थापनाएं अपनी तरफ से नहीं दी हैं। निजी तौर से मुझे लगता है कि एक तो जो उन्होंने ज़िक्र किया है कि आलोचना की जो स्थिति है, समालोचना की, सतही तौर से, लेकिन निरूपण की दृष्टि से और विषय परिवर्तन की दृष्टि से भी थोड़ी-सी उस पर वृहत्तर चर्चा हो और जो साहित्यकार हैं वे अगर उस पर अपनी अवधारणाएं प्रस्तुत करें तो अच्छा होगा। दूसरा, सूचना क्रांति और 'वर्चुअल रिएलिटी' का उन्होंने जिक्र किया और मैं सोचती हूँ कि हमारे साहित्य में आने वाले दिनों में इसका बहुत ही गहरा असर पड़ने जा रहा है। मेरा जो थोड़ा-बहुत संपादक के रूप में या एक 'एंकर' के रूप में वास्ता पड़ा, तो मुझे लग रहा है कि साहित्य का बिलकुल नए तरह का परिचय विकसित हो रहा है सूचना प्रणाली के तहत, जिसमें साहित्यकार एक तरह से असहाय है, क्योंकि उसकी कहीं कोई सार्थक या बातचीत के स्तर पर भागीदारी नहीं है। तो क्या आने वाले समय में हम साहित्यकार का थोड़ा उस पर बस चलता हुआ देखेंगे या कि यह होगा कि फिर साहित्यकार भी उस दृष्टि से रचनाएं तैयार करेंगे कि अंततः अगर उसके संप्रेषण करने का माध्यम छपा हुआ शब्द नहीं बल्कि दृश्य शब्द है तो फिर हम उसको क्यों न उसी रूप में तैयार करें अगर बाज़ार ज्यादा खुल रहा है। हिन्दी के लिए इस वक्त इतनी तेज़ी से बाज़ार खुला है कि मेरे ख्याल

में कच्चामाल उपलब्ध नहीं है, कम-से-कम दृश्य-श्रव्य माध्यमों में। लेकिन उसमें भी हिन्दी की छवि या हिन्दी के रचनात्मक साहित्य का जो प्रतिनिधित्व हो रहा है वह कहीं एक तरह से आतंकित करता है, तो दूसरी दृष्टि से सोचने पर भी मज़बूर करता है कि क्या हिन्दी साहित्य को अपनी चेतना को और अपने प्रस्तुतिकरण को लेकर नए सिरे से सोचना होगा? मुझे कम-से-कम अभी यही प्रतिक्रिया देनी है।

ओम प्रकाश केजरीवाल : तीन-चार साल पहले जब मैं प्रकाशन विभाग में था तो हमने 'आजकल' का स्वर्ण जयंती अंक निकाला। उसमें हमने यही लिखा था, कि पिछले 20-30 वर्षों में हिन्दी में कोई ऐसी कृति नहीं आई है जो विश्वस्तरीय हो, जिस पर हम गर्व कर सकें। कमोबेश यही बात अभी राठीजी ने भी कही है। अंत में जो उन्होंने कहा है कि हम यह उम्मीद कर सकते हैं कि ऐसी कोई रचना होगी तो क्या यह केवल 'थिंकिंग' नहीं है? यथार्थ के आधार पर अगर हम देखें तो शायद ऐसी रचना की आशा हम कर सकते हैं। दूसरी बात जो मृणालजी ने कही कि ऐसी कृतियां हैं जिनके ऊपर बहुत सफल दूरदर्शन या रेडियो के कार्यक्रम हो चुके हैं, उसमें सबसे 'लेटेस्ट' तो 'तमस' ही है, लेकिन मेरी दृष्टि से कोई ऐसा दूरदर्शन का प्रोग्राम नहीं है जो बाद में साहित्य के रूप में लिखा गया हो और बहुत सफल हुआ हो। मेरी समझ से इस रूप में अगर देखें तो साहित्यकार का महत्त्व बना रहेगा, क्योंकि लिखा हुआ साहित्य तो अच्छा प्रोग्राम दे सकता है, लेकिन कोई अच्छा प्रोग्राम साहित्य में परिवर्तित हो, ऐसा उदाहरण अभी तक शायद देखने में नहीं आया है।

राजेन्द यादव : कहीं खबर पढ़ी थी कि 'सांस' नामक सीरियल को पुस्तक रूप में लाया जा रहा है। 'बूंद बूंद' को भी लाया गया था।

विष्णु खरे : यह बात तो बहुत दिलचस्प है कि साहित्य और टेलीविजन का रिश्ता क्या हो, यह बात उठाई गई है, किसी टेलीविजन कार्यक्रम पर कोई कृति नहीं लिखी गई, यह हो सकता है हमारे यहाँ न हुआ हो। राजेन्द्रजी कह रहे हैं कि 'सांस' के बारे में ऐसा सुना गया है।... दूसरी बात यह है कि टेलीविजन पर साहित्य के लिए बहुत कुछ हो सकता है। लेकिन मैं सिर्फ उसके सोल्यूशन की बात नहीं कर रहा, वह बात अलग है, मैं शुद्ध साहित्य परिचय की बात कर रहा हूँ। एक उदाहरण जर्मन का देता हूँ, वहाँ सबसे बड़े आलोचक हैं मार्शल राईफ रामित्स, उनका हर हफ़्ते जर्मन टेलीविज़न पर एक समीक्षा कार्यक्रम होता है। उस साहित्यिक कार्यक्रम को जो कि उपन्यास का कार्यक्रम नहीं है, कहानी का कार्यक्रम नहीं है, कविता का नहीं है,

शुद्ध आलोचना का है, उसे ऐसा माना गया है कि कम-से-कम एक करोड़ लोग देखते हैं। राईफ रामित्स एक बड़े आलोचक लिखित रूप में भी हैं लेकिन टेलीविजन ने उन्हें सबसे बड़ा युवक आलोचक इस समय बना दिया है। उनका प्रभाव इतना है कि राईफ रामित्स के किसी कार्यक्रम में यदि एक किताब दिखा दें तो अगले दिन उसकी 10,000 प्रतियां बिक जाती हैं। उन्होंने अभी अपनी आत्मकथा लिखी है, इस साल आई है, 'एक आलोचक की आत्मकथा', इस समय जर्मनी में बैस्टसेलर है। तो आप देखिए कि यदि दूरदर्शन के माध्यम को होशियारी से 'एक्सप्लाइट' किया जाता है तो वह न सिर्फ साहित्य का, किताबों का, प्रकाशकों का, स्वयं आलोचकों का, आलोचना का कितना भला करता है। रही बात इसकी कि हमारे यहाँ टेलीविजन क्या कर रहा है, आप देखिए कि 'बूंद बूंद', 'तमस' या इस तरह के सीरियल कितने बने हमारे यहाँ? यह आवश्यक नहीं है कि हर महान किताब टेलीविजन बना पाए। जैसे हर महान किताब पर फिल्म नहीं बन सकती, वैसे ही हर महान पुस्तक पर सीरियल नहीं बन सकता लेकिन यह अवश्य है कि हमारे यहाँ दूरदर्शन वह काम भी नहीं कर रहा जो 40 साल पहले रेडियो कर रहा था। टेलीविजन का माध्यम इतना आसान नहीं है कि हर आदमी उसके लिए लिखने लगे। एक ही मनोहरश्याम जोशी पैदा हुआ है – कमलेश्वर और मनोहरश्याम जोशी – इस क्षेत्र में बस ये दो हमारे समसामयिक साहित्यकार है।

जब तक आपके देश में पाठकवर्ग नहीं होगा साहित्य क्या भाड़ झोंक लेगा? समस्या इतनी गहरी है, एक तरफ तो इतनी भयानक निरक्षरता, दूसरी ओर जो साक्षर हैं वे भी कितने साक्षर हैं, समझ नहीं आता। यदि वे साक्षर हैं तो उनमें से साहित्य में रुचि कितनों की है? और जिनकी रुचि साहित्य में है वे कितनी किताबें खरीदते हैं? हिन्दी का शुद्ध पाठक ढूंढना असंभव है। मुझे जो पाठक मिले वे या तो स्वयं कवि थे या कवि बनना चाहते थे या समीक्षक थे या पत्रकार थे या प्राध्यापक थे या हिन्दी साहित्य के विद्यार्थी थे। यह विचित्र 'क्राइसिस' है।...

यह बड़ा भारी संकट है कि आज पाठक नहीं मिलते। मैं कहना चाहता हूँ कि किताबों के दाम कम-से-कम इतने रख दिए गए हैं कि एक तरफ निरक्षरता है, और दूसरी तरफ साक्षरों की दिलचस्पी साहित्य में नहीं है। हमारे यहाँ किताबों को पढ़ने की संस्कृति कम-से-कम हिन्दी में नहीं है, बंगला में है, मराठी में है, मलयालम में है। हमारा जो हिन्दी का संकट है, उसका जो अर्थशास्त्र है, उसका जो समाजशास्त्र है, शिक्षाशास्त्र है, वह बहुत जटिल है।...

अगर समीक्षा की बात करें तो मेरा ख्याल है दो तरह की समीक्षाएं हमारे सामने हैं। एक तो प्राध्यापकीय समीक्षा, जिसे विद्यार्थियों को जबरदस्ती पढ़ना पड़ता है। यदि चुनाव किया जाए तो वे बिलकुल न पढ़ें उसे। दूसरी जो समीक्षा या आलोचना है वह साहित्य की है जो मेरा ख्याल है एक-दूसरे के लिहाज़ में लिखी जाती है ज़्यादातर, मारने-काटने के लिए, बढ़ाने के लिए, घटाने के लिए। आलोचना और समीक्षा दो अलग चीजें मान ली जाएं तो आलोचना एक स्वतंत्र रचना है और स्वतंत्र रचना की तरह उस पर काम होना शायद बंद हो गया है। मेरा ख्याल है रामचन्द्र शुक्ल, हज़ारीप्रसाद द्विवेदी जैसे कुछ लोग थे जिन्होंने आलोचना की स्वतंत्र समस्याओं पर, अपनी समस्याओं पर बात की थी। बीच में जो समय आया उसमें तो एक तरह से राजनीति और समाज शास्त्र ही आलोचना के पर्याय हो गये। खासतौर से प्रगतिवादी दौर में। एक तरह से कहना चाहिए कि साहित्येतर दर्शन और विचारों का विस्तार साहित्य आलोचना के नाम पर किया जाता रहा है। उसने हमारी भाषा को कहाँ प्रभावित, निर्धारित या भ्रष्ट किया – इस समस्या को राठीजी ने थोड़ा उठाया है, इस पर हम लोग बात करें तो ज्यादा अच्छा होगा।

नेमिचन्द्र जैन : राठीजी ने जो बातें उठाई हैं वे अक्सर हिन्दी के इस तरह के अवसरों पर उठाई जाती रही हैं। जिस तरह से हम समकालीन रचना जगत के बारे में हमेशा बड़ी निराशा से, और मैं कह सकता हूँ कि एक तरह की बड़ी कुंठा से बातचीत करते हैं – सिर पीटते रहने का एक आलम हमारे साहित्य में बना हुआ है। पर थोड़ा-सा, आज जैसी पाठक की समस्या है इस पर गौर करें। कुछ लोग इसे पाठकहीन साहित्य कहते हैं, और दूसरे लोग जिंदगी के यथार्थ से कटा। पर कुछ ऐसा साहित्य भी है जो लोकप्रिय है, क्योंकि वह ज़िंदगी से ज्यादा जुड़ा हुआ है। इस तरह का विभाजन मोटे तौर पर करके हम साहित्य के बारे में सोचते रहते हैं। पर मुझे यह याद आता है कि 30 के दशक में निराला और पंत की भी यही हालत थी। कौन पढ़ता था उन्हें? थोड़े से लोगों के अलावा। बाकी साहित्य का समाज तरह-तरह से उनकी खिल्ली उड़ाता था, तरह-तरह की फब्तियां कसता था। वह उनके लिए साहित्य नहीं था। विदेशी प्रेरणा से लिखा गया साहित्य था। साहित्य वह था जो ब्रज भाषा की परंपरा में लिखा जाता था, वही कविता सचमुच कविता थी। और ये सब लोग उस जमाने के साहित्य के समाज में बड़ी हिकारत से देखे जाते थे। धीरे-धीरे माहौल बदला। किताबें चाहे तब भी बहुत ज़्यादा नहीं मिलती रही हों, पर ये लोग पढ़े जाने लगे। कवि सम्मेलन आज तो बिलकुल व्यावसायिक पेशेवर

लोगों का मजमा बन गये हैं, पैसा कमाने का साधन। पर उन दिनों ऐसे कवि सम्मेलन होते थे जिनमें निराला या पंत या बच्चनजी जाकर पढ़ते थे और सुने जाते थे। उनके ज़रिए एक श्रोता समाज और अंततः एक पाठक समाज धीरे-धीरे तैयार होता था। तो यह स्थिति कोई आज अचानक हमारे बीच में पैदा हुई हो, मुझे ऐसा नहीं लगता।

मुझे यह भी नहीं लगता कि आलोचना और रचना के बीच दूरी है। आलोचक को जितना हो सके उतनी तरह से पीटने का एक जो रिवाज़ रचनाकारों में चल पड़ा है, वह समझ में आने वाला नहीं है। लेखकों को सफलता मिलती है तो वे कहते हैं कि आलोचक के बावजूद उनको सफलता मिली है और अपनी असफलता के लिए वे कहते हैं कि आलोचक ने कुछ नहीं किया। अगर आलोचक इतना अप्रासंगिक है तो उसके लिखने से तो किताब की बिक्री पर असर नहीं पड़ता होगा। अगर ऐसा है तो आलोचक की ही क्षति होनी चाहिए। आलोचना को न तो रचनाकार महत्त्वपूर्ण मानते हैं, न पाठक महत्त्वपूर्ण मानता है, पर फिर भी एक तरह का बनावटी झगड़ा रचनाकार और आलोचक के बीच लगातार होता रहता है। मुझे इसका कोई औचित्य निजी तौर पर समझ नहीं आया।

आलोचना की पद्धतियों की आयातित होने की बात आजकल उत्तर संरचनावाद के संदर्भ में खूब चल पड़ी है। पर मैं नहीं जानता कि आधुनिक हिन्दी के पिछले 60-70-80 वर्षों में यह समस्या लगातार नहीं रही हो। लगातार यह जानने का प्रयत्न रहा है। दुनिया में साहित्य में जो प्रवृत्तियां हैं, उनके साथ हमारा रिश्ता बन सकता है या नहीं बन सकता है और उसका क्या प्रभाव हमारे ऊपर पड़ता है। आज हमें बहुत सारा विदेशी साहित्य आसानी से सुलभ है। मैं जब छात्र था तब इतनी आसानी से सुलभ नहीं था। आज है। और अगर रचनाकार उसको पढ़ पाता है और उससे प्रभावित होता है, श्रेष्ठ साहित्य से प्रभावित होता है, तो इससे लोगों को क्यों ऐतराज होता है, यह मुझे कभी समझ नहीं आया। जबकि हमारे जीवन का हर हिस्सा तमाम विदेशी चीजों से प्रभावित है। जिस तरह के वातावरण में बैठे हुए, जिन साधनों के उपयोग से हम आज बातचीत कर रहे हैं, वह सब आयातित है। अगर हम इन सब आयातित चीजों को छोड़कर जिंदगी जीना चाहते हैं तो शायद ऐसा साहित्य लिखा जा सके या उन औजारों से जो आयातित नहीं हैं उसके बारे में चर्चा हो सके। कुछ न कुछ संबंध जो सारी दुनिया में घटित हो रहा है और जिसका असर लगातार

एक-दूसरे पर पड़ रहा है, उसका असर हमारे पैमानों पर पड़ना अनिवार्य है। मुझे यह बात महसूस हुई है कि एक तरह का बनावटी हौवा खड़ा करके हम उसके खिलाफ लड़ते हैं। हमारे लिए यह बात करना ज़्यादा उपयोगी होगा कि जो नई विचारशीलता आई है, साहित्य की आलोचना के लिए जो नए औजार दिखाई पड़ रहे हैं, वे किस हद तक प्रासंगिक हैं – अपने आप में और हमारे साहित्य के संदर्भ में। हमारे साहित्य की परंपरा के अंदर। पर उसके लिए हमें उस साहित्य को पढ़ना पड़ेगा जिससे जुड़कर अपनी पुस्तकों की निंदा कर रहे हैं। जिन कारणों से वे पैमाने बने हैं, उनको भी समझने की कोशिश करनी पड़ेगी और वह शायद ज्यादा कठिन काम है। किसी एक प्रवृत्ति को नकार देना और उसकी आलोचना कर देना अपेक्षाकृत ज्यादा आसान काम है और दुर्भाग्य की बात है कि हमारे देश में जो कुछ आसानी से हो सकता है लगातार हम उसकी तरफ बढ़ते हैं।

श्रोता : नकारा नहीं जा रहा, बल्कि उसका एक तरह से विश्लेषण करके समझने की कोशिश की जा रही है कि ऐसा क्यों है?

नेमिचन्द जैन : मुझे ऐसा नहीं लगा। राठीजी का पर्चा इस दृष्टि से कुछ थोड़ा-सा भिन्न है। पर पत्र-पत्रिकाओं में आलोचकों पर इस बात को लेकर कि वो उत्तर-आधुनिकता से ग्रस्त हैं और साहित्य को भी उसी से घिरा हुआ बनाए दे रहे हैं, लगातार प्रहार हो रहा है। विष्णु खरे को विनोद कुमार शुक्ल के उपन्यास बहुत उत्कृष्ट लगते हैं। ऐसे तमाम साहित्यकार हैं जो कहते हैं कि वह पूरी तरह से बनावटी साहित्य है। ये वो दृष्टियां उन रचनाओं को देखने के बारे में मीजूँ हो सकती हैं और वे अपनी-अपनी जगह 'वेलिड' हो सकती हैं हमारे बीच इसकी संभावना रहनी चाहिए कि यह संवाद हो सके। विष्णु खरे यह कह सकें और दूसरा कोई दूसरी बात कह सके।

गिरधर राठी : मैं समझता हूँ कि शायद मैं अपनी बात कहने में पूरी तरह दिक्कत रहा हूँ, क्योंकि मेरी कोशिश यह थी कि मैं बहुत विस्तार में अपनी बात न रखूं।

मैंने आलोचना पर विशेष रूप से ध्यान इसलिए दिया है कि हम दशा और दिशा की बात करने के लिए यहाँ आए हैं। रचनाएं असंख्य हैं, वे लोगों तक नहीं पहुँचती। उसके पीछे भी एक कारण आलोचना होती है, चाहे वह मीडिया,

इलेक्ट्रानिक मीडिया के माध्यम वाली हो या स्कूल कॉलेज के माध्यम से हो, पता ही नहीं लगता कि कोई किताब आई है। इसलिए मैंने आलोचना की विशेष रूप से बात की थी और आलोचना पर भी मैंने प्रहार नहीं किया है। मैंने कहा है कि आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने और आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी ने या बाद में और दो-तीन लोगों ने जब आलोचना को अपना माध्यम बनाया तो वे जिस शब्द का इस्तेमाल कर रहे थे, जिस प्रत्यय का इस्तेमाल कर रहे थे, उसकी तह तक गए थे। ऐसा नहीं था कि भानुमती का कुनबा आपने जोड़ लिया। अगर आप फूको का इस्तेमाल कर रहे हैं तो आपको नीत्शे के बारे में भी सोचना पड़ेगा। अगर आप देरिदा के बारे में बात कर रहे हैं तो आपको पूरी की पूरी आधुनिकता की उस परंपरा में जाना पड़ेगा जो अरस्तू और प्लेटो और उससे भी आगे तक जाती है। अगर हम लीला शब्द का इस्तेमाल कर रहे हैं तो हमें 'योगवशिष्ठ' और पूरे स्मृति और उपनिषदों का भी ख्याल रखना पड़ेगा, उस पूरी परंपरा का ख्याल रखना पड़ेगा कि लीला के कितने-कितने शब्दांतरण, रूपांतरण होते चले गए हैं और आज हम उसे किस रूप में देख रहे हैं। आज जो 'प्ले' है, वही लीला है कि नहीं है। मुझे अफसोस यह है कि हम जिस तरह से आलोचना निर्धारण करने में ज्यादा रुचि रखते हैं वह ठीक नहीं है कि यह साहित्य और साहित्यकार अच्छा है, बाकी सब साहित्यकार खराब हैं। बजाए इसके कि पहले उस ज़मीन को दिखाएं, बताएं कि किस ज़मीन पर क्या-क्या उपलब्ध है? निरूपण तो करें कि जो यहाँ मौजूद है वह क्यों है, उसके क्या तर्क हैं जिसके कारण वह पैदा हुआ, वह रचना क्यों लिखी गई। उसके बाद आप तय कर सकते हैं कि मुझे विनोद कुमार ज़्यादा पसंद हैं या अलका सरावगी ज्यादा पसंद हैं। मुझे अज्ञेय ज़्यादा पसंद हैं या राजेन्द्र यादव ज़्यादा पसंद हैं। यह शायद अंतिम काम होगा जो पाठकों पर छोड़ा जा सकता है। आलोचना की सबसे बड़ी विफलता यह है कि हम आलोचना और समीक्षा तो बहुत लिख-पढ़, सुन रहे हैं लेकिन अपने शब्दों का, अपने औजारों का कि हम कहाँ से वे औजार लाए हैं, क्यों इस्तेमाल कर रहे हैं, इसके बारे में हम बिलकुल नहीं सोच रहे हैं। इस आरोप को मैं फिर से दोहराना चाहूँगा। इस समय जो आलोचना हो रही है, उस आलोचना पर मैं यह कहना चाहूँगा कि उसमें न तो हमारी अपनी आलोचना के इतिहास की कोई समझ है और न सिद्धांत की कोई समझ है। पश्चिम की तो कोई समझ है ही नहीं। और आलोचना में मैंने वही अर्ज़ किया था कि आचार्य शुक्ल थे जिन्होंने फैशन कहकर उसका तिरस्कार किया था। पश्चिम में फैशन की तरह

हर पांच-दस साल के बाद कोई आलोचना चली आती है। हमारे यहाँ शुक्लजी के बाद किसी भी आलोचना ने कभी यह नहीं किया उनकी विचार-पद्धति यह है, हमारी यह है, हम इस तरह से चल रहे हैं, वे इस तरह से चल रहे हैं। होता यह रहा कि एक समाजवादी पद्धति आ गई, फिर 'न्यू क्रिटीसिज्म' आ गया, फिर शैली विज्ञान आ गया, फिर विखंडनवाद चला आ रहा है। मैं विखंडनवाद के खिलाफ नहीं हूँ। मेरी शिकायत सिर्फ यह है कि उसको समझे बगैर उसको खारिज कर दिया है। लेकिन चुपके से, बिना बताए, उसी शब्दावली का उपयोग, बिना किसी को 'अक्नॉलिज' किए चल रहा है कि यह देरिदा का शब्द है कि फूको का, या और कहीं से आया है।

दूसरा, मैं अर्ज़ करना चाहता हूँ कि आज़ादी के बाद लोकप्रिय साहित्य और श्रेष्ठ साहित्य में दरार बढ़ी है, बावजूद इसके कि स्थिति वही है। निराला और पंत उस समय उपहास के पात्र ज़रूर रहे होंगे, हर नई चीज़ के साथ ऐसा होता है। लेकिन मुझे यह लगता है कि आज़ादी के बाद यह फांक ज्यादा बढ़ी है। इसीलिए मैंने अर्ज़ किया था कि तिलस्मी उपन्यास, बड़ा साहित्यकार भी पढ़ता था और साधारण पाठक भी पढ़ता था, वह प्रेमचन्द को भी पढ़ता था और कवि सम्मेलन में निराला भी जाते थे और पंत भी जाते थे, अब नहीं जाते। तो यह एक बड़ा फर्क आया है।

राजेन्द्र यादव : राठीजी के पर्चे से उठने वाली समस्याओं पर फिर आगे बात होगी। इसके बाद दूसरा पर्चा श्री नेमिचन्द्रजी का है।

आलेख पाठ : नेमिचन्द्र जैन

पर्चा

राजेन्द्र यादव : नेमिजी ने मेरा ख्याल है पूरे भारतीय परिदृश्य में हिन्दी नाटक की प्रस्तुति और रंगकर्म की प्रस्तुति पर प्रकाश डाला है। पहले विष्णु खरेजी इस पर बात करेंगे।

विष्णु खरे : इस पर बातचीत में जैसा मैंने सवाल उठाया था कि अलग-अलग भाषाओं के श्रेष्ठ नाटकों के आने से हिन्दी के नाटककार को जो एक खास तरह की अखिल भारतीय चुनौतियां मिल रही है, जिन्हें कहना चाहिए 'अनईवन चैलेंजेज़', उनके बीच वह अन्य भारतीय भाषाओं की चुनी हुई रचनाओं में जो श्रेष्ठ है उसके मुकाबले वह अपना लेखन करे, तब तो स्टैंड कर सकता है वरना नहीं कर

सकता। उसकी रचनात्मकता शायद यहाँ कहीं बाधित होती है, कुंठित न भी हो तो। शायद मौलिक, रचनात्मक लेखन में यह सबसे बड़ी बाधा है। दूसरी चीज़, इस तरफ शायद इनका ध्यान गया या नहीं गया, कहानी और उपन्यासों के जो नाटकीकृत रूप आ रहे हैं, उन्होंने भी भाषा और नाटक को एक दूसरा स्तर दिया है। तीसरी, मेरी जिज्ञासा यह थी कि क्या ब्रेष्ट को छोड़कर कोई ऐसा नाटककार है जिसने अपनी मातृभाषा से अलग नाटक लिखे हों और उससे अपने समाज को आंदोलित किया हो। जैसे मैं उदाहरण अगर दूं तो मलयालम में तमिलभाषी नाटक, *तुमने मुझे कम्युनिस्ट बनाया* एक बड़े सामाजिक बदलाव की पृष्ठभूमि उस अकेले नाटक ने तैयार की है। इस तरह के नाटक सामाजिक रूप से जागृति फैलाते हैं या एक विशेष दिशा की तरफ बढ़ाते हैं, जो हिन्दी का शहरी नाटक है, यानी एक खास तरह का अखिल भारतीय स्तर का नाटक है, क्या इसमें कोई ऐसे परिवर्तन की मानसिकता, समाज में जागरुकता छोड़िए, लाने की कोशिश की या ऐसा कहीं हुआ। क्योंकि नाटक मुझे ऐसा लगता है कि एकमात्र ऐसी विधा है जो सिर्फ अपनी मातृभाषा में, और संभव हो तो, शायद लोकभाषा में ही सबसे ज्यादा प्रभावशाली होती है। ऐसा मैं सोचता हूँ। खैर ये सवाल हैं, आप लोग चाहें तो इन पर बात करें।

नेमिचन्द जैन : जहाँ तक अखिल भारतीय श्रेष्ठतम कृतियों के सामने हिन्दी के नाटककार के कुंठित या संकुचित होने का प्रश्न है, मुझे यह बहुत वैध नहीं लगता। हमारे सामने सारे संसार का साहित्य है, अगर हम उससे कुंठित हो जाएं और अपने आपको, रचना को, बाधित अनुभव करें तो यह बड़े दुर्भाग्य की बात होगी। मैं यह कहना चाहता हूँ कि इन सारी प्रक्रियाओं के बावजूद जब *अंधायुग* लिखा गया था, तो उस समय अगर कोई 'चैलेंज' था, तो सारी दुनिया का नाटक ही था। वह इसलिए लिखा गया क्योंकि एक ऐसी सृजनशील संवेदना उस वक्त मौजूद थी। दूसरी यह बात अपने आप में बहुत सही नहीं लगती कि इसके कारण हिन्दी में नाटक कम लिखे गए हैं या कम अच्छे लिखे गए हैं। अगर थोड़े-बहुत अच्छे लिखे गए हैं तो शायद इस कारण ही अच्छे लिखे गए हैं। और एक बात यह है कि नाटक में खासतौर से – मेरा ख्याल है दूसरी विधाओं में भी ऐसा होता है – एक ऐसा दौर आता है जब बहुत अच्छा लेखन होता है, फिर नहीं होता। शेक्सपीयर के बाद अंग्रेज़ी के नाटक की दुनिया शताब्दियों तक फीकी पड़ी रही। जितना उभार अंग्रेज़ी नाटक का दूसरे महायुद्ध के बाद आया, वह एक नया उभार था। नाटक के क्षेत्र में लगभग हर जगह ऐसा दिखाई पड़ता है। और दूसरे देशों में भी हम देख सकते

हैं कि बड़े नाटककार हैं और फिर एकाएक कुछ नहीं होता। यह स्थिति नाटक की दुनिया में सब जगह है। बंगला जो इतनी बड़ी नाट्य-समृद्ध भाषा थी, उसमें सबसे कम मूल और श्रेष्ठ नाटक लिखे गए। सबसे ज्यादा अनुवाद या रूपांतर बंगला में ही खेले जाते हैं। वहाँ यह चैलेंज नहीं था, जो हिन्दी में है कि श्रेष्ठ रचनाएं एक साथ उपलब्ध हैं। उन्होंने विदेशी नाटकों के अनुवाद और रूपांतर जारी किए। वहाँ ऐसी कोई चुनौती नहीं थी फिर भी नाटक नहीं लिखे गए। यह कारण मुझे निजी तौर पर पर्याप्त नहीं लगता।

इसके अलावा इस बीच हिन्दी में नाटक लेखन की प्रक्रिया बहुत विस्तृत रही और मुझे हमेशा लगता रहा है कि नए ढंग से नाट्य रूप की तलाश हिन्दी में जारी है। अभी तक जो एक ढांचा बना हुआ था वह एक हद तक पश्चिमी नाटक का ढांचा था। सुगठित यथार्थवादी नाटक का ढांचा हमारे सामने था या शेक्सपीयर के नाटक का ढांचा था। प्रेस ने एक नया ढांचा प्रस्तुत किया। और भी कई तरह के परिवर्तन हुए हैं और उस दिशा में कई हिन्दी के नाटककार प्रयत्नशील हैं। मुझे लगता है कि जो मौलिक अच्छे लेखन की गुंजाइश और संभावना पिछले 20 वर्ष में हिन्दी में हुई है, उतनी और किसी भाषा में नहीं है। मेरी जितनी जानकारी दूसरी भाषाओं के नाटक साहित्य की है, उसके आधार पर मैं यह कहने की, कुछ संकोच के साथ, हिम्मत ज़रूर करता हूँ कि हिन्दी में जो नाटक लेखन हो रहा है, इसमें रचनाशीलता ज्यादा है। किंतु नाट्य रूप की जितनी सूक्ष्म पकड़ चाहिए या उसकी बनावट चाहिए वह ठीक नहीं हो पा रही है या कि जो करने वाले लोग हैं उनके साथ नाटककार का रिश्ता ठीक नहीं बनपा रहा ताकि जो लिखा जा रहा है उसको मंच पर समय से प्रस्तुत किया जा सके। इसके कारण थोड़ा अवरोध है, पर हिन्दी नाटक बाधित हुआ है, इतनी बड़ी श्रेष्ठ सामग्री उपलब्ध होने से, यह मुझे नहीं लगता।

दूसरी बात जो तमिल भाषी नाटक *तुमने मुझे कम्युनिस्ट बनाया,* के बारे में कही गई, इप्टा का प्रारंभिक काम इसी प्रकार का था। बंगला का नाटक *नबान्न* खेला गया और उसने अकाल पीड़ितों के लिए मन में एक सहानुभूति पूर्ण, जागरूकता पैदा की। और इस बीच में इप्टा जैसा संगठन लगातार इस तरह का काम करता रहा है, जन-नाट्य मंच काम करता रहा है, रंगकला में लगातार इस तरह का काम होता रहता है। उसी के बीच में से कभी-कभी कोई ऐसी रचना निकल कर आती है जो अपने आप में श्रेष्ठ रचना हो। कई बार सामाजिक सार्थकता का काम अपने आप

में ज़रूरी भी होता है और महत्त्वपूर्ण भी होता है, पर अनिवार्य रूप से वह श्रेष्ठ रचना को जन्म दे, यह मुझे नहीं लगता। हिन्दी में इस तरह का काम कुछ होता है। सफ़दर हाशमी ने इस तरह का कुछ काम किया। कई नाटक लिखे, अनूदित किए गए। बच्चों के लिए नाटक लिखे गए जिनमें इस तरह के सामाजिक बदलाव को हमारे अनुभव का हिस्सा बनाने की, हमारी मानसिकता को बदलने की कोशिश दिखाई पड़ती है। यह काम नाटक में होता है। नाटक की बड़ी समस्या दर्शक की है, साधनों की है, जिसके बिना नाटक नहीं किया जा सकता। जिस कठिनाई का सामना नुक्कड़ नाटक करते हैं, जहाँ पर कोई साधन की जरूरत नहीं है। जाहिर है उससे एक संदेश पहुँचाया जाता है। आप जो एक सूक्ष्म अनुभूति की बात सोचते हैं, एक स्थायी प्रभाव की बात सोचते हैं, एक श्रेष्ठ रचना से प्राप्त होने वाली बात सोचते हैं, वहाँ वह मुमकिन नहीं होता।

विष्णु खरे : हिन्दी में थोड़ा अधिकार है, हालांकि यहाँ किसी पर आरोप नहीं लगा रहा हूँ, लेकिन हिन्दी में अधिकार विषयांतर का तो है ही, इसलिए मैं थोड़ा-सा विषयांतर करूंगा। बाहर नहीं, थोड़ा-सा गिरधर राठीजी के पर्चे की तरफ जाऊंगा और नेमिजी ने जो बात कही है, उसके बारे में चर्चा करूंगा।

बातें कई हुई हैं और उनको देखने के कई पहलू हैं। जो चर्चा हुई है, उसमें कई बातें शामित हो चुकी हैं। पर एक बात जो गिरधर राठीजी के पर्चे में थी और नेमिजी के वक्तव्य में कही तो नहीं गई है, लेकिन उसमें मौजूद है, मुझे लगता है यह जो थ्योरी की समस्या है, सिद्धांत निरूपण की समस्या है साहित्य में या प्रदर्शनकारी कलाओं में उसमें हिन्दी कहाँ है? इसकी चर्चा भी हमें करनी चाहिए और इस पर ध्यान दिया जाना चाहिए। आलोचना की चर्चा हुई थी, प्रदर्शनकारी कला की आलोचना में भी हिन्दी की क्या स्थिति है? साहित्य की आलोचना में तो जो है उस पर लगातार बहुत विचार-विमर्श करते रहते हैं। एक परेशानी है सिद्धांत में, आलोचना में, सिद्धांत निरूपण में आलोचना की भी कई दिशाएं बदल गई हैं। एक तो आलोचना वह है जो थ्योरी देती है। दूसरी आलोचना वह होती है जो कहीं प्रचलनात्मक होती है, पत्र-पत्रिकाओं में आती है। वह उस चीज के बारे में बताती है। प्रचार एक ऐसा शब्द हो चुका है, जिसके बारे में हम कई बार थोड़ा-सा नकारात्मक ढंग से भी सोचते हैं पर यह एक अच्छी बात भी है। मुझे लगता है कि हर प्रचारात्मक लेखन जो होता है, आलोचना होती है। साहित्य के बारे में, उपन्यास

के बारे में, कविता के बारे में या किसी नाटक के बारे में, उसमें कहीं न कहीं एक सैद्धांतिक आग्रह भी रहता है और वह सैद्धांतिक आग्रह कैसे बनता है, इसके बारे में भी सोचने की जरूरत है। हिन्दी साहित्य में, आलोचना लेखन में यदाकदा जो मैंने प्रयास किए हैं, उसके बारे में मुझे सोचते हुए लगातार लगने लगा है कि हम उस सोचने की प्रक्रिया में कहीं न कहीं आंतरिक संघर्ष की प्रक्रिया का पालन तो नहीं करते हैं। मैं यह नहीं कह रहा हूँ कि जो विचार हम पश्चिम से सीधे ले लेते हैं और वह हर विचार बहुत खराब है। हम ऐसी दुनिया में रह रहे हैं जिसमें इंटरेक्शन स्वाभाविक है और चाहिए भी। लेकिन कहीं न कहीं जिस तरीके से हम लगातार विचारों की पद्धतियों को अनायास उठा लेते हैं बिना सोचे-समझे या बिना उसके बारे में गहरे ढंग से जाने, वह एक बहुत ही त्रासद्पद चीज़ हुई है। इस प्रयास में बहुत सारा कबाड़ा किया गया है। वह उत्तर-आधुनिकता के दौर में भी हो रहा है। आधुनिकता के दौर में भी हुआ है और प्रगतिशीलता के दौर में भी हुआ है।

अब मुझे कहने की धृष्टता है, लेकिन मैं *तमस* उपन्यास को अच्छा उपन्यास मानता ही नहीं हूँ, बहुत ही खराब उपन्यास है। लेकिन इस उपन्यास को साहित्य अकादमी पुरस्कार मिला और बहुत अच्छा हो गया। यह बहुत साधारण उपन्यास है और एक साधारण उपन्यास की तरह उसमें कई कमजोरियां हैं, लेकिन जो सीरियल उस पर बना वह मुझे वाकई बहुत अच्छा लगा। अपने आप में वह क्लासिकल सीरियल है। बल्कि यह उपन्यास मर जाएगा, लेकिन वह सीरियल हमेशा, जब तक धरती है, तब तक जीवित रहने वाला सीरियल है।

बहरहाल मैं थ्योरी की बात कर रहा था। थ्योरी में एक समस्या वह है जो प्रदर्शनकारी कलाओं में भी है। हमारे यहां नाटक की तो महान चिंतन परंपरा है, लेकिन आप देखिए कि हिन्दी में हमारे यहाँ आलोचना कहाँ है। हिन्दी की नाट्य समीक्षा तो बहुत समृद्ध है और नेमिजी उसके पुरोधा पुरुष हैं, इसमें भी कोई शक नहीं है। लेकिन हमारे कलाकारों ने, निर्देशकों ने, अभिनेताओं ने खुद अपनी कला के बारे में सोचते हुए, अपनी अंतः प्रक्रिया के बारे में कितना लिखा है? अब हमेशा सिद्धांत नाटक शुरू करता है, एक्टर स्तालिन का सिद्धांत उठा लेता है। एक भी किताब सिद्धांत पर है कि कैसे एक्टर को 'प्रिपेअर' करना चाहिए? बिरजू महाराज कत्थक के इतने अच्छे नर्तक हैं। खुद उन्होंने अपने नृत्य के बारे में जो समझ पैदा

की है, उसके बारे में दूसरी भाषाओं में तो कुछ नहीं, हिन्दी में भी कुछ नहीं लिखा गया है। इसका एक बड़ा गहरा असर होता है जब हम किसी भी प्रदर्शन कला या साहित्य के बारे में, आलोचना के बारे में सोचते हैं कि हम उसका सिद्धांत कैसे बनाएं। अक्सर होता यह है कि हम सिद्धांत उठा लेते हैं कि फलां ने क्या कहा था और उसमें पैच पैदा कर देते हैं जिससे कई बार निश्चित रूप से बहुत हास्यास्पद हो जाता है। हास्यास्पद इस वास्ते होता है कि कहीं भी, किसी भी चीज को उत्तर-आधुनिक कह दीजिए। एक गमला लगा हुआ है, यह भारतीय है या आधुनिक है या उत्तर-आधुनिक है, कुछ भी कह दीजिए। हिन्दी में सब चलता है। कुछ भी किसी भी रूप में कह दीजिए, कहीं कई चीजों के कहने के प्रति सुचिंतित दिमाग काम नहीं करता। उसका आग्रह उस समाज में कम होता जा रहा है जिसके प्रति उसकी जिम्मेदारी है। यथार्थवाद वैसे ही कुआं बना हुआ है। किसी भी चीज़ को यथार्थवाद कह दीजिए। वैसे ही उत्तर-आधुनिकता का हुआ है, वैसे ही आधुनिकता का। किसी भी चीज को जब हम सोचते हैं तो उसका सैद्धांतिक अध्ययन करते हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की बात उठी थी, उन्होंने भी बहुत कुछ पश्चिम से लिया था। लेकिन एक प्रक्रिया थी, उनमें। शुक्लजी की कई आलोचनाएं बहुत गड़बड़ हैं, लेकिन उसमें गहराई है कि उस प्रक्रिया को बनाने की उन्होंने कोशिश की। अब यह गहराई उन लोगों में खत्म हो रही है जिन पर यह जिम्मेदारी है। सारे लोग सिद्धांतकार नहीं होते, पर जो सिद्धांतकार होते हैं, उनके ऊपर यह जिम्मेदार रहती है कि वे सिद्धांत बनाते समय चीजों को गहरी प्रक्रिया में जाकर देखें। वे जो कह रहे हैं उसके प्रति कितने सुचिंतित हैं! कोई अफरा-तफरी नहीं है कि जो मन में आया कह दिया। लेकिन इस ज़िम्मेदारी की भयानक कमी हमारे साहित्य आलोचना में भी है, प्रदर्शनकारी कलाओं की आलोचना में भी है और मैं तो समझता हूँ हमारी सामाजिक आलोचना में भी है। जिसके भी मन में जो आया – कोई कोलोनाइजेशन का समर्थन कर रहा है, तो कोई विरोध कर रहा है। क्यों कर रहे हैं? एक आदमी ने कहना शुरू किया कि पश्चिम से जो आ रहा है सब कूड़ा है। सब धमासान कर रहे हैं कि कूड़ा है। सुचिंतित और विश्लेषणात्मकता होनी चाहिए कि कैसे कोई चीज़ गड़बड़ है। एक पुष्टि के साथ आप तैयार करते हैं कि अमुक तथ्य है, जिसको डाटा कहते हैं। वह डाटा गायब हो रहा है हमारी आलोचना पद्धति से। चाहे वे साहित्य में रखें, चाहे हम प्रदर्शनकारी कलाओं में जाएं, उसके प्रति एक ज़िम्मेदारी उन पुरोधा पुरुषों की बनती है जो कि शिखर पुरुष हैं या कलाकर्मी हैं। मुझे लगता है वे अपनी ज़िम्मेदारी नहीं निभा रहे हैं।

मृणाल पाण्डे : मैं एक छोटा-सा मुद्दा उठाना चाहूंगी और चाहूंगी कि नेमिजी उस पर अपनी राय दें। नृत्य और संगीत में उन्होंने हिन्दी के जुड़ने की और उनके नर्तकों द्वारा, विशेषकर कत्थक के क्षेत्र में नई कविता के प्रस्तुतिकरण की बात की। लेकिन अभी मैं मुकन्द लाठ का एक लेख पढ़ रही थी और मैं उनकी स्थापना से बिलकुल सहमत हूँ कि कत्थक का बहुत बड़ा अहित हुआ है। कत्थक को सिर्फ कथोपकथन से जोड़ने के कारण उसकी मूल आत्मा ताल के साथ उसका जो मूल अंतरंग जुड़ाव है, उस ताल के माध्यम से वह साहित्य से जुड़ताहै। जैसा कि अभी त्रिपाठीजी ने कहा, अनुसंधान हुआ है लेकिन न नर्तकों द्वारा, न नृत्य समीक्षकों के द्वारा। मेरे ख्याल से उससे यह हुआ है कि आज प्रधान मंत्री कविता लिखते हैं तो उस पर भी कत्थक किया जाता है, कोई और कविता लिखता है तो उस पर भी कत्थक किया जाता है। और सचमुच की अच्छी कविता पर भी कत्थक किया जाता है। लेकिन इन प्रस्तुतियों के पीछे कितना जैविक विकास है नर्तक या नर्तकी की अपनी चेतना का और उस नृत्य का जो मुहावरा या व्याकरण है, कितनी सपनता के साथ उसका गुंथन होकर एक सहज रूप में फूल की तरह से वह खिला है। इसका बहुत ही अभाव, कम-से-कम मुझे, देखने को मिला है। लेकिन मैं उतना अधिक देख नहीं पाई हूँ, नेमिजी इस पर बेहतर बता सकते हैं।

विष्णु खरे : नाटक के बारे में एक बात कहना चाहता हूँ कि क्या कारण है कि भारत के कुछ प्रदेशों में ही नाटक विकसित हुआ और फला-फूला है? लेकिन अच्छे नाटककार पैदा नहीं हुए। मैं समझता हूँ, इसकी पड़ताल बहुत ज़रूरी है। मैं इसका कोई कारण समझ नहीं पाया। एक कारण यह लगता है कि चूंकि कम-से-कम उत्तर भारत में जाति प्रथा बहुत है और उत्तर भारत में एक ऐसी संस्कृति का प्रभाव बहुत रहा, जहाँ शायद स्त्री-पुरुष एक साथ मंच पर नहीं आ सकते थे। उसके पीछे जाएं तो यह स्पष्ट लिखा हुआ है कि हमारे यहाँ जो नट और अभिनेता थे वे शूद्र और अस्पृश्य माने गए हैं। तो क्या उत्तर भारतीय संस्कृति में यह तत्त्व मौजूद हैं? जातिवाद तो भयानक है ही, इसमें कोई शक नहीं। जब तक आप जाति नहीं तोड़ेंगे, समाज बराबर नहीं होगा। नाटक संभव नहीं होगा, ऐसा मेरा मानना है। मुझे एक विधान याद आता है, जब मैं खंडवा में एक मराठी परिवार में रहता था। हम लोग रात को 3-4 घंटे केशव अत्रे के नाटक पढ़ते थे। एक अंश मैंने पढ़ा, एक रवीन्द्र ने पढ़ा, एक राजेन्द्र ने पढ़ा और रातभर हंसते, रोते रहते थे। यह संस्कृति थी और अब भी यही है। तभी महाराष्ट्रियों को नाटीवेड़ा कहा जाता है–

नाटक के पागल। यह हिन्दी में क्यों नहीं हो पाया? हिन्दी के नाटक अदेख्य नाटक हैं। इनको देखना मुश्किल है। इसमें थोड़ा अतिवाद हो सकता है, लेकिन मैं पारिवारिक रूप से नाटक से जुड़ा हुआ हूँ तब भी मैं हिन्दी के नाटक देखने नहीं जाता क्योंकि बहुत गड़बड़ मामला है नाटक का। एक जो नेमिजी ने बहुत अच्छी बात कही अंग्रेज़ी नाटक के फिर से उभार की। लेकिन एक दिशा, एक और उदाहरण देकर समाप्त करूंगा। बा रिटायर थोड़े (मां रिटायर होती है) गुजराती का नाटक है। अब आप देखिए कि जब इसका हिन्दी अनुवाद हुआ तो जया बच्चन ने कहा कि मैं उसमें बा का रोल करूंगी। जया बच्चन के रोल करने के कारण उस नाटक को अत्याधिक 'स्पोन्सर्स' मिले। यह नाटक न्यूजीलैंड, आस्ट्रेलिया जा चुका है। उसका ट्रुप अभी पिछले महीने मुंबई से कानपुर गया था – पूरे अभिनेता हवाई जहाज़ से गए। यह ट्रुप कल रात को दुबई रवाना हो रहा है। क्योंकि यह गुजराती से हिन्दी में अनूदित नाटक है, जया बच्चन और गुजराती समुदाय का आत्मगर्व है। इसलिए यह सेलआउट होता है। जैसा कि नेमिजी कह रहे थे, अंग्रेजी के शो सेलआउट होते हैं। हमेशा पांच सितारा होटल में होते हैं। जया बच्चन के तो सारे शो सेलआउट हैं। अमेरिका में अभी से ही सालभर बाद के मंचन बुक हैं। कनाडा में बुक हैं। यह भी सोचना पड़ेगा कि हिन्दी रंगमंच के लिए क्या कभी हमने ऐसा मौका दिया? या हमारे अभिनेताओं ने ऐसा मौका दिया? या जैसे उर्दू की बात की नेमिजी ने। उर्दू क्यों इतनी प्रभावशील होती है रंगमंच पर और फिल्मों में? हिन्दी क्यों नहीं हो पाती? हिन्दी की प्रकृति में, समाज में, हिन्दी की 'क्रिएटिविटी' में वह क्या कमी है जो कि उसे नाटक की ओर जाने से रोकती है।

नेमिचन्द जैन : विष्णुजी की पहली बात का जवाब शायद उसी में है जब उन्होंने कहा कि बंगाल और महाराष्ट्र में नाटक हुए, बल्कि यह कहना चाहिए कि मुंबई और कलकत्ता में नाटक हुए जहाँ जो सामाजिक प्रतिबंध हैं, जाति के या दूसरे लगभग समाप्त होते जा रहे हैं और खास तरह की व्यावसायिकता आ रही है। उन लोगों के पास दो ऐसे बड़े महानगर थे जिनमें ये सारे बंधन कमज़ोर थे। ...

राजेंद्र यादव : मित्रों कुछ थोड़ी-सी बातें हिन्दी या हिन्दी साहित्य को लेकर मेरे मन में हैं, उनको मैं कहना चाहता हूँ। एक ग़लतफ़हमी या कहना चाहिए कि आत्ममुग्धता हिन्दी को लेकर हम बनाए हुए हैं, खासतौर से भाषा को लेकर और गद्य को लेकर। मैं यह मानता हूँ, जो हम लोग कहते रहे हैं कि उर्दू हिन्दी की एक

शैली है और भाषा है। मुझे ऐसा लगता है कि हिन्दी गद्य का विकास या जिस खड़ी बोली में हम लिखते हैं, उससे उर्दू का इतिहास लगभग 400 वर्ष पुराना है। पहली गद्य रचना मुल्ला वज़ाही की *सबरस* हैदराबाद में 400 वर्ष पहले लिखी गई, इसके अलावा अगर 19वीं शताब्दी का ही गद्य देखें तो उर्दू का गद्य ज्यादा 'मेच्योर्ड' है, ज्यादा तराशा हुआ है, ज्यादा 'ब्रॉड' है, बजाए लल्लू लाल सदल मिश्र वगैरह के जो निहायत कच्चा है। यहाँ तक कि भारतेन्दु का गद्य भी लड़खड़ाता हुआ दिखाई देता है। उस वक्त बाकायदा हाली में वे सारी चीजें आपको दिखाई देती हैं जो 'मेच्योर' गद्य में होती है। और चूंकि वे लगभग एक ही सांस्कृतिक क्षेत्र में बोली जाती रही हैं – हिन्दी और उर्दू दोनों – इसलिए वे साथ-साथ हैं। प्रश्न है हिन्दी के गद्य ने या हिन्दी भाषा ने उर्दू से सीधी प्रेरणा क्यों नहीं ली? उसके पीछे मुझे एक खास तरह की सांप्रदायिक भावना लगती है। हिन्दुत्व का उसमें जो तत्त्व घुसा दिया गया उससे हिन्दी में उर्दू से बचने की मानसिकता रही है और यह तत्त्व आज तक बना हुआ है। यहाँ तक कि एक भाषा में जो सेक्यूलर तत्त्व होना चाहिए, वह मुझे नहीं दिखाई देता। वह सेक्यूलरिज्म जिसमें आप हर तरह की बात अपनी भाषा में कह सकते है। एक मुसलमान अपने सिद्धांत उसी ताकत से कह सके जिस ताकत से कोई हिन्दूधर्मी। मैं हिन्दी में हिन्दी का बंटाधार करते हुए एक लेख लिख सकूं और इसके बारे में मुझे यह न सुनना पड़े कि हिन्दी का खाते हैं और हिन्दी के खिलाफ लिख रहे हैं। भाषा का जो एक सेक्यूलर तत्त्व होता है वह हिन्दी में विकसित नहीं होने दिया गया। यही वजह हुई कि दूसरी जातियों और धर्मों के लोगों का हिन्दी में 'कंट्रीब्यूशन' कम रहा और वह जो एक 'सेक्यूलर करेक्टर' बनना चाहिए था वह नहीं बना। वह केवल कुछ वर्गों तक यानी जो विष्णु खरे नाटक के बारे में कह रहे थे, मैं समझता हूँ कि पूरी भाषा को लेकर है कि हिन्दी का लेखन केवल कुछ उच्च वर्ग के लोगों, प्राध्यापकों के बीच में ही बना रहा और उसने निचले लोगों की भाषा को अपने साथ समाहित नहीं किया। इसलिए वह भाषा उर्दू के मुकाबले लगभग बेजान दिखाई देती है। जिसमें बहुत चीज़ें नहीं मिलीं। भाषा का बहुत सशक्त रूप बोलियां ज़रूर होती हैं। सही है, बोलियों से भाषा समृद्ध-संपन्न होती है और उस अर्थ में हम सब द्विभाषी लोग हैं जो घरों में एक भाषा बोलते हैं और सामान्य रूप से दूसरी भाषा बोलते हैं। मतलब जो हिन्दी का सर्वस्वीकृत रूप है। लेकिन जो भाषा का सबसे सशक्त रूप होता है, 'स्लैंग', जिसको हम बाज़ारू भाषा कह सकते हैं, हमारे शुद्धतावाद ने भाषा को उससे बचाकर रखा। जो फोर्स स्लैंग में होती है, बाज़ारू

भाषा में होती है, उसको बाज़ारू कह कर हमने निंदा की और भाषा में नहीं आने दिया। हिन्दी का अब जो विकास दिखाई देता है, जिसमें तरह-तरह की आंचलिकताएं हैं, तरह-तरह की बाज़ारू भाषाएं हैं, और दूसरी जो स्थानीय भाषाओं के मुहावरे हैं, वे जिस तरह से समृद्ध हो रहे हैं, जिनके अभाव से विकास लगभग 50 वर्ष तक रुका रहा। यानी कहना चाहिए कि एक लोकतांत्रिक व्यवस्था के आने से पहले भाषा भी एक बंधी हुई भाषा रही जो सम्राज्यवादी और सामंतवादी शिकंजे में ही कसी रही और लगभग उसी मानसिकता का शिकार रही।

दूसरी बात जो मुझे इसमें और लगती है कि भाषा एक समाज का पूरा 'रिफलैक्शन' है। यह प्रचार तंत्र तो है ही नहीं जिसके आधार पर विश्वस्तर की कोई रचना आई हो। विश्वस्तर का आशय है, विश्वस्तर पर जिसका प्रचार-प्रसार हुआ हो या चर्चा हुई हो। वह आखिर है क्या जो एक रचना को विश्वस्तर का बनाती है। विश्वस्तर की रचना का जो सोचने का तरीका है, उसके पीछे क्या मानदंड हैं? मुझे ऐसा लगता है कि किसी रचना को विश्वस्तर का, बजाए उसकी गुणवत्ता के बहुत-कुछ तो मीडिया बनाता है। हम उसे रेडियो, टी. वी. में, अखबारों में देखते-पढ़ते हैं, रिव्यू कॉलम में देखते हैं तो लगता है कि रचना बड़ी है। इस तरह से हर साल विश्वस्तर की रचना आती है, और अगले दिन गायब हो जाती है। अभी थोड़े दिन पहले तक विक्रम सेठ विश्वस्तरीय थे, इसके बाद फिर अरुंधति राय आईं, बीच में थोड़ी-बहुत चर्चा एल. एन. सैली वगैरह की भी हुई। यह कह सकते हैं कि विश्वस्तर की वैचारिक रचनाएं आईं। रचनात्मक स्तर पर मैं इस बात से सहमत नहीं हूँ कि हिन्दी में या भारतीय भाषाओं में विश्वस्तर की रचनाएं नहीं हैं, उसके दूसरे कारण हैं कि उन्हें क्यों नहीं मान्यता मिली। बहुत कुछ सुविधाएं अनुवाद आदि की नहीं है या दूसरी तरह की नहीं हैं। वरना कोई ऐसी बात नहीं है कि हमारे यहाँ अच्छी कहानियां नहीं हैं, अच्छे उपन्यास नहीं है, अच्छी कविताएं नहीं हैं। वैचारिक स्तर पर जो मंथन होना चाहिए, वैचारिक स्तर पर जो 'इनोवेटिव' किस्म का चिंतन होना चाहिए, उसकी कमी मैं ज़रूर महसूस करता हूँ और यह पूरे उत्तर भारत का संकट है जिसे हम लोगों ने *हंस* के माध्यम से उत्तर भारत की वैचारिक दरिद्रता को एक सेमिनार के रूप में देखने की कोशिश की थी। तो मुझे यह लगता है कि चिंतन की दिशा में, सोच की दिशा में अलग-अलग समस्याओं, अलग-अलग डिसीप्लिंस को लेकर लिखने वाले, सोचने वाले लोगों का सहयोग न होने की वजह से यह भाषा इस रूप में समृद्ध-संपन्न नहीं हो पाई है।

चौथा सत्र

ओम प्रकाश केजरीवाल : मित्रों, इस संगोष्ठी के आखिरी सत्र में आप सब का स्वागत है। हमारे अनुरोध पर राठीजी इस सत्र की अध्यक्षता करेंगे।

गिरधर राठी : धन्यवाद् केजरीवालजी, इस तरह की संगोष्ठियों का सबसे बड़ा लाभ मैं समझता हूँ यही है कि अधिक से अधिक लोगों की राय उन खास मुद्दों पर जानी जाए और जो भी सुझाव या प्रस्थापनाएं दी जाती हैं, उनके परिमार्जन, संवर्द्धन, संशोधन की गुंजाइश बने तो श्रोताओं को और वक्ताओं को, दोनों को ही लाभ होगा। विष्णुजी से आग्रह है कि वह अपना पर्चा रखें।

आलेख पाठ : विष्णु खरे

चर्चा

गिरधर राठी : धन्यवाद् विष्णुजी। आपने बहुत ही तिलस्मी, खोजी और खुफिया अंदाज में बहुत ही मार्मिक किस्म के मुद्दे उठाए हैं जो ऊपर से तो हँसाते हैं, लेकिन यह समझ में नहीं आता कि इस पर रोया जाए या सिर पीटा जाए या कुछ और किया जाए।

र. शौरिराजन : जी हाँ, मैं खरे साहब का बहुत आभारी हूँ, मेरे दिल की बातें उन्होंने बड़े ताकतवर और ज़ोरदार शब्दों में ज़ाहिर कर दी हैं। नागपुर सम्मेलन में भी मेरा जाना हुआ, दूसरे मॉरीशस सम्मेलन में भी जाने का मौका मिला, और लंदन में भी। नागपुर सम्मेलन मेरे हिसाब से बहुत सफल रहा, क्योंकि वहाँ पूरे हिन्दीतर प्रदेश के सैकड़ों लोग आए थे, हिन्दी को देखने के लिए, हिन्दी साहित्यकार को देखने के लिए, क्योंकि इसमें मूलभूत चीजें हैं। हिन्दी जगत की बात तो लोग बार-बार कर रहे हैं, मगर हमारे दक्षिण में साहित्य के पाठक अलग-अलग हैं। हिन्दी में शायद सौभाग्य से या दुर्भाग्य से हिन्दी पाठक अंशतः साहित्यकार भी हो जाता है ऐसा माना जाता है। वहाँ पाठक बिलकुल अलग है, वह शुद्ध पाठक है, क्योंकि साहित्यकार से, साहित्य से जुड़ता है। प्रेमचन्द का वहाँ पर काफी विवाद भी हुआ था, आपको आश्चर्य होगा आंध्र प्रदेश में प्रेमचन्द के उपन्यास का 5-6 लोगों ने अनुवाद किया है, एक ही उपन्यास का।

आई. पी. तिवारी : एक पक्ष जिसने मुझे बहुत प्रभावित किया है, वह है 'कम्युनलाइज़ेशन ऑफ हिन्दी'। मैं समझता हूँ यह ऐसा गहरा और गहन विषय है

जिस पर पूरे हिन्दी क्षेत्र में न तो कोई चिंता प्रकट की गई है और न सोचा गया है। इसकी बुनियाद मैं सोचता हूँ, यह मेरी अपनी 'परसनल' सोच हो सकती है कि अंग्रेज इसका बीज बो गये थे 1801 में, जब उन्होंने इंपीरियल कॉलेज खोला था कलकत्ते में और दरवाज़े से दो भाषाएं निकाली। एक को हिन्दी कहा गया और दूसरी उर्दू को मुसलमानी भाषा कहा गया। इसका एक पर्दा ऐसा बन गया है कि उसकी आड़ में हम जो कुछ चाहे करते जाएं, मगर उसने विकराल रूप ले लिया है, जिसका खरेजी ने ज़िक्र किया है। तो मैं समझता हूँ कि इस पर हिस्टॉरिकल रिसर्च की ज़रूरत है कि ब्रिटिश इंपेरियलिज्म ने किस तरह से 'कम्युनलाइज़ेशन ऑफ नार्थ इंडिया' के रूप में हिन्दी और उर्दू दो भाषाएं की थीं और हम उसके शिकार आज भी बने जा रहे हैं।

गिरधर राठी : विष्णु खरेजी का लेख बहुत गंभीर है और बहुत अच्छे ढंग से सारी स्थिति का विश्लेषण किया है। संयोग ऐसा रहा कि मैं उन सम्मेलनों में उपस्थित न हो सका। जिस स्थिति का इन्होंने जायज़ा लिया, उस स्थिति की मेरे सहयोगी मित्र ने भी पुष्टि की है। हमारे सहकर्मी सुधीश पचौरी का भी मैंने एक लेख पढ़ा था, 'हिन्दी में पंडागिरी'। बड़े ही आंखे खोलने वाले पर्चे हैं, जो एक तरह का डाक्युमेन्टेशन हैं। लेकिन हम विष्णुजी से एक बात और जानना चाहते थे, क्योंकि मेरा इस दिशा में ज़्यादा अनुभव नहीं है कि यह जो विश्व हिन्दी सम्मेलन है और जो दूसरे विश्व हिन्दी सम्मेलन हुए हैं, उनमें क्या अंतर है। तुलसी से संबंधित, कबीर से संबंधित और तरह-तरह के अलग-अलग लोगों द्वारा संचालित हुए, उनकी वहाँ कुछ उपयोगिता है? कहीं रजिस्ट्रेशन है जिनकी आपने सूचनाएं दीं? क्या इसके बारे में कहीं कोई डाक्युमेन्टेशन नहीं है? अब शौरिराजन अपना पर्चा प्रस्तुत करेंगे।

आलेख पाठ : र. शौरिराजन

चर्चा

गिरधर राठी : आपका वक्तव्य इस संगोष्ठी में सबसे अधिक महत्त्व इसलिए भी रखता है कि जिस हिंन्दी की, जिस भाषा की बात की जा रही है, उसकी स्वीकृति अखिल भारतीय स्तर पर कभी थी, अब कितनी रह गई है – आपने संकेतों में अपने आलेख में काफी कुछ इस बाबत बताया है। वास्तव में हिन्दी को राष्ट्रीय भाषा बनाने की मुहिम दरअसल गैर-हिन्दी विभूतियों ने, महान जन-नायकों ने की थी। इसी कारण हिन्दी राष्ट्रभाषा के पद तक पहुँच सकी और पूरे राष्ट्रीय आन्दोलन में उसकी भूमिका

की उपयोगिता रही, क्योंकि वह एक उपयोगी भाषा थी, इसलिए महत्त्वपूर्ण भी हो गई। लेकिन अब हिन्दी के बरअक्स बहुत-सी भाषाएं खड़ी हैं और मुझे लगता है कि संघर्ष अंग्रेज़ी के विरुद्ध न होकर हिन्दी के विरुद्ध होता जा रहा है, तो कम-से-कम दो राज्यों के बारे में तो आपने भी संकेत दिया है। बस थोड़ा-सा मुझे यह ज़रूर लगा कि आपने विष्णु खरे को हिन्दी की दुनिया से बाहर ही कर दिया।...

र. शौरिराजन : एक खास बात है कि तमिलनाडु, केरल के मुसलमान अपनी मातृभाषा उर्दू नहीं कहते, तमिल कहेंगे, मलयालम कहेंगे।

गिरधर राठी : आपके आलेख के जो दो पक्ष हैं, एक तो यह कि तथ्यपरक बहुत सारी चीजें सामने आती हैं। दूसरी, यह भी कि अब नए तथ्य किस तरह से बनेंगे, किस तरह की मानसिकता बन रही है या चल रही है, उसकी ओर भी आपने संकेत में संकेत किया है। इसके लिए हम बहुत आभारी हैं। खासतौर से भारतेन्दु की एक उक्ति के लिए – जब हिन्दी की स्वर्ण जयंती मनाने की मुहिम चली थी तो सारे दफ़्तरों में एक नोटिस भेजा गया था कि नारा क्या दिया जाए और कितने आश्चर्य की बात है कि स्वर्ण जयंती होते हुए भी भारतेन्दु की उस उक्ति को किसी ने याद नहीं किया – "निज भाषा उन्नति अहे, सब उन्नति को मूल," सब कुछ हो चुका है हमारे यहाँ, लेकिन जिस आदमी ने हिन्दी भाषा का साहित्य खड़ा किया और इतना बड़ा मूल मंत्र दिया है हमने उसे ही भुला दिया। सिर्फ यही नहीं है कि हम केवल पुराने संदर्भों में ही इसको रखकर देखें, पूरी बीसवीं शताब्दी में आप देखें – पश्चिम यूरोप और अमेरिका का बीसवीं शताब्दी का चिंतन – भाषा केन्द्रित रहा है। सारे के सारे चिंतन की लिंगविस्टिक फिलॉसफी से शुरुआत करें और आज तक आएं तो भाषा ने ही विश्लेषण के, विवेचन के और अन्वेषण के मॉडल दिए हैं। फिर वही बात आ जाती है कि हँसे या गाल बजाएं या सिर पीटें।

बहरहाल, इस बीच श्री सुधीश पचौरीजी 'मीडिया में हिन्दी' पर सूत्रबद्ध आलेख प्रस्तुत करेंगे, क्योंकि बाद में बहस की तो पर्याप्त गुंजाइश आप देंगे ही।

आलेख पाठ : सुधीश पचौरी

गिरधर राठी : अब श्री पंकज बिष्ट 'प्रकाशन में हिन्दी' पर अपनी बात रखेंगे। दोनों आलेखों पर चर्चा एक साथ होगी।

आलेख पाठ : पंकज बिष्ट

चर्चा

विष्णु खरे : देखिए समस्या एंपावरमेंट की नहीं है, मुझे लगता है नौकरी की है। आपने देखा होगा सारी शब्दावली में या तो कुछ चीजें बेची जा रही हैं या कई नौकरियां हैं जो विज्ञापित हो रही हैं। तो एंपावरमेंट की भाषा अंग्रेज़ी न होते हुए इस समय बाज़ार यानी, खरीद की और नौकरी पाने की, जो दो बहुत महत्त्वपूर्ण मुद्दे हैं, उनकी भाषा है। दूसरा अंग्रेज़ी में हिन्दी के इतने शब्द 200 साल से आए हैं कि उन्हें *हाब्सन, जाब्सन* नाम की दो डिक्शनरियां बनानी पड़ीं जिसमें सारे शब्द हिन्दी और उर्दू से हैं। इन डिक्शनरियों को जाने बिना आप बहुत सारी कलोनियल राइटिंग्स समझ नहीं सकते हैं। यही चीज़ अब हमारे यहां हो रही है और यह कोई नई बात नहीं है। विचित्र बात यह है कि उर्दू को कभी भी अंग्रेज़ी से परहेज नहीं रहा। एक शेर सुनिए अकबर इलाहाबादी का - 'कौम के गम में डिनर खाते हैं हुक्काम के साथ : रंज लीडर को बहुत है, मगर आराम के साथ'। तो ऊपर डिनर है, नीचे लीडर है और यह शेर उर्दू के बहुत मकबूल शेरों में से एक है, इसलिए मुझे याद भी रह गया। तो उर्दू को परहेज नहीं है, उर्दू की आप खबरें सुनें पाकिस्तान से। मैं समझता हूं उसमें 20-25 शब्द अंग्रेज़ी के आते ही हैं। दूसरी जो बात कही गई कि ऐसी भाषा से साहित्य को परहेज है, ऐसा मैं नहीं मानता। जैसा खुद सुधीशजी ने कहा कि मेरी कविताओं में अंग्रेज़ी शब्द आते हैं, हां आते हैं, उर्दू शब्द भी आते हैं बल्कि पूरे के पूरे उपन्यास उसी भाषा में लिखे जा सकते हैं और वे बहुत कारगर होंगे, जैसे *रम्ज़ान* है, जैसे बंबईया फिल्म का ज़िक्र किया, तो बंबईया फिल्म अजीब खाम करती है, एक तरफ, भोजपुरी, अवधी, सब का इस्तेमाल कर रही है, दूसरी ओर उर्दू का, तीसरी ओर हिन्दी का।

इसी संदर्भ में मैं एक बात कहना चाहता हूं जो सुधीश ने हिन्दी फिल्मों को बिना वजह बदनाम करने की कोशिश की। श्रीलंका की फिल्म, बंगलादेश की फिल्म और पाकिस्तान की फिल्म; इन्हें हिन्दी फिल्म ने नहीं निगल लिया। हिन्दी फिल्म ने मराठी फिल्म को निगला, हिन्दी फिल्म ने गुजराती फिल्म को निगला, बंगला को थोड़ा निगला, लेकिन बंगला में बड़े-बड़े फिल्मकार मौजूद हैं, क्या खाकर निगलेगी हिन्दी बंगला को। लेकिन हुआ क्या है कि इन देशों में श्रीलंका में, पाकिस्तान में, बंगलादेश में महान फिल्मों की परंपरा नहीं बनी, उसके लिए हिन्दी उत्तरदायी नहीं है।

एक दो अंतिम बातें, विश्वकोश की बात हुई। विश्वकोश तो हिन्दी में उपलब्ध है, नीचे लायब्रेरी में, लेकिन बहुत पुराना पड़ गया है, इसमें कोई शक नहीं है। वह इतना पुराना है कि वहाँ न रहकर उसको नेशनल म्यूज़ियम में भेजने की आवश्यकता है। फादर कामिल बुल्के के शब्दकोश की जहाँ तक बात है तो वह इतना असंतोषजनक है कि वहाँ भी हम लोग मार खाते हैं। चूंकि विदेशी ने उसका 'कंपायलेशन' किया था, तो हमें लगता है कि बहुत महान है। मैं एक उदाहरण देता हूँ उसका। फादर कामिल बुल्के के शब्दकोश में एक शब्द जो अंग्रेज़ी का नहीं है, फ्रेंच का है, लेकिन अंग्रेज़ी में चल गया, फ्यूजलेज (fuselage) – वायुयान का जो आकार होता है, वायुयान का जो धड़ होता है, उसको फ्यूजलेज कहते हैं। फादर ने क्या किया, उसका अर्थ बतलाया "धड़", सिर्फ धड़। कोई बच्चा कहे कि 'माई फ्यूजलेज इज़ एकिंग' तो? इन शब्दकोशों का रिव्यू नहीं हुआ, हिन्दी में एक भी शब्दकोश की समीक्षा पत्रकारों द्वारा नहीं हुई। मुझे सबसे संतोषप्रद शब्दकोश तो सुरेश अवस्थी का लगता है ईवन मैकग्रेगर साहब का हिन्दी-अंग्रेज़ी शब्दकोश बहुत असंतोषजनक है। अभी कल-परसों मैं देख रहा था, मैं झुंझला गया कि यह शब्द इसमें नहीं है, यह कैसे नहीं है, यह कैसे हुआ?

अंतिम बात, मैं पंकज बिष्टजी की कंप्यूटर की बात नहीं समझा हूँ, क्योंकि मेरे पास जो कंप्यूटर है, मैं कुछ भी निकाल लेता हूँ, कोई भी फोंट निकल आता है, कुछ भी हो जाता है उसमें, मैंने ऐसा शायद कोई सापटवेअर ले रखा है, मेरे पास एक आदमी भी आता है काम करने के लिए जो *दैनिक भास्कर* में काम कर रहा है, उनको हज़ारों शब्द रोज भेजता है, उसको कोई समस्या नहीं होती। तो मुझे यह जानना पड़ेगा, या तो मैं समझा नहीं हूँ ठीक से कि समस्या क्या है, या फिर यह है कि कंप्यूटर की तकनीक जिस तरह की इस्तेमाल होनी चाहिए और जिस आदमी को उसको इस्तेमाल करना चाहिए शायद हिन्दी लेखक को दिक्कत हो सकती है, प्रकाशक को नहीं। बड़ाधड़ किताबें छाप रहे हैं। सात दिन में 700 पेज की एक किताब छप जाती है। यह चमत्कार है और बहुत बड़ी बात है। मैं तो बहुत बड़ा योगदान मानता हूँ कंप्यूटर का आना हिन्दी के लिए।

पंकज बिष्ट : मेरे ख्याल से आपके और मेरे बीच बहस यहाँ न हो, इसको मैं अलग से समझा दूंगा।

गिरधर राठी : मैं आपकी तरफ से कह देता हूँ कि जो समस्या रखी है, वह बहुत ही वास्तविक है और उससे बहुत सारे लोग जूझ रहे हैं। उसमें कुछ भी काल्पनिक नहीं है।

ओम प्रकाश केजरीवाल : कल की सारी कार्यवाही के बाद जब शाम को हमारे एक मित्र मिले तो उनकी टिप्पणी थी, 'इट अमाउंटेड टू नथिंग बैटरमेंट फॉर हिन्दी' और हमारी आज की कार्यवाही का भी यह एक सार संक्षेप माना जाएगा। मेरी यह उम्मीद थी जो मैंने पहले ही अपने 'ओपनिंग रिमार्क्स' में कहा था कि आलोचना तो होगी यह हम सब जानते हैं। क्या कमजोरी है, कहीं से एक शुरूआत तो हो। कहीं हम अपने सुझाव तो रखें। कहीं उन सुझावों की मान्यता के लिए दबाव तो डालें। इस उद्देश्य से यह संगोष्ठी शायद अपूर्ण मानी जाएगी, एक तो मेरी टिप्पणी यह है। दूसरी, मीडिया में जो हिन्दी की बात हुई और भी वक्ताओं ने बात की, कोई इससे इन्कार नहीं करता कि अंग्रेज़ी से शब्द हिन्दी में आएं और हिन्दी में अपनाए जाएं। अंग्रेज़ी से और बोलियों से भी, यह कोई बड़ी बात नहीं है, यह तो होगा ही, जैसा आपने कहा कि भाषा में जब तक भ्रष्टाचार नहीं होगा तब तक भाषा विकसित नहीं होगी। चिंता की बात यह है कि हिन्दी का स्वरूप बिगड़ रहा है। हम लोग शब्द ले रहे हैं यह ठीक है, लेकिन जो बना बनाया स्वरूप, आज तक जिसकी मान्यता थी, वह बिगड़ रहा है। बिष्टजी ने अनजाने में कहीं कह दिया कि मैंने यह करा। क्यों? हम लोग भूल जाते हैं कि मीडिया भाषा की जननी है और जिस तरह से दूरदर्शन और रेडियो ने भाषा के स्वरूप को बिगाड़ा है, इसे रेखांकित करने की बहुत अवश्यकता है। मैं समझता हूँ पाँच वर्ष पहले तक हम 'जान' ही देते थे, 'जानें' नहीं देते थे। मुझे याद है शायद *जनसत्ता* में लेख छपा था कि "अब आँधियां चलती हैं", पहले "आंधी" चलती थी। आंधी आज अपनी सखी सहेलियों के साथ चल रही है। यह भाषा का जो स्वरूप बिगड़ रहा है, यह चिंतनीय बात है। इस पर जो विवाद होना चाहिए था या जो टिप्पणी होनी चाहिए थी, वह शायद नहीं हुई, शायद अब कोई करना चाहे।

ज्योति शर्मा : (जे. एन. यू.): मैं यह कहना चाह रही हूँ, मात्र सूचना समझ लीजिए या जो आपने बातें कहीं उनसे मिलती-जुलती बात। भाषा की बात हम बार-बार कह रहे हैं और इसको मीडिया के साथ जोड़ रहे हैं। आप देखिए हमारी जो भाषा और साहित्य है, उसकी चर्चा हम पूरा दिन करते रहे हैं, उसमें हमारे कवियों

ने इस बात का बार-बार उल्लेख किया है कि हमें किस भाषा में अपनी बात कहनी है और वह भाषा कौन सी है जो जनसाधारण के लिए है। आप चंदबरदाई को देखिए, उसके बाद आप कबीर को देखिए, क्या कहते हैं, 'भाषा बहता नीर'। संस्कृत को जल बताया उन्होंने। संस्कृत में लिखा जा रहा था, पर जिस प्रदेश में वह घूमे वहाँ से उन्होंने शब्द ग्रहण किए, और उस भाषा को कहा 'सधुक्कड़ी'। उसके बाद आप तुलसी पर आ जाइए। तुलसी क्या कहते हैं कि वह नाना पुराण सब जानते हैं, पर लिखेंगे कौन सी भाषा में, जनसाधारण की भाषा में। उसके बाद आप केशव पर आ जाइए, केशव क्या कहते हैं? उनके कुल के जो दास हैं वे भी संस्कृत जानते हैं, भाषा नहीं जानते हैं, पर मैं कौन सी भाषा में लिखूंगा, जो जनसाधारण की भाषा है और आप देखिए कि केशव का अपना व्यक्तित्व कितनी अहम भूमिका रखता है उस समय के सारे साहित्य को निर्धारित करने के लिए। उन्होंने क्या नहीं लिखा। वह भी छोड़िए, उसके बाद बिहारी को लीजिए, उन्होंने 'षट भाषा' की बात कही, घनानंद को लीजिए। जैसा कि शौरि साहब ने बताया भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के शब्दों में 'निज भाषा उन्नति अहे, सब उन्नति को मूल'। तो जो निज भाषा है या जन भाषा है, यह बहता नीर है। यह आज की भाषा है, इसको चाहे आप मीडिया की भाषा कहिए या जनसाधारण की या जिन नावल्स की आपने बात कही उसकी भाषा कहिए। आप यह देखिए विद्यार्थी बिलकुल उस भाषा में न लिखना चाहते हैं न बात करना चाहते हैं, उन्हें जिस भाषा से अपने आपको सक्षम करना है, वे वही भाषा ग्रहण करेंगे।

चंद्रा सदायत : पिछले दो दिन से हम लोग हिन्दी के बारे में चर्चा कर रहे हैं। वैसे ही कहा जाता है 'अरी मां तू अब तक है जिंदा, हैप्पी बर्थ डे टू यू', यह स्थिति हम लोगों ने कर दी है हिन्दी की। देखिए हम ने हिन्दी की दशा की ही चिंता की है, दिशा की नहीं। जैसा अभी केजरीवाल साहब ने कहा कि हमने दिशा की चिंता ही नहीं की है। सबसे बड़ी बात है मानसिकता बदलने की, जिसकी चर्चा हमने नहीं की।

हमारे बाद जो पीढ़ी आई है, वह घर में भी हिन्दी बोलने वाली नहीं है। हम हिन्दी का क्या करेंगे? आखिर हिन्दी की पुस्तकें किस काम आएंगी, मैं एन. सी. ई. आर. टी. से जुड़ी हुई हूँ। आप देखिए कि हिन्दी की पुस्तकें जो खाड़ी राज्यों में जो पढ़ाया जाता है, वे कहते हैं हम प्राचीन काल के कवियों को नहीं पढ़ेंगे, हम से प्रश्न पत्र में उनके विषय में न पूछा जाए, केवल आधुनिक कवियों को

पढ़ाया जाए। दक्षिण भारत के लोग कहते हैं कि हम सूर, तुलसी को नहीं पढ़ेंगे, यह भाषा हमें समझ नहीं आती है। ठीक है, वह जाने दीजिए, दूसरी चीजें हैं। लेकिन यह भी एक बड़ा सवाल है जो इसके साथ जुड़ा हुआ है कि हम हिन्दी की जो पाठ्य पुस्तकें बनाते हैं, उनके आधार पर बच्चों को बचपन से हम सिखाते हैं, उनको हम दे क्या रहे हैं? यह एक विचारणीय बिन्दु है।

त्रिभाषा सूत्र बनाया गया, वह पूरी तरह से फेल हो गया। त्रिभाषा सूत्र जो बना है, हिन्दी भाषा प्रथम भाषा के रूप में पढ़ाई जाए, दूसरी भाषा के रूप में या तृतीय भाषा के रूप में पढ़ाई जाए। एन. सी. ई. आर. टी. में किताबें भरी पड़ी हैं। तृतीय भाषा का कोई खरीददार नहीं है। द्वितीय भाषा की पुस्तक कोई लेना नहीं चाहता है। दिल्ली के पब्लिक स्कूलों में जो प्रथम भाषा के रूप में हिन्दी पढ़ते हैं, नाइंथ क्लास से सेकण्ड लैंग्वेज लेते हैं। क्या कीजिएगा? जब तक यह व्यवस्था रहेगी और लोगों की मानसिकता नहीं बदलेगी हिन्दी का विकास संभव नहीं है। मां-बाप मज़बूर हैं– गरीब से गरीब व्यक्ति अंग्रेज़ी स्कूल में, पब्लिक स्कूल में, जो गली-गली में खुले हैं– उनमें पढ़ाने को। हिन्दी कौन पढ़ता है? हिन्दी पढ़ने वाले का बच्चा कहता है कि हमने क्या गुनाह किया है जो आप हमें हिन्दी पढ़ा रहे हैं। हमारा क्या अपराध है, वे सोचते हैं कि हमारा भविष्य नहीं है।

हमें हिन्दी को आगे बढ़ाना है तो मानसिकता बदलनी पड़ेगी। हमारी मानसिकता अंग्रेज़ी भाषा नहीं अंग्रेज़ियत है। सबसे बड़ी बात है कि अंग्रेजियत जब तक हमारे जीवन में रहेगी, हम हिन्दी का विकास कर ही नहीं सकते हैं। देखिए, शब्द तो हिन्दी से भी अंग्रेज़ी में गए हैं, अंग्रेज़ी से हिन्दी में आए हैं, उसकी कोई बात नहीं है। लेकिन हमारी मानसिकता धीरे-धीरे बदल रही है, परिवर्तित होती जा रही है – हम दोबारा गुलाम हुए। जो अंग्रेजियत हमारे जीवन में घुस गई है, उसको बदलने की ज़रूरत है। महादेवी वर्मा ने बहुत पहले कहा था कि हिन्दी जब तक पंत का व्यायाम रहेगी, उसका कोई विकास नहीं होगा। तब तक वह हमारे हृदय का हार नहीं बनेगी, यानी हिन्दी के प्रति आस्था नहीं है। जब तक हम आस्था का विकास नहीं करेंगे, हिन्दी विकसित नहीं हो सकती है। मां-बाप बच्चे को परिवार से यह संस्कार देंगे, हिन्दी के प्रति आस्था का, तभी आप हिन्दी का विकास कर सकते हैं, हिन्दी की दिशा निर्धारित हो सकती है, वरना नहीं हो सकती। कितनी ही बहस आप कर लीजिए, इसका कुछ नहीं होगा।

केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय ने, एक मानक वर्तनी बनाई उस मानक वर्तनी को लोग जानते ही नहीं हैं। वह मानक वर्तनी केन्द्रीय हिन्दी संस्थान की पुस्तकों में नहीं चलती है। हमारे यहाँ तरह-तरह से शब्द लिखे जा रहे हैं, उनको भी रियाइज किया जाना चाहिए। आज के अनुरूप बनाया जाना चाहिए। बहुत सारे काम ऐसे हैं, अगर हम चाहते हैं कि हिन्दी की दिशा निर्धारित हो तो हमें इसके बारे में सोचना चाहिए।

सुधीश पचौरी : मैं एक दो बातें कहना चाहता हूँ। एक तो मैं उन लोगों में शामिल नहीं हूँ जो हिन्दी की दुर्दशा पर दो दिन से आंसू बहा रहे हैं। मैं हिन्दी को इस वक्त शायद सबसे अधिक उपद्रव में, संक्रमण में और शक्तियों के घात-प्रतिघात के बीच विकसित होती हुई भाषा मानता हूँ। इसके आर्थिक कारण हैं, राजनीतिक कारण हैं, बहुत सत्ता की क्षिप्तें इसमें मौजूद हैं। यह एक ऐसा वक्त है हिन्दी के लिए जिसमें वह नई बन रही है और मैंने यह बात बहुत धनात्मक रूप में लेते हुए कही थी कि भाषा हमेशा अपभ्रंश में ही होती है। भाषा का कोई पूर्वस्थित रूप नहीं, ऑफीशल भाषा ही स्थिर होती है, अन्यथा कोई भाषा स्थिर नहीं होती। जिस जनभाषा की बात आप कर रही हैं, लगातार जो उदाहरण दे रही हैं वे बदलते हुए उदाहरण हैं, लगातार भाषा बदली है।

भाषा का अशुद्ध होना भाषा का होना है वरना वह भाषा नहीं। जितने लोग बरतेंगे, यानी वर्तनी को जितना बरता जाएगा, और वाक्यों को जितना बोला जाएगा – इस वक्त हिन्दी सबसे ज़्यादा बोली जा रही है। हिन्दी में शायद सबसे ज्यादा बोलने की और कहना चाहिए कि सदियों के बाद शायद पहली बार बहुत सारे लोग इकट्ठे बोल रहे हैं और बहुत तरह के लोग इकट्ठे बोल रहे हैं और जब बहुत तरह के लोग, बहुत सारे लोग, बहुत से चैनलों से इकट्ठे बोलते हैं तो उस भाषा में एक शक्ति पैदा होती है। इसको शुद्धतावादी नहीं समझ सकते या मेरा एक अध्यापक तत्व नहीं समझता है, जो सोचता है यह बहुत गलत हो रहा है। लेकिन जब मैं जनता की नज़र से देखता हूँ तो मुझे लगता है कि बहुत सही हो रहा है। इसके लिए हमारे यहाँ कोई शास्त्र नहीं बने, कोई भी आचार्य इसको नहीं कह रहा।

र. शौरिराजन : दक्षिण में जो फिल्में लेते हैं वे तीनों भाषाओं में लेते हैं, क्योंकि वे मानते हैं कि हिन्दी में करने से पूरा बाज़ार मिल जाएगा। यह उनकी धारणा है

और एक मानसिकता की बात कह रहे हैं, दक्षिण में अंग्रेज़ी मानसिकता रखने के साथ-साथ लोग अपनी भाषा को बढ़ाते हैं। तमिलनाडु में सभी कान्वेंट स्कूलों में मिल को पाँचवीं कक्षा तक अनिवार्य बना दिया था। वहाँ जो तमिल में एम.ए. या डाक्टरेट करके आते हैं, उनको वाइस चांसलर बनाते हैं। जो तमिल माध्यम से आई.ए.एस., आई.पी.एस. लिखते हैं, उनको प्राथमिकता देते हैं। जो अधिकारी तमिल में बोलने के लिए, लिखने के लिए सक्षम हैं, उन्हीं को प्रमोशन देते हैं, अंग्रेज़ी के साथ-साथ समानांतर रूप से हिन्दी को लाएंगे, तभी यह काम सफल होगा। ...

विमलेश कान्ति वर्मा : एक-दो छोटी-छोटी बातें कहना चाहता हूँ। डा. सुधीश और पंकजजी के आलेखों के बारे में छोटी-सी टिप्पणी करना चाहता हूँ। सुधीशजी ने कहा कि भाषा विकासशील है और अगर उसका मानकीकरण कर दिया जाए तो भाषा चलेगी नहीं, यह बात अक्षरशः सत्य है, लेकिन बोलने की भाषा और लिखने की भाषा में अन्तर होता है। भाषा का मानकीकरण होना चाहिए, वह जरूरी है, क्योंकि उसके बिना पारंपरिक बोधगम्यता ही नहीं रहेगी। इसलिए अगर हम नए और नई को एक रूप में नहीं लिखते तो काम नहीं चलेगा। इसीलिए सरकार ने वर्तनी का मानकीकरण किया है, लेकिन खेद है कि सरकार जो करती है वह खुद उसका पालन नहीं करती। जो सरकारी संस्थान हैं, निदेशालय के अलावा उसका प्रयोग कहीं नहीं होता। परिणाम क्या होता है कि सामान्य पाठक के लिए निदेशालय की पुस्तकें पढ़ना ही कठिन हो जाता है।

पंकजजी ने कहा कि शब्दों का मानकीकरण होना चाहिए। शब्दों का मानकीकरण न होने से एक ऐसी अव्यवस्था हिन्दी भाषा में आ गई है कि उसको समझना मुश्किल है। मैं भाषा विज्ञान का छात्र हूँ, मैं अधिक आसानी से उदाहरण दे सकता हूँ। संकल्पनाएं हैं, 'फोन', 'एलोफोन' और 'फोनीम' की, 'मॉर्फ', 'एलोमॉर्फ' और 'मोर्फीम' की, इन दोनों के लिए हिन्दी में दो-दो शब्द चल रहे हैं भारत सरकार के ग्रंथों में। अब क्लास में छात्रों को क्या पढ़ाएं, 'संस्वन' पढ़ाएं या 'स्वनिम' पढ़ाएं या 'संध्वनि' और 'ध्वनिमी' में पढ़ाएं, विद्यार्थी आज एक ऐसी स्थिति में पहुँच गए हैं कि उनको कुछ समझ नहीं आता। जो आधारग्रंथ हिन्दी के बने हैं, वे बन तो गए, लेकिन उनका रिवीज़न नहीं हुआ। फादर कामिल बुल्के के बारे में जो विष्णु खरेजी ने बात कही, मैं कहना चाहता हूँ कि वह कोश अच्छा है, लेकिन हिन्दी में इतने कोश हैं ही नहीं कि आप एक व्यापक स्तर पर तुलना कर सकें। सबसे अच्छे

कोश जो आज उपलब्ध है अंग्रेज़ी-हिन्दी या हिन्दी-अंग्रेज़ी के, उनमें सबसे अच्छा कोश डा. सत्य प्रकाश और प्रो. बलभद्र प्रकाश मिश्र का है, "मानक अंग्रेज़ी-हिन्दी शब्दकोश", दूसरा प्रो. हरदेव बाहरी का है, दो खंडों में। बड़ा व्यापक शब्द-कोश है और अनुवाद के लिए मैं उसका कितने वर्षों से प्रयोग कर रहा हूँ। जो हिन्दी का अंग्रेज़ी शब्दकोश है वह सबसे अच्छा आर. एस. मैकग्रेगर का है, जो ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस ने अभी छापा है। आलोचना तो हर कोश की हो सकती है, लेकिन उसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसमें ऐसे अनेक शब्द हैं जो अन्य उपलब्ध हिन्दी-अंग्रेज़ी शब्दकोशों में आज भी नहीं है। मैकग्रेगर ने साहित्य से, समाचारपत्रों से, बोलचाल की भाषा को आधार बनाकर शब्दकोश बनाया है, उसका अनुसरण करके बहुत अच्छे शब्दकोश प्रस्तुत किए जा सकते हैं।

गिरधर राठी : हिन्दी के स्वरूप के निर्धारण का सवाल फिर नए सिरे से उठा है, जिसमें न केवल अन्य भारतीय भाषाओं और अंग्रेज़ी का सवाल है, बल्कि खुद हिन्दी प्रदेशों की जो भाषाएं हैं जिन्हें हम बोलियां कहकर टालते रहे और भाषा या सहभाषा कहते रहे, उनका दावा सही है कि वे हिन्दी से भी ज़्यादा पुरानी हैं। लेकिन बीसवीं सदी के इतिहास में हम देखें तो हिन्दी-उर्दू ज़ुबानों ने जो हासिल किया है वह कम नहीं है और जिसमें अनंतधाराएं फूटी हैं और कोई ऐसी भाषा दिखाई नहीं देती। हमने यह भी देखा है कि हिन्दी की समय के साथ सीधी मुठभेड़ है, उससे समझौता भी है, उसे बदलने की कोशिश भी है। आधुनिकताओं के तमाम रुपों के साथ मुठभेड़ भी है स्वीकृतियां भी हैं। उसी तरह उत्तर-आधुनिकता जो हमारे जीवन में घुसी हुई है, उसको समझने और उससे लड़ने और उसकी व्याख्या करने की भी कोशिश हो रही है। उस लिहाज़ से देखें तो निराशा की कोई बात नहीं है। हिन्दी ने जो हासिल किया है, बहुत है, लेकिन उतना काफी नहीं है। आत्मतुष्ट होकर बैठ जाना काफी नहीं है। जो इन सारे पर्चों से और जो हम लोग दो दिन से आपस में बातचीत कर रहे हैं, वह इसका संदर्भ ग्रंथ नहीं है, मानकीकरण नहीं है। आप हिन्दी में जिस दिशा में नज़र डालिए, वीरान मैदान दिखाई देता है और लगता है कि 1000 प्रतिबद्ध अनुसंधानकर्ता, चिंतक और रचनाकार इसी काम में लग जाएं (और इस तरह के हज़ार क्षेत्र आप चुन-चुनकर देख सकते हैं, जिनमें लोगों की जरूरत है) जो हिन्दी में काम करें और हिन्दी को वास्तव में एक सशक्त और सक्षम भाषा बनाएं। यह नहीं कि उसमें अभिव्यक्ति की क्षमता नहीं है, क्षमता तो मुझे लगता है अपार है।

चूंकि यहाँ जो उपस्थित समुदाय है, उसमें शिक्षकों का आधिपत्य अधिक है, मुझे अफसोस है यह कहते हुए कि हमारे शिक्षक समुदाय ने पिछले चालीस साल से, कम से कम चालीस साल से अपने दायित्व को बिलकुल नहीं समझा है। अगर शिक्षक समुदाय अपना दायित्व समझता तो शिक्षा नीतियां वे न होतीं जिनकी शिकायत अभी आपने राजनीति विज्ञान को लेकर की। व्याकरण ही नहीं है। हम अपने बच्चों को कैसे दोष दे सकते हैं, हम ने ही तो वे स्कूल बनाएं हैं और हम ही तो चला रहे हैं, हम ही तो भेज रहे हैं उनको और हम ही उनको कह रहे हैं कि घर में आकर तुम क्या सीखो। जिस भाषा में काम मिले तुम लो। बच्चों को हम क्यों दोष देते है? मुझे नहीं लगता कि नई पीढ़ी को किसी भी तरह से मैं दोषी मान सकता हूँ। यह सब हमारी देन है और पिछले पचास साल की देन है, जिसमें हमने उसके पहले के 50-100 साल एकदम भुला दिए हैं। महात्मा गांधी का इतना अच्छा उद्धरण अभी आपने सुनाया। माता की तरह प्रेम करना और उसको बरतने का सवाल है। पचौरी साहब की बातचीत में मुझे लगा कि बहुत सारे पहलू उन्होंने छुए नहीं हैं और जैसा कि केजरीवाल साहब ने कहा कि असल में भाषा केवल शब्द तो है नहीं। भारतेन्दु से आप देखिए और इसका बहुत अच्छा अध्ययन रेणु ने किया है कि बिहार में लोग किस तरह से अपनी मौलिक प्रतिभा से शब्दों का रूपांतरण करते हैं और अधिकांशतः वे अंग्रेज़ी शब्द हैं जिनका उन्होंने रूपांतरण किया। बड़ी अद्भुत स्टडी है उनके अपने गांव की 'हर साल मैं गांव जाता हूँ और फिर यह संग्रह करके लाता हूँ'। जैसे आज आप अखबार से लेकर आए हैं। समस्या सिर्फ शब्द की नहीं है, उस पूरे वाक्य विन्यास की है और उसकी पूरी चेतना की है। मुझे लगता है कि यहाँ न केवल अंग्रेज़ी का सवाल है बल्कि वह सवाल भी है कि आप भोजपुरी निष्ठित हिन्दी लिखेंगे या मगधी निष्ठित हिन्दी लिखेंगे या फिर ओरांव और मुंडा उन बोलियों तक जाएंगे, उस क्षेत्र को लेकर। इससे बहुत बड़ा घमासान होने वाला है क्योंकि इससे सत्ता विमर्श सीधा जुड़ा हुआ है। सोलह करोड़ भोजपुरी भाषी यहाँ हैं तो हिन्दी वाले रहे कितने। इतने करोड़ अवधी, राजस्थानी, बुंदेलखंडी हैं, फिर हिन्दी में रहा कौन? यह पहले भी कहा जाता था। अब यह बात बहुत दूसरी तरह से और बहुत ही घातक रूप में शायद सामने आएगी और जो अन्य भाषाओं की सीतिया डाह है वह तो प्रत्यक्ष है। उसको मैं अपने अनुभव से कह सकता हूँ कि हज़ारों जगह मैंने उसको महसूस किया है। साफ-साफ व्यक्त करते सुना है। तो हिन्दी के स्वरूप की समस्या बहुत विकट है, उसके अस्तित्व की समस्या भी बहुत विकट है। निजी तौर पर मुझे तो

नहीं लगता कि हिन्दी बचेगी पच्चीस साल या पचास साल बाद, क्योंकि हमारे बच्चे और उनके बच्चे पहले ही उस चरण तक पहुँच चुके हैं, जहाँ हिन्दी की कोई जगह नहीं है। उनके जब बच्चे होंगे, उनके जीवन में उनकी मातृभाषा क्या रह जाएगी इसमें मुझे बहुत संदेह है। फिर विज्ञान और टेक्नॉलजी में जो हो रहा है उसमें माता वाली प्राब्लम भी बहुत बड़ी है। वह मामला खाली सतीत्व और ब्रह्मचर्य का ही नहीं है, वह बॉयलाजिकल मदर वाला भी है कि बॉयलाजिकल मदर कोई है, तो मुझे नहीं मालूम कि जब तक हम ज्ञान-विज्ञान के इन मोर्चों पर, फ्रंटियर्स पर जो कुछ हो रहा है, उससे कहीं जुड़कर समस्याओं को नहीं देखेंगे तब तक न तो हमारी बारीकियां हमारे सामने आएंगी, न उनकी विराटता और मैं समझता हूँ कि हम जैसे लोगों का योगदान ऐसी सभाओं में सिर्फ यही हो सकता है कि उन बारीकियों की तरफ लोगों का ध्यान आकर्षित करें और निजी तौर पर शायद यही हो सकता है और सीधा सवाल है कि मैं हिन्दी बरतूं, जहाँ तक हो वहाँ हिन्दी के लिए खड़ा रहूं और किसी प्रलोभन में आकर हिन्दी को न छोड़ूं। भले ही दस भाषाओं में लिखूं-पढ़ूं लेकिन जहाँ हिन्दी का सवाल हो वहाँ मैं कहूं कि नहीं हिन्दी ही होनी चाहिए।

बस यही। मैं आप सब को बहुत-बहुत धन्यवाद देता हूँ, यह अवसर दिया आपने, सुनने का भी और कुछ कहने का भी।

ओम प्रकाशजी को भी बहुत धन्यवाद जिन्होंने यह बहुत बड़ा आयोजन किया।

परिशिष्ट

परिशिष्ट*

एक*

हिंदी और उसकी बोलियों की भाषिक सीमाएं

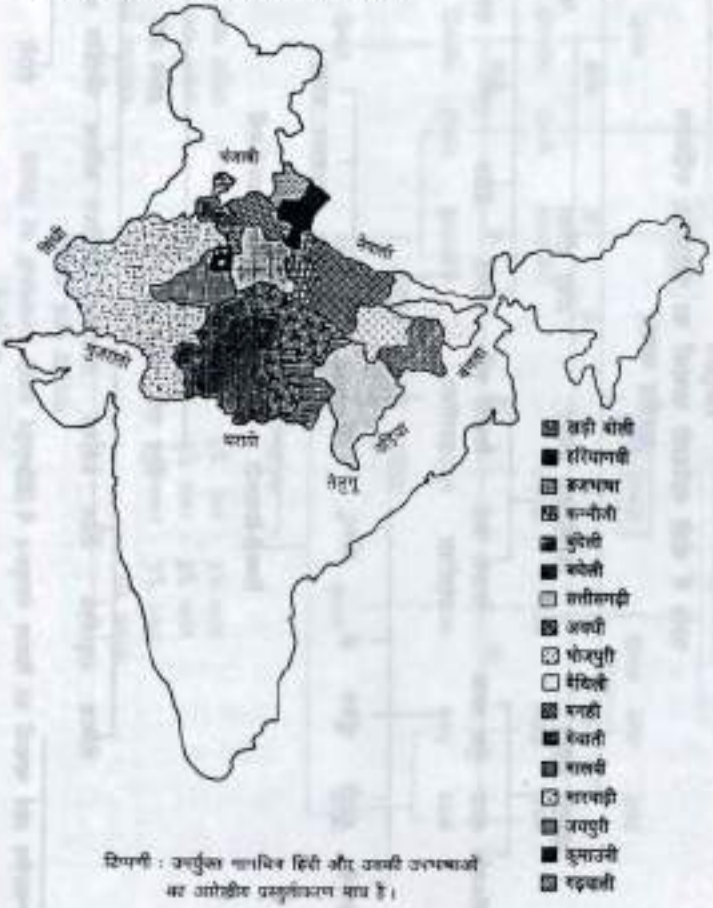

टिप्पणी : उपर्युक्त भाषिक हिंदी और उसकी उपभाषाओं का आनुमानिक प्रस्तुतीकरण मात्र है।

* परिशिष्ट एक से चार – भारतीय गणतंत्र में हिन्दी : दशा और दिशा संगोष्ठी के साथ हुई प्रदर्शनी में दिखाये गये दस्तावेज़

वंशवृक्ष-1
भारत में बोली जानेवाली भाषाओं का पारिवारिक वर्गीकरण

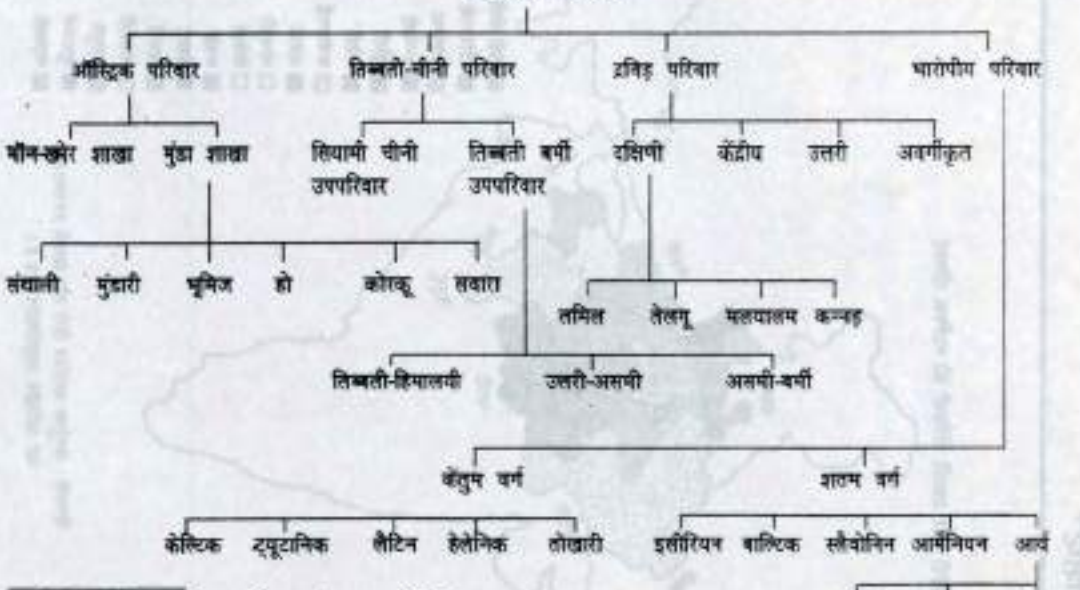

*भारतीय आर्य भाषाओं का विकास वंशवृक्ष-2 में देखिए

वंशवृक्ष-2

हिंदी और उसकी उपभाषाओं का विकास

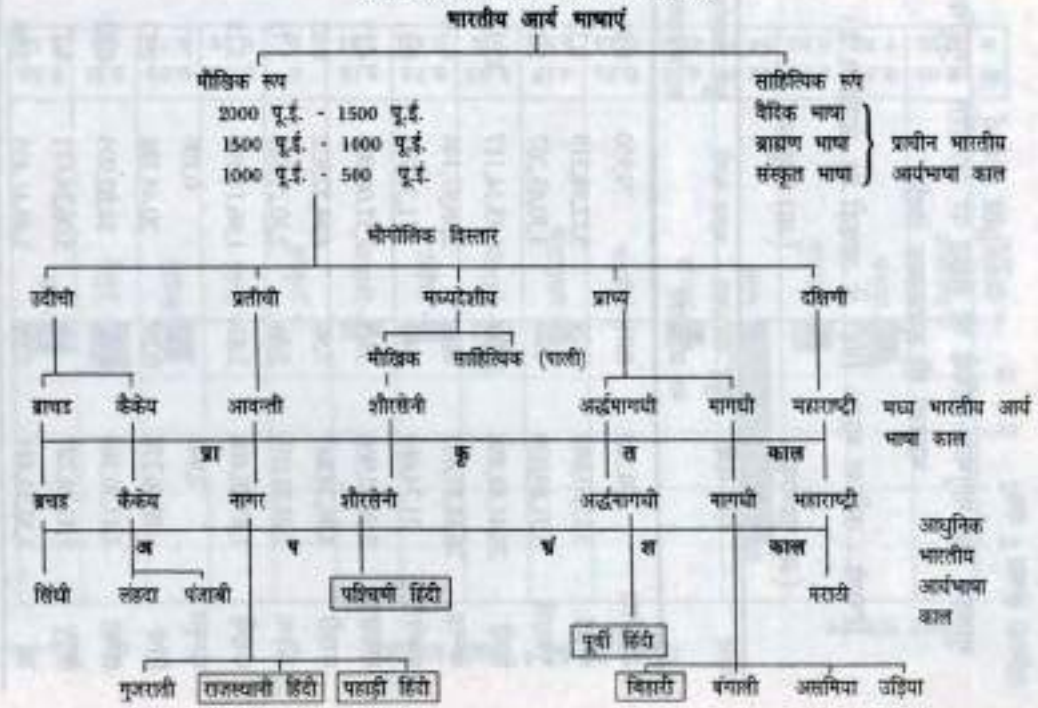

तालिका संख्या - एक

गृहभाषा तथा मातृभाषा-भाषियों की संख्या पर आधारित अनुसूचित भाषाओं की तुलनात्मक स्थिति

टिप्पणी : तालिका भाज० 1981 के आकड़ों पर आधारित है।

	(अ) गृहभाषा		(आ) मातृभाषा	
भाषा	भाषा-भाषी	कुल जनसंख्या का प्रतिशतक	भाषा-भाषी	कुल जनसंख्या का प्रतिशतक
असमिया	70,505	0.01	79,950	0.01
बंगला	5,15,03,085	7.79	5,12,98,319	8.32
गुजराती	3,31,89,039	—	3,30,63,267	5.36
हिन्दी	26,41,88,858	39.94	26,45,14,117	42.88
कन्नड़	26,18,87,837	4.06	2,56,97,146	4.16
कश्मीरी	31,74,684	0.48	31,76,975	0.51
मलयालम	2,59,52,966	3.92	2,57,00,705	4.17
मराठी	4,96,24,847	7.50	4,94,52,922	8.02
उड़िया	2,28,81,053	3.46	2,30,21,528	3.73
पंजाबी	1,85,88,400	2.81	1,96,11,199	3.18
संस्कृत	2,946	—	6,106	—
सिंधी	19,46,278	0.29	20,44,388	0.33
तमिल	4,47,30,389	6.76	38,02,995	0.62
तेलुगू	5,42,26,227	8.2	5,06,24,611	8.21
उर्दू	3,53,23,481	5.34	3,49,41,435	5.66

	अ	ब
असमिया	0.01	0.01
बंगला	8.32	7.79
गुजराती	5.36	5.02
हिंदी	42.88	39.94
कन्नड़	4.16	4.06
कश्मीरी	0.51	0.48
मलयालम	4.17	3.92
मराठी	8.02	7.5
उड़िया	3.73	3.46
पंजाबी	3.18	2.81
संस्कृत	0	0
सिंधी	0.33	0.29
तमिल	0.62	6.76
तेलुगू	8.21	8.2
उर्दू	5.66	5.34

तालिका संख्या - दो

गृहभाषा-भाषी तथा मातृभाषा-भाषी संख्या तथा प्रतिशत बल के आधार पर अनुसूचित भाषाओं की तुलनात्मक स्थिति*

भाषा	गृहभाषा-भाषी	प्रतिशत	मातृभाषा-भाषी	प्रतिशत
हिन्दी	26,41,88,858	39.94	26,45,14,117	42.88
तेलुगु	5,42,26,227	8.20	5,06,24,611	8.21
बंगला	5,15,03,085	7.79	5,12,98,319	8.32
मराठी	4,96,24,847	7.50	4,94,52,922	8.02
तमिल**	4,47,30,389	6.76	38,02,995	0.62
उर्दू	3,53,23,481	5.34	3,49,41,435	5.66
गुजराती	3,31,89,039	5.02	3,30,63,267	5.36
कन्नड़	2,68,87,837	4.06	2,56,97,146	4.16
मलयालम	2,59,52,966	3.92	2,57,00,705	4.17
उड़िया	2,28,81,053	3.46	2,30,21,528	3.73
पंजाबी	18,588,400	2.81	1,96,11,199	3.18
कश्मीरी	31,74,684	0.48	31,76,975	0.51
सिंधी	19,46,278	0.29	20,44,388	0.33
असमिया***	70,525	0.01	79,950	0.01
संस्कृत	2,946	—	6,106	—

* 1981 की जनगणना पर आधारित।

** तमिलनाडु की भाषा-भाषिओं की संख्या इसमें जुड़ी नहीं है।

*** असम में जनगणना नहीं हुई।

तालिका संख्या - तीन

भारतीय जनसंख्या के संदर्भ में हर दशाब्दी (1961-1981) में अनुसूचित भाषाओं का प्रतिशत परिवर्तन

भारतीय भाषाएं	1961 मातृभाषा-भाषी	1961 भारतीय जनसंख्या का प्रतिशत	1971 मातृभाषा-भाषी	1971 भारतीय जनसंख्या का प्रतिशत	1981 मातृभाषा-भाषी	1981 भारतीय जनसंख्या का प्रतिशत
1. असमिया	68,03,465	1.51	89,58,977	1.63	79,950	0.01
2. बंगला	3,48,88,939	7.72	4,45,21,533	8.17	5,12,98,319	8.32
3. गुजराती	2,03,04,464	4.63	2,56,56,274	4.72	3,30,63,267	5.36
4. हिन्दी	13,34,35,360	30.37	15,37,29,062	29.67	26,45,14,117	42.88
5. कन्नड़	1,74,15,827	3.97	2,15,75,019	3.96	2,56,97,146	4.16
6. कश्मीरी	19,56,115	0.45	24,21,760	0.44	31,76,975	0.51
7. मलयालम	1,70,15,782	3.87	2,19,17,430	4.00	2,57,00,705	4.17
8. मराठी	3,32,86,771	7.58	4,17,23,893	7.71	4,94,52,922	8.02
9. उड़िया	1,57,19,398	3.58	1,97,26,745	3.62	2,30,21,528	3.73
10. पंजाबी	1,09,50,826	2.49	1,39,00,202	3.00	1,96,11,199	3.18
11. संस्कृत	2,544	—	2,212	—	6,106	—
12. तमिल	3,05,62,706	6.96	3,75,92,794	6.88	38,02,995	0.62
13. तेलुगू	3,76,68,132	8.58	4,47,07,697	8.17	5,06,24,611	8.21
14. उर्दू	2,33,23,518	5.31	2,86,00,428	5.22	3,49,14,435	5.66
15. सिंधी*	13,71,932	0.31	12,04,678	0.31	20,44,289	0.33

* 1961 की भारतीय जनगणना में अनुसूचित भाषाओं की सूची में सम्मिलित नहीं।

* परिशिष्ट एक के मानचित्र, तालिकाएँ एवं आरेख डा. विमलेश कांति वर्मा द्वारा लिखित पुस्तक *हिंदी और उसकी उपभाषाएँ*, प्रकाशन विभाग, सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली से उद्धृत हैं।

दो*

अनुसूचित भाषाओं की तुलनात्मक संख्या – वर्ष 1971, 1981, 1991
हिन्दी को मातृभाषा के रूप में अपनाने वालों की संख्या

भाषा	1971	1981	1991
हिन्दी	20,85,14,005	26,45,14,117	33,72,72,114
बंगला	4,47,92,312	5,12,98,319	6,95,95,738
तेलुगू	4,47,56,923	5,06,24,611	6,60,17,615
मराठी	4,17,65,190	4,94,52,922	6,24,81,681
तमिल	3,76,90,106	**	5,30,06,368
उर्दू	2,86,20,895	3,49,41,435	4,34,06,932
गुजराती	2,58,65,012	3,30,63,267	4,06,73,814
कन्नड़	2,17,10,649	2,56,97,146	3,27,53,676
मलयालम	2,19,38,760	2,57,00,705	3,03,77,176
उड़िया	1,98,63,198	2,30,21,528	2,80,61,313
पंजाबी	1,41,08,443	1,96,11,199	2,33,78,744
असमिया	89,59,558	**	1,30,79,696
सिंधी	16,76,875	20,44,389	21,22,848
नेपाली	14,19,835	13,60,636	20,76,645
कोंकणी	15,08,432	15,70,108	17,60,607
मणिपुरी	7,91,714	9,01,407	12,70,216
कश्मीरी	24,95,487	31,76,975	++
संस्कृत	2,212	6,106	49,736

** वर्ष 1981 के तमिल और असमिया भाषा संबंधी पूरे आंकड़े, बाढ़ में तमिलनाडु के जनगणना रिकार्ड लापता हो जाने के कारण एवं असम में असामान्य परिस्थितिवश जनगणना न किए जा सकने के परिणाम स्वरूप उपलब्ध नहीं है। अतः तमिल एवं असमिया की जनसंख्या का कुल प्रतिशत नहीं दिया गया है।

++ जम्मू-कश्मीर में असामान्य परिस्थितियों के परिणामस्वरूप वर्ष 1991 की जनगणना नहीं की गई, इसलिए वर्ष 1991 में कश्मीरी भाषा संबंधी आंकड़े पूरे नहीं हैं।

* *भारत की जनगणना 1991*

तीन*

क्या आप जानते हैं?

(1) हिन्दी का जन्म 7वीं शताब्दी में अपभ्रंश से हुआ है और द्रविड़, तुर्की, फारसी, अरबी, पुर्तगाली और अंग्रेजी द्वारा यह प्रभावित और समृद्ध हुई है। यह एक सक्षम और समर्थ भाषा है जो एक ओर कविताओं और गीतों में भावनाओं को सहज कोमल शब्दों में अभिव्यक्त और संप्रेषित कर सकती है तो दूसरी ओर सुनिश्चित और सुसंगत संकल्पनाओं को व्यक्त करने में भी सक्षम है।

(2) भारत में 33 करोड़ से अधिक व्यक्ति हिन्दी को अपनी मातृभाषा मानते हैं और 30 करोड़ व्यक्तियों द्वारा हिन्दी को दूसरी भाषा के रूप में अपनाया गया है। भारत के बाहर हिन्दी बोलने वालों की संख्या इस प्रकार है:

	देश	व्यक्ति
(1)	अमेरिका	1,00,000
(2)	जर्मनी	30,000
(3)	नेपाल	80,00,000
(4)	न्यूज़ीलैंड	20,000
(5)	मॉरीशस	6,85,170
(6)	दक्षिणी अफ्रीका	8,90,292
(7)	यमन	2,32,760
(8)	यूगांडा	1,47,000
(9)	सिंगापुर	5,000

(3) 1997 में किए गए सर्वेक्षण के अनुसार भारत में 66% लोग हिन्दी भाषा जानते हैं और 77% हिन्दी को राष्ट्रभाषा मानते हैं।

(4) पाकिस्तान की राजभाषा 'उर्दू' जो अन्य देशों में भी बोली जाती है मूलतः हिन्दी ही है। दक्खिनी हिन्दी, उर्दू का प्रचीन दक्षिणी रूप है जिसमें फारसी और अरबी शब्दों का प्रयोग होता है।

(5) हिन्दी क्षेत्र:

भारत:

क. हिन्दी भाषा-भाषी क्षेत्र

1. उत्तर प्रदेश	2. मध्य प्रदेश
3. बिहार	4. राजस्थान
5. हरियाणा	6. हिमाचल प्रदेश
7. दिल्ली	8. चंडीगढ़

विदेश:

अ. प्रवासी भारतीयों के देश जहाँ हिन्दी मातृभाषा के रूप में बोली जाती है:

1. मॉरीशस	2. फीजी
3. गयाना	4. सूरीनाम
5. त्रिनिदाद	6. दक्षिण अफ्रीका

आ. अन्य देश:

1. अमेरिका	2. कनाडा
3. इंग्लैंड	4. युनाइटेड अरब अमीरात

(6) हिन्दी की उपबोलियाँ:

राजस्थानी हिन्दी	:	मारवाड़ी, जयपुरी, मेवाती, मालवी
पश्चिमी हिन्दी	:	ब्रजभाषा, खड़ी बोली, हरियाणवी, हिन्दी, बुंदेली, कन्नौजी
पूर्वी हन्दी	:	छत्तीसगढ़ी, बघेली, अवधी
बिहारी हिन्दी	:	बिहारी, मैथिली, मगही, भोजपुरी
पहाड़ी हिन्दी	:	गढ़वाली, कुमाउंनी

---

* इंटरनेट

http://sunsite.unc.edu ; http://www.ling.upenn.edu ;
http://india.indiagov.org ; http://www.sil.org/ethnologue/countries/india.htm

चार*

राजभाषा हिन्दी प्रगति की ओर

14.9.1949	संविधान सभा ने हिन्दी को संघ की राजभाषा के रूप में स्वीकार किया।
26.1.1950	संविधान लागू हुआ। तदनुसार उसमें किए गए भाषाई प्रावधान (अनुच्छेद 120, 210 तथा 343 से 351) लागू हुए।
1952	शिक्षा मंत्रालय द्वारा हिन्दी भाषा का प्रशिक्षण ऐच्छिक तौर पर प्रारम्भ किया गया।
27.5.1952	राज्यपालों/उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों तथा उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्तियों में अंग्रेजी भाषा के अतिरिक्त हिन्दी भाषा व भारतीय अंकों के अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप के अतिरिक्त अंकों के देवनागरी स्वरूप का प्रयोग प्राधिकृत किया गया।
जुलाई, 1955	हिन्दी शिक्षण योजना की स्थापना। केन्द्र सरकार के मंत्रालयों, विभागों, संबद्ध व अधीनस्थ कर्मचारियों को सेवाकालीन प्रशिक्षण।
7.6.1955	बी० जी० खेर आयोग का गठन (संविधान के अनुच्छेद 344 (1) के अन्तर्गत)।
अक्तूबर, 1955	गृह मंत्रालय के अन्तर्गत हिन्दी शिक्षण योजना प्रारम्भ की गई।
3.12.1955	संविधान के अनुच्छेद 343(2) के परन्तुक द्वारा दी गई शक्तियों का प्रयोग करते हुए संघ के कुछ कार्यों के लिए अंग्रेजी भाषा के अतिरिक्त हिन्दी भाषा का प्रयोग किए जाने के आदेश जारी किए गए।

31.7.1956	खेर आयोग की रिपोर्ट राष्ट्रपतिजी को प्रस्तुत की गई।
1957	खेर आयोग की रिपोर्ट पर विचार हेतु तत्कालीन गृह मंत्री श्री गोविन्द वल्लभ पंत की अध्यक्षता में संसदीय समिति का गठन।
8.2.1959	संविधान के अनुच्छेद 344 (4) के अन्तर्गत समिति की रिपोर्ट राष्ट्रपतिजी को प्रस्तुत की गई।
सितम्बर, 1959	संसदीय समिति की रिपोर्ट पर संसद में बहस। तत्कालीन प्रधानमंत्री श्री जवाहरलाल नेहरू द्वारा आश्वासन दिया गया कि अंग्रेजी को सह भाषा के रूप में प्रयोग में लाए जाने हेतु कोई व्यावधान उत्पन्न नहीं किया जाएगा और न ही इसके लिए कोई समय सीमा ही निर्धारित की जाएगी। भारत की सभी भाषाएँ समान रूप से आदरणीय हैं और ये हमारी राष्ट्रभाषाएँ हैं।
1960	हिन्दी टंकण, हिन्दी आशुलिपि का अनिवार्य प्रशिक्षण आरम्भ किया गया।
27.4.1960	संसदीय समिति की रिपोर्ट पर राष्ट्रपति के आदेश जारी किए गए जिन हिन्दी शब्दावलियों का निर्माण, संहिताओं व कार्य विधिक साहित्य का हिन्दी अनुवाद, कर्मचारियों को हिन्दी का प्रशिक्षण, हिन्दी प्रचार, विधेयकों की भाषा, उच्चतम न्यायालय व उच्च न्यायालयों की भाषा आदि मुद्दे हैं।
1963	अनुच्छेद 343 (3) के प्रावधान व श्री जवाहरलाल नेहरू के आश्वासन को ध्यान में रखते हुए राजभाषा अधिनियम बनाया गया। इसके अनुसार हिन्दी संघ की राजभाषा व अंग्रेजी सह राजभाषा के रूप में प्रयोग में लाई गई।
5.9.1967	प्रधानमंत्री की अध्यक्षता में केन्द्रीय हिन्दी समिति का गठन किया गया। यह समिति सरकार की राजभाषा नीति के संबंध में महत्त्वपूर्ण दिशा-निर्देश देने वाली सर्वोच्च समिति है। इस समिति में प्रधानमंत्रीजी के अलावा नामित केन्द्रीय मंत्रियों, कुछ राज्यों के

मुख्यमंत्रियों, सांसदों तथा हिन्दी एवं अन्य भारतीय भाषाओं के विद्वान सदस्य के रूप में शामिल किए जाते हैं।

8.1.1968 राजभाषा अधिनियम, 1963 में संशोधन किए गए। तदनुसार धारा 3 (4) में यह प्रावधान किया गया कि हिन्दी में या अंग्रेजी भाषा में प्रवीण संघ सरकार के कर्मचारी प्रभावी रूप से अपना काम कर सकें तथा केवल इस आधार पर कि वे दोनों ही भाषाओं में प्रवीण नहीं हैं, उनका कोई अहित न हो। धारा 3 (5) के अनुसार संघ के राजकीय प्रयोजनों में अंग्रेजी भाषा का प्रयोग समाप्त कर देने के लिए आवश्यक है कि सभी राज्यों के विधान मण्डलों द्वारा (जिनकी राजभाषा हिन्दी नहीं है) ऐसे संकल्प पारित किए जाएँ तथा उन संकल्पों पर विचार करने के पश्चात अंग्रेजी भाषा का प्रयोग समाप्त करने के लिए संसद के हरेक सदन द्वारा संकल्प पारित किया जाए।

18.1.1968 संसद के दोनों सदनों द्वारा राजभाषा संकल्प पारित किया गया जिसमें हिन्दी के राजकीय प्रयोजनों हेतु उत्तरोत्तर प्रयोग के लिए अधिक गहन और व्यापक कार्यक्रम तैयार करने, प्रगति की समीक्षा के लिए वार्षिक मूल्यांकन रिपोर्ट तैयार करने, हिन्दी के साथ-साथ 8वीं अनुसूची के अन्य भाषाओं के समन्वित विकास के लिए कार्यक्रम तैयार करने, त्रिभाषा सूत्र को अपनाए जाने, संघ सेवाओं के लिए भर्ती के समय हिन्दी व अंग्रेजी में से किसी एक के ज्ञान की आवश्यकता अपेक्षित होने तथा संघ लोक सेवा आयोग द्वारा उचित समय पर परीक्षा के लिए संविधान की 8वीं अनुसूची में सम्मिलित सभी भाषाओं तथा अंग्रेजी को वैकल्पिक माध्यम के रूप में रखने की बात कही गई है।

1968 राजभाषा संकल्प 1968 में किए गए प्रावधान के अनुसार वर्ष 1968-69 से राजभाषा हिन्दी में कार्य करने के लिए विभिन्न मदों के लक्ष्य निर्धारित किए गए तथा इसके लिए वार्षिक कार्यक्रम तैयार किया गया।

1.3.1971	केन्द्रीय अनुवाद ब्यूरो का गठन।
1973	केन्द्रीय अनुवाद ब्यूरो के दिल्ली स्थित मुख्यालय में एक प्रशिक्षण केन्द्र स्थापना।
1974	तीसरी श्रेणी के नीचे के कर्मचारियों, औद्योगिक प्रतिष्ठानों के कर्मचारियों तथा कार्य प्रभारित कर्मचारियों को छोड़कर केन्द्र सरकार के कर्मचारियों के साथ-साथ केन्द्र सरकार के स्वामित्व एवं नियंत्रणाधीन निगमों, उपक्रमों, बैंकों आदि के कर्मचारियों व अधिकारियों के लिए हिन्दी भाषा, टंकण एवं आशुलिपि का अनिवार्य प्रशिक्षण।
जून, 1975	राजभाषा से संबंधित संवैधानिक, विधिक उपबंधों के कार्यान्वयन हेतु राजभाषा विभाग का गठन किया गया।
1976	राजभाषा नियम बनाए गए।
1976	संसदीय राजभाषा समिति का गठन। तब से अब तक समिति ने अपनी रिपोर्ट के छह खंड प्रस्तुत किए हैं जिनमें से प्रथम पाँच पर राष्ट्रपति के आदेश जारी हो गए हैं। छठा खंड मुद्रणाधीन है।
1977	श्री अटल बिहारी वाजपेयी, तत्कालीन विदेश मंत्री ने पहली बार संयुक्त राष्ट्र की जनरल असेम्बली को हिन्दी में संबोधित किया।
25.10.1983	केन्द्रीय सरकार के मंत्रालयों, विभागों, सरकारी उपक्रमों, राष्ट्रीयकृत बैंकों में यांत्रिक और इलेक्ट्रानिक उपकरणों द्वारा हिन्दी में कार्य को बढ़ावा देने तथा उपलब्ध द्विभाषी उपकरणों के प्रचार-प्रसार के उद्देश्य से राजभाषा विभाग में तकनीकी कक्ष की स्थापना की गई।
21.8.1985	केन्द्रीय हिन्दी प्रशिक्षण संस्थान का गठन केन्द्रीय सरकार में नए भर्ती होने वाले कर्मचारियों/अधिकारियों को हिन्दी भाषा, हिन्दी टंकण और हिन्दी आशुलिपि के पूर्णकालिक गहन प्रशिक्षण सुविधा उपलब्ध कराने के लिए किया गया।

1986	कोठारी शिक्षा आयोग की रिपोर्ट। 1968 में पहले ही यह सिफारिश की जा चुकी थी कि भारत में शिक्षा का माध्यम भारतीय भाषाएँ होनी चाहिएं। उच्च शिक्षा के माध्यम के संबंध में नई शिक्षा नीति (1986) के कार्यान्वयन - कार्यक्रम में कहा गया – "स्कूल स्तर पर आधुनिक भारतीय भाषाएँ पहले ही शिक्षण माध्यम के रूप में प्रयुक्त हो रही हैं। आवश्यकता इस बात की है कि विश्वविद्यालय के स्तर पर भी इन्हें उत्तरोत्तर माध्यम के रूप में अपना लिया जाए। इसके लिए अपेक्षा यह है कि राज्य सरकारें, विश्वविद्यालय अनुदान आयोग से परामर्श करके, सभी विषयों में और सभी स्तरों पर शिक्षण माध्यम के रूप में उत्तरोत्तर आधुनिक भारतीय भाषाओं को अपनाएँ।"
1986-87	इंदिरा गांधी राजभाषा पुरस्कार प्रारम्भ किए गए।
9.10.1987	राजभाषा नियम, 1976 में संशोधन किए गए।
1988	विदेश मंत्री के रूप में संयुक्त राष्ट्र की जनरल असेम्बली में तत्कालीन विदेश मंत्री श्री नरसिंह रावजी हिन्दी में बोले।
14.9.1999	राजभाषा हिन्दी स्वर्ण जयंती वर्ष का उद्घाटन।

* सौजन्य : राजभाषा विभाग, गृहमंत्रालय, भारत सरकार

पाँच*

MEMBER OF PARLIAMENT
(RAJYA SABHA)

Dear Prime Minister,

SUB: Regarding media of Indian Languages in UPSC Examinations

As you know that both the Houses of Parliament unanimously passed a resolution, which was published in the Gazette on 10th January, 1968. According to Para 4(b) of that resolution all the languages included in Eighth Schedule to the Constitution, in addition to English, should be permitted as alternative media for the All India and Higher Central Services Examinations.

But the Union Public Service Commission is conducting nine examinations out of ten only in English medium. The Civil Services Examination is being conducted since 1979 in all fifteen languages in addition to English but in this examination too, there is one compulsory paper of English language. Thus it is clear from the language policy of the Commission that All India and Higher Central Services are reserved only for the 3% English-speaking candidates and rest 90% candidates are debarred from these services.

In this connection, more than 350 Members of Parliament had given a memorandum with their signatures during the dharna held in front of Union Public Service Commission Building held by "Akhil Bharatiya Bhasha Samrakshan Sangathan" to the former Prime Minister, last year.

After one year long dharna and a month long fast unto death observed by members of the Akhil Bharatiya Bhasha Samrakshan Sangathan, the Government had appointed an expert committee, under the Chairmanship of Ex-Chairman of University Grants Commission, Mr. Satish Chandra to make recommendations for implementing the said resolution. Satish Chandra Committee had submitted its report to the Union Public Service Commission on May 15, 1990.

So, the Members of both Houses of Parliament support the demand of the Sangathan and request that the report of the Satish Chandra Committee be presented in Parliament in the current session and implement it at the earliest.

Thanking you,

Yours sincerely,

Shri Vishwanath Pratap Singh,
Prime Minister of India,
NEW DELHI.

Private Secretary to the
FORMER PRESIDENT OF INDIA
GIANI ZAIL SINGH

TEL. : 3016045
6, CIRCULAR ROAD
CHANAKYA PURI
NEW DELHI-110021

3rd December, 1990

Respected Sir,

Members of Akhil Bharatiya Bhasha Sanrakshan Sangathan, A-3/283, Paschim Vihar, New Delhi met the former President of India Giani Zail Singh and submitted a representation addressed to the Hon'ble Prime Minister of India regarding inclusion of all the languages in All India Services examinations conducted by the Union Public Service Commission. The members are also staging Dharna at the entrance of UPSC for some months now. The former President has desired that the enclosed representation may kindly be looked into for appropriate action.

With kind regards,

Yours sincerly,

Sd/-

(Kulwant Singh)
Private Secretary to the former
President of India.

The Petitioner Officer
in the Office of the
Prime Minister,
South Block,
New Delhi.

Copy to the Secretary, Akhil Bharatiya Bhasha Sanrakshan Sangathan, A-3/283, Paschim Vihar New Delhi-110 063.

Private Secretary to the

---

* सौजन्य : डा. बलदेव वंशी